प्रश्न और उत्तर

प्रश्न और उत्तर

श्रीमातृवाणी

प्रश्न और उत्तर

श्रीअरविंद सोसायटी
पांडिचेरी

प्रथम संस्करण १९७८
मूल अंग्रेजी भाषामें 'क्वेश्चंस एंड आन्सर्स' के नाममे १९७७ में प्रकाशित
स्वत्वाधिकार श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्ट १९७७
हिन्दी अनुवाद © श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्ट १९७८
सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य ३०.००

खंड ३

श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्टकी ओरसे
श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी द्वारा प्रकाशित
श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी द्वारा भारतमें मुद्रित
वितरक :
शब्द : श्रीअरविंद बुक्स डिस्ट्रिब्यूशन एजेंसी, पांडिचेरी-६०५००२

प्रकाशकका वक्तव्य

प्रश्न और उत्तर १९२९

सन् १९२९ में, हर रविवारको, माताजी किसी-न-किसी साधकके मकान-पर कुछ साधकोंसे मिलती थीं। थोड़ी देर ध्यान करनेके बाद माताजी शिष्योंके हर प्रश्नका उत्तर देती थीं। ये उत्तर अंगरेजीमें दिये जाते थे। इन १५ साप्ताहिक वार्तालापोंके कुछ अंशोंको उनमें भाग लेनेवाले एक व्यक्तिने लघु-लेखन द्वारा नोट कर लिया था; फिर उस लेखको उन वार्ता-लापोंमें भाग लेनेवाले एक दूसरे व्यक्तिने संवर्द्धित कर दिया तथा अंतमें प्रकाशनके लिये श्रीअरविन्दने संशोधित कर दिया।

ये वार्तालाप, सबसे पहले, अंगरेजीमें सन् १९३१ के अंतमें, व्यक्तिगत रूपसे वितरित करनेके लिये, 'कन्वर्सेशन्स ऑफ द मदर' के नामसे प्रकाशित हुए। फिर सन् १९४० में सर्वजनसुलभ बनानेकी दृष्टिसे इन्हें 'वर्ड्स ऑफ द मदर' पुस्तकके प्रमुख अंगके रूपमें प्रकाशित किया गया। इस पुस्तकका पुनर्मुद्रण १९४३, ४६ और ४९ में हुआ। सन् १९५६ में माताजीने इसमें एक छोटी-सी प्रस्तावना जोड़ दी और यह 'कन्वर्सेशन्स' के नामसे प्रकाशित हुई। इस पुस्तकका पुनर्मुद्रण सन् १९६१, ६६, ७१ और ७३ में हुआ। सन् १९७७ में प्रकाशित मूल अंग्रेजी ग्रंथमें इन वार्तालापोंको 'क्वेश्चन्स एण्ड आन्सर्स १९२९' नाम दिया गया है।

हिन्दीमें इन वार्तालापोंका सबसे पहला अनुवाद सन् १९४३ में 'श्रीमातृवाणी' के नामसे प्रकाशित हुआ था और फिर इसका पुनर्मुद्रण सन् १९६० में हुआ। अब 'श्रीमातृवाणी' के इस खंडमें यह 'प्रश्न और उत्तर १९२९' के शीर्षकसे छप रहा है।

प्रश्न और उत्तर १९३०-३१

सन् १९३० और ३१ में माताजी कुछ शिष्योंके साथ आश्रमके उस कमरे-में बातचीत करती थीं जिसे 'प्रॉस्पेरिटी' के नामसे पुकारा जाता है। कुछ वार्तालापोंको, जो अंगरेजीमें दिये गये थे, संक्षेपमें लिख लिया गया था और पीछे उन्हें सुधारकर एक नया रूप दे दिया गया था।

इनमेंसे कई वार्तालाप माताजीकी अनुमति लेकर, सबसे पहले 'मदर इण्डिया' मासिक पत्रिकाके कुछ अंकोंमें तथा सन् १९४९ की 'श्रीअरविन्द सर्कल' वार्षिक पत्रिकामें प्रकाशित हुए। फिर इनका एक बृहत् संग्रह 'वर्ड्स

ऑफ द मदर : थर्ड सिरीज' के नामसे सन् १९५१ और १९६६ में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। मूल अंग्रेजी ग्रंथमें ये वार्तालाप 'क्वेश्चन्स एण्ड आन्सर्स १९३०-३१' के शीर्षकसे सन् १९७७ में छपे थे और इनमें एक नया वार्तालाप 'डिफिकल्टीज़ इन योग' जोड़ दिया गया है।

हिन्दीमें इन वार्तालापोंमेंसे कुछ एक 'अदिति' और 'अर्चना' पत्रिकाओंमें यत्र-तत्र प्रकाशित हुए थे। पर पूरे पुस्तक-रूपमें पहली बार 'श्रीमातृवाणी'के इस खंडमें 'प्रश्न और उत्तर १९३०-३१' के शीर्षकसे छप रहे हैं।

धम्मपदं

अगस्त १९५७ से सितंबर १९५८ तक माताजीने आश्रम स्कूलके बच्चों-की साप्ताहिक श्रेणीमें बौद्ध शिक्षाकी पुस्तक 'धम्मपद' का पाठ किया और उसकी टीका की। माताजीने मूल पालीके एक फ्रेंच अनुवादको पढ़कर अपनी टिप्पणी दी। फ्रेंच भाषामें दी गयी उनकी व्याख्या उस समय टेप-रिकार्ड कर ली गयी थी।

मूल पाठ माताजीकी टिप्पणियोंके साथ फ्रेंचमें, १९६० में, 'कोमांतैर स्यूर ल धम्मपद' के नामसे छपा था। इसका दूसरा संस्करण सन् १९७४ में प्रकाशित हुआ। इसका अंग्रेजी अनुवाद त्रैमासिक पत्रिका 'एडवेंट' में नवम्बर १९६० से फरवरी १९६५ तक लेखमालाके रूपमें आता रहा।

इस संस्करणमें 'धम्मपद' का मूल पाठ और उसका हिन्दी अनुवाद महा-पंडित राहुल सांस्कृत्यायनके 'धम्मपद'के आधारपर दिया गया है।

हिन्दीमें इस पुस्तकका कुछ अंश पालीके मूल पाठके साथ 'अदिति' पत्रिका में सन् १९६३-६४ में छपा था। उस अनुवादको सुधार कर तथा बाकी अंशका अनुवाद पूरा करके 'श्रीमातृवाणी'के इस खंडमें यह पहली बार पुस्तकाकार छप रहा है।

'प्रश्न और उत्तर १९२९'का परिशिष्ट

इस परिशिष्टमें 'प्रश्न और उत्तर १९२९' के कुछ वाक्यों तथा उद्धरणोंकी श्रीअरविन्दकी व्याख्या दी गयी है। ये व्याख्याएं १९३३ और १९३७ के बीच विभिन्न शिष्योंको लिखी गयी थीं; इनमेंसे अधिकांश एक विशिष्ट शिष्यको जनवरी १९३७ में लिखी गयी थीं। यह संग्रह अंगरेजीमें सबसे पहले १९७२ में 'श्रीअरविन्द बर्थ सेण्टीनरी लाइब्रेरी' के खंड २५ में छापा गया था।

आर्षवाणीका अनुवाद करना एक असंभव कार्य है। मूल भाषा न जानने वालोंके लिये 'श्रीमातृवाणी'का अनुवाद 'श्रीअरविन्द अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा केंद्र' का हिन्दी विभाग कर रहा है।

श्रीमाताजी

जन्म

२१ फरवरी, १८७८

भारतमें आगमन

२९ मार्च, १९१४

महासमाधि

१७ नवम्बर, १९७३

शताब्दी

२१ फरवरी, १९७८

७ अप्रैल, १९२९

क्या आप योगके विषयमें कुछ कहनेकी कृपा करेंगी ?

तुम योग-साधना किसलिये करना चाहते हो ? शक्ति प्राप्त करनेके लिये ? शांति और स्थिरताकी प्राप्तिके लिये ? मानवजातिकी सेवाके लिये ?

इनमेंसे कोई भी उद्देश्य यह बतानेके लिये काफी नहीं है कि तुम इस योग-मार्गके लिये हो।

तुम्हें जिस प्रश्नका उत्तर देना है वह यह है : क्या तुम भगवान्‌के लिये योग-साधना करना चाहते हो ? क्या भगवान् ही तुम्हारे जीवनके परम सत्य हैं, यहांतक कि तुम उनके बिना रह ही नहीं सकते ? क्या तुम यह अनुभव करते हो कि तुम्हारे जीवनका एकमात्र उद्देश्य भगवान् ही हैं और उनके बिना तुम्हारे जीवनका कोई अर्थ नहीं है ? यदि ऐसा हो तभी कहा जा सकता है कि तुम्हारे अंदर इस योग-मार्गके लिये पुकार है।

सबसे पहली आवश्यक चीज है भगवान्‌के लिये अभीप्सा।

और दूसरी बात है इस अभीप्साको सतत बनाये रखना, उसे सदा जीवंत, ज्वलंत और जाग्रत् रखना। और इसके लिये जिस बातकी आवश्यकता है वह है एकाग्रता — भगवान्‌पर एकाग्रता जो उनके संकल्प और अभिप्रायके प्रति पूर्ण और निरपेक्ष आत्म-समर्पणके भावसे की गयी हो।

हृदय-केंद्रमें अपने-आपको एकाग्र करो। हृदयमें प्रवेश करो, उसके अंदर जाओ, उसकी गहराईमें उतरो और दूरतक, जितनी दूरतक तुम जा सको जाओ। अपनी चेतनाके बाहर बिखरे हुए तारोंको एकत्र कर लो, उन्हें समेटकर अंदर डुबकी लगाओ और तहमें जाकर बैठ जाओ।

वहां, हृदयकी गभीर शांतिमें एक अग्नि जल रही है। यही है तुम्हारे अंतरमें रहनेवाले भगवान्‌का दिव्य अंश — तुम्हारी सत्य सत्ता (हृत्पुरुष)। इसकी आवाज सुनो और इसके आदेशका पालन करो।

एकाग्रताके लिये दूसरे केंद्र भी हैं, उदाहरणस्वरूप, एक केंद्र मस्तिष्कके ऊपर है (सहस्रार), दूसरा भ्रू-मध्यमें है (आज्ञा)। इनमेंसे हर एकका अपना प्रभाव है और हर एक किसी परिणामपर पहुंचाता है। परंतु केंद्रीय पुरुषका स्थान हृदय है और हृदयसे ही सब केन्द्रीय प्रवृत्तियां निकलती हैं — यहींसे रूपांतरके लिये समस्त गतिशीलता और वेग और आत्मदर्शन करनेकी शक्ति निकलती है।

जो अपने-आपको योगके लिये तैयार करना चाहता हो उसे क्या करना चाहिये ?

सबसे पहले उसे सचेतन होना चाहिये। हम अपनी सत्ताके एक नगण्यसे भागमें सचेतन हैं, इसके अधिकांश भागमें हम अचेतन हैं। यह अचेतनता ही हमें अपनी प्रकृतिके अपरिमार्जित भागके साथ नीचेकी ओर बांधे रहती है और उसके परिवर्तन या रूपांतरको रोकती है। अचेतनाद्वारा ही अदिव्य शक्तियां हमारे अंदर घुस आती हैं और हमें अपना गुलाम बना लेती हैं। तुम्हें अपने बारेमें सचेतन होना चाहिये, अपनी प्रकृति और प्रवृत्तियोंके प्रति तुम्हें जाग्रत् होना चाहिये, तुम्हें यह जानना चाहिये कि तुम किसी चीजको क्यों और कैसे करते हो, कैसे सोचते या अनुभव करते हो। तुम्हें अपने प्रेरकभावों, आवेशों और अपनी गुप्त या प्रकट शक्तियोंको, जिनकी प्रेरणासे तुम काम करते हो, समझना चाहिये। या यूं कहें कि तुम्हें अपनी सत्ताकी मशीनके सभी कल-पुरजोंको अलग-अलग करके जान लेना चाहिये। एक बार तुम सचेतन हो जाओ तो तुम खरे और खोटेकी परख और छान-बीन कर सकोगे, तुम देख सकोगे कि कौन-सी शक्तियां तुम्हें नीचेकी ओर खींचती हैं और कौन-सी ऊपर उठनेमें सहायता देती हैं। और जब तुम उचितको अनुचितसे, सत्यको असत्यसे, दिव्यको अदिव्यसे अलग करके जान सको तो तुम्हें सख्तीसे अपने इस ज्ञानके अनुसार चलना चाहिये, अर्थात्, दृढ़तापूर्वक एकको त्यागकर दूसरेको स्वीकार करना चाहिये। पग-पगपर ये द्वन्द्व तुम्हारे सामने उपस्थित होंगे और पग-पगपर तुम्हें चुनाव करना होगा। तुम्हें धैर्य रखना होगा, लगन लगाये रहना होगा और चौकन्ना रहना होगा — योगियोंकी भाषामें "निद्रा-रहित"; जो कुछ भी दिव्य हो उसे स्वीकार करना और जो कुछ अदिव्य हो उसे किसी भी प्रकारका मौका देनेसे इंकार करना होगा।

क्या यह योग मनुष्यजातिके लिये है ?

नहीं, यह भगवान्के लिये है। हमारी साधनाका ध्येय मनुष्यजातिका कल्याण नहीं है, हमारी साधनाका हेतु है भगवान्की अभिव्यक्ति। हम भगवान्के संकल्पको कार्यमें परिणत करनेके लिये यहां हैं, बल्कि यह कहना अधिक सत्य होगा कि हम यहां इसलिये हैं कि भगवान्का संकल्प हमारे ऊपर कार्य कर सके, ताकि हम पुरुषोत्तमको उत्तरोत्तर मूर्तिमान करने और पृथ्वीपर उनके राज्यकी स्थापना करनेके लिये उनके यंत्र बन सकें।

मानवजातिका जो भाग इस भागवत पुकारका प्रत्युत्तर देगा केवल वही उनके प्रसादको प्राप्त करेगा।

प्रत्यक्ष रूपसे यदि न भी हो तो अप्रत्यक्ष रूपसे ही सही, इस योगद्वारा सामूहिक रूपमें मानवजातिको लाभ होगा या नहीं, यह बात मानवजातिकी अपनी अवस्थापर निर्भर करेगी। इस विषयका निर्णय यदि मानवजातिकी वर्तमान अवस्थाओंसे किया जाय तो बहुत अधिक आशा नहीं दिखायी देती। आज एक औसत मनुष्यका — मनुष्यजातिके प्रतिनिधिका — क्या भाव है? क्या वह विशुद्ध रूपसे भगवान्‌का अंश धारण करनेवाली किसी भी वस्तुके संपर्कमें आते ही क्रोधसे कांप नहीं उठता या विद्रोह नहीं करता? क्या वह यह नहीं अनुभव करता कि भगवान्‌का अर्थ ही है उसकी पाली-पोसी हुई संपत्तिका नाश! क्या वह भगवान्‌की इच्छा और संकल्पसे साफ-साफ इंकार करके उसके विरुद्ध लगातार चिल्ल-पों नहीं करता? भगवान्‌के आविर्भावसे कुछ भी लाभ उठानेकी आशा करनेसे पहले मानवजातिको बहुत बदलना होगा।

हम सब लोग यहां एक साथ मिले हैं इसका क्या अर्थ है?

हम सब पूर्वजन्मोंमें मिल चुके हैं, नहीं तो इस जन्ममें एक साथ न होते।

हम सब एक ही परिवारके हैं और हमने भगवान्‌की विजय तथा पृथ्वीपर उनकी अभिव्यक्तिके लिये युग-युगमें काम किया है।

१४ अप्रैल, १९२९

योग-मार्गमें क्या-क्या खतरे हैं? क्या योग पाश्चात्य लोगोंके लिये विशेष रूपसे खतरनाक है? किसीने कहा है कि पूर्वके लोगोंके लिये योग करना अनुकूल हो सकता है किन्तु पाश्चात्य लोगोंपर इसका असर उनके मानसिक संतुलनको बिगाड़ देता है।

पूर्वीय लोगोंकी अपेक्षा पाश्चात्य लोगोंके लिये योग अधिक खतरनाक नहीं है। सब कुछ इस बातपर निर्भर है कि तुम इसमें किस भावसे आते हो। योग खतरनाक अवश्य हो जाता है यदि वह अपने लिये या

स्वार्थसिद्धिके लिये किया जाय। और इसके विपरीत, यदि तुम उसकी पवित्रताकी भावनाको लिये हुए और यह याद रखते हुए कि तुम्हारा लक्ष्य भगवान्‌को पाना है, योग करो तो फिर योगसे किसी प्रकारका भय नहीं रहता, बल्कि वह साक्षात् क्षेम और सुरक्षा बन जाता है।

कठिनाइयां और खतरे तो तब उपस्थित होते हैं जब लोग भगवान्‌के लिये योग-साधना नहीं करते, बल्कि किसी शक्तिकी प्राप्तिके लिये या योग-की आड़में किसी महत्त्वाकांक्षाकी पूर्तिके लिये योग करते हैं। यदि तुम महत्त्वाकांक्षाओंसे छुटकारा नहीं पा सकते तो इसका स्पर्श मत करो, यह आग है जो जला देती है।

योग-साधनाके दो मार्ग हैं, एक है तपस्याका और दूसरा है समर्पणका। तपस्याका मार्ग कठोर है, इस मार्गमें तुम सर्वथा अपने ऊपर ही निर्भर रहते हो, अपने निजी सामर्थ्यसे ही आगे बढ़ते हो। तुम अपनी शक्तिके परिणाममें ही ऊंचे उठते हो और उसीके अनुसार फल पाते हो। इस मार्गमें नीचे गिरनेका भय हमेशा लगा रहता है। और एक बार गिरे तो तुम गहरी खाईमें जाकर चूर-चूर हो जाओगे और इसका इलाज शायद ही हो सके। परंतु दूसरा मार्ग, समर्पणका मार्ग निरापद और निश्चित है। परंतु पश्चिमवालोंको इसमें कठिनाई होती है। उन्हें यह शिक्षा मिली है कि वे उन सभी चीजोंसे डरें और बचें जो उनकी व्यक्तिगत स्वा-धीनतापर हाथ बढ़ायें। वे व्यक्तित्वकी भावनाको अपनी माताके दूधके साथ-साथ पीते हैं। और समर्पणका अर्थ है इस सबका त्याग। दूसरे शब्दोंमें, जैसा श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, तुम बंदरके बच्चे और बिल्लीके बच्चे, इन दोमेंसे किसी एकके मार्गका अनुसरण कर सकते हो। बंदरके बच्चेको इधर-उधर ले जाये जानेके लिये अपनी मांकी छातीसे चिपक जाना पड़ता है, उसे अपनी मांको कसकर पकड़े रहना पड़ता है और यदि कहीं उसकी मुट्ठी ढीली हो जाय तो वह गिर जाता है। दूसरी ओर, बिल्ली-का बच्चा अपनी मांको नहीं पकड़ता, बल्कि मां ही उसे पकड़े रखती है, इसलिये उसे न कोई भय होता है न उत्तरदायित्व; उसे तो केवल इतना ही करना पड़ता है कि अपनी माताकी पकड़में आ जाय और "मां-मां" करता रहे।

इस समर्पण-मार्गको यदि तुम पूर्ण रूपसे और सच्चाईके साथ अपना लो तो कोई गंभीर कठिनाई या कोई भय नहीं रहता। प्रश्न केवल सच्चाईका है। यदि तुम सच्चे नहीं हो तो योग-साधना आरंभ मत करो। मानवी विषयोंमें धोखा-धड़ी चल सकती थी, किंतु भगवान्‌के साथ व्यवहार करनेमें धोखेके लिये कोई स्थान नहीं है। तुम इस मार्गपर तभी निरा-

पद होकर यात्रा कर सकते हो जब तुम ऋजु, निष्कपट तथा पूरी तरह खुले हुए हो, जब तुम्हारा एकमात्र ध्येय भगवान्का साक्षात्कार करना, उन्हें पाना और उनके द्वारा परिचालित होना हो।

एक और खतरा है; और वह है कामवासनाके संबंधमें। योग पवित्र करनेकी प्रक्रियामें उन सभी वासनाओं और इच्छाओंको जो तुममें छिपी पड़ी हैं, उघाड़ देगा और उनको ऊपरी तलपर उठा लायेगा। और तुम्हें यह सीखना होगा कि न तो इन चीजोंको छिपाया जाय और न इनकी अवहेलना की जाय। तुम्हें इन सब चीजोंका मुकाबला करना होगा, इन-पर विजय प्राप्त करनी होगी और इन्हें एक नये सांचेमें ढालना होगा। अस्तु, योगका पहला प्रभाव होता है मानसिक संयमको हटा देना, इससे साधककी वे अतृप्त वासनाएं; जो उसके अंदर सोयी पड़ी रहती हैं; हठात् मुक्त होकर ऊपर उमड़ आती हैं और उसपर आक्रमण करती हैं। जब-तक इस मानसिक संयमका स्थान भागवत संयम नहीं ले लेता तबतक संक्रमणकाल रहता है और इस कालमें तुम्हारी सच्चाई और समर्पण कसौटी-पर कसे जाते हैं। काम-वासना और इस प्रकारके दूसरे आवेशोंको बल मिलनेका प्राय: यह कारण होता है कि लोग इनपर बहुत अधिक ध्यान देते हैं, बहुत तीव्रताके साथ इनका विरोध करते हैं और निग्रहद्वारा इन्हें रोके रखना, अपने अंदर ही किसी तरह दबाये रखना चाहते हैं। परंतु तुम किसी चीजके बारेमें जितना अधिक सोचते हो और कहते हो : "मैं उसे नहीं चाहता, मैं उसे नहीं चाहता," उतना ही अधिक उससे बंधते जाते हो। तुम्हें करना यह चाहिये कि उस चीजको अपनेसे दूर रखो, उससे संबंध तोड़ लो, उसपर कम-से-कम ध्यान दो और इसपर भी यदि वह कभी तुम्हारे चिंतनमें आये तो उससे उदासीन और निर्लिप्त रहो।

योगका दबाव पड़नेके कारण जो इच्छाएं और वासनाएं ऊपर उमड़ आती हैं उनका अनासक्त रहकर, शांतिके साथ मुकाबला करना चाहिये, यह समझना चाहिये कि ये विजातीय वस्तुएं हैं अथवा बाह्य जगत्की चीजें हैं जिनसे तुम्हारा कोई संबंध नहीं है। उन्हें भगवान्को सौंप देना चाहिये ताकि भगवान् उनको अपने हाथमें ले लें और उनका रूपांतर कर दें।

एक बार यदि तुम अपने-आपको भगवान्की ओर खोल चुके हो, यदि भगवान्की शक्ति एक बार तुममें उतर चुकी है और फिर भी तुम पुरानी शक्तियोंके साथ संबंध बनाये रखना चाहते हो तो तुम अपने लिये कष्ट, कठिनाई और खतरे मोल ले रहे हो। तुम्हें सावधान रहना चाहिये और इसका ख्याल रखना चाहिये कि कहीं तुम भगवान्की आड़में अपनी इच्छाओं-

को तो संतुष्ट नहीं कर रहे। ऐसे बहुत-से स्वयं-नियुक्त गुरु हैं जो इसके सिवाय कुछ नहीं करते। यदि तुम सीधे मार्गसे भटक जाओ, तुममें थोड़ा-सा ज्ञान तो हो, किंतु काफी शक्ति न हो, तो एक विशेष प्रकारके सत्त्व या सत्ताएं तुमपर अधिकार जमा लेती हैं, तुम्हें अपना खिलौना बना लेती हैं और अंतमें तुम्हें निगल जाती हैं। जहां कहीं कपट है वहीं खतरा है। तुम भगवान्‌को धोखा नहीं दे सकते। क्या तुम भगवान्‌के पास यह कहते हुए आते हो: "मैं आपके साथ एक हो जाना चाहता हूं" और तुम्हारे मनमें होता है: "मैं शक्ति और भोग चाहता हूं"? सावधान! यदि ऐसा है तो तुम सीधे कगारके किनारेकी ओर बढ़े जा रहे हो। फिर भी सत्यानाशसे बचना बहुत सहज है। एक बालककी तरह हो जाओ, अपने-आपको भगवती माताके अर्पण कर दो, उनकी गोदमें रहो, फिर तुम्हारे लिये कोई खतरा नहीं रह जायगा।

इसका यह अर्थ नहीं कि तुम्हें अन्य कठिनाइयोंका सामना करना ही नहीं पड़ेगा अथवा तुम्हें किन्हीं विघ्न बाधाओंसे युद्ध करना और उनपर विजय प्राप्त करना ही नहीं होगा। समर्पणका अर्थ यह नहीं कि साधनामें सतत, बाधारहित और सरल प्रगतिके लिये कोई परवाना मिल गया। इसका कारण यह है कि अभीतक न तो तुम्हारी सत्ता एक हुई है न तुम्हारा समर्पण ही अनन्य और पूर्ण हो पाया है। तुम्हारा एक भाग ही समर्पण करता है; आज एक भाग तो कल दूसरा। योग-साधनाका सारा प्रयोजन ही यह है कि सत्ताके सभी बिखरे हुए भागोंको इकट्ठा करके अविभाजित एकतामें गढ़ा जाय। जबतक यह नहीं हो जाता तबतक कठिनाइयोंसे — उदाहरणके लिये संदेह, उदासी या दुविधा जैसी कठिनाइयोंसे तुम्हारा पिंड नहीं छूट सकता। सारा जगत् विषसे भरा हुआ है और तुम हर सांसके साथ उसे अंदर ले रहे हो। यदि तुम किसी अवांछनीय मनुष्यके साथ थोड़ी-सी बातचीत करो अथवा इस प्रकारका मनुष्य तुम्हारे पाससे होकर निकल जाय तो इतनेसे ही संभव है कि तुम उसके संक्रामक रोगको ग्रहण कर लो। महामारीके पाससे गुजरना ही उसके जहरकी छूतको लगा लेनेके लिये पर्याप्त है; इस जहरकी उपस्थितिका तुम्हें पता हो यह जरूरी नहीं होता। तुम्हारी बहुत दिनोंकी कमाई कुछ क्षणोंमें नष्ट हो सकती है। जबतक तुम मानवताके घेरेमें हो और साधारण जीवन व्यतीत करते हो तबतक यदि तुम संसारी मनुष्योंसे हिलो-मिलो तो इसमें कोई खास चिंताकी बात नहीं; किंतु यदि तुम दिव्य जीवनकी कामना रखते हो तो तुम्हें अपने संगी-साथी और अपनी परिस्थितिके बारेमें बहुत सावधान रहना पड़ेगा।

अपनी सत्तामें एकता और एकरूपता स्थापित करनेके उपाय क्या हैं ?

अपने संकल्पको दृढ़ रखो। अपने उद्धत भागोंके साथ ऐसा व्यवहार करो जैसा कहना न माननेवाले बालकोंके साथ किया जाता है। उनपर लगातार और ध्यानपूर्वक क्रिया करते रहो, उन्हें अपनी भूल अवगत करा दो। तुम्हारी चेतनाकी गहराईमें तुम्हारे अंदर रहनेवाले भगवान्का मंदिर, तुम्हारा चैत्य पुरुष है। यही वह केंद्र है जिसके चारों ओर तुम्हारी सत्ताके इन सब विभिन्न भागोंको, इन सब परस्पर-विरोधी गतियोंको जाकर एक हो जाना चाहिये। तुम एक बार चैत्य पुरुषकी चेतनाको और उसकी अभीप्साको पा लो तो इन संदेहों और कठिनाइयोंको नष्ट किया जा सकता है। इस काममें कम या अधिक समय तो लगेगा, परंतु अंतमें तुम अवश्य सफल होगे। तुमने एक बार भगवान्की ओर मुड़कर कहा है : "मैं आपका होना चाहता हूं," और भगवान्ने "हां" कह दिया है तो समस्त जगत् तुमको उनसे अलग नहीं रख सकता। जब केंद्रीय सत्ताने समर्पण कर दिया है तो कठिनाई दूर हो गयी। बाह्य सत्ता तो एक जमी हुई पपड़ीकी तरह है। साधारण लोगोंमें यह पपड़ी इतनी कठोर और मोटी होती है कि इसके कारण वे अपने अंदरके भगवान्से सचेतन नहीं हो पाते। परंतु यदि आंतरपुरुषने एक बार, क्षण-भरके लिये ही सही, यह कह दिया है : "मैं यहां हूं और मैं तुम्हारा हूं," तो मानों एक पुल बंध जाता है और यह बाहरी पपड़ी धीरे-धीरे पतली-से-पतली पड़ती जाती है और एक दिन आयेगा जब दोनों भाग पूर्ण रूपसे जुड़ जायंगे और आंतर तथा बाह्य दोनों एक हो जायंगे।

महत्त्वाकांक्षाके कारण अनेक योगियोंका विनाश हुआ है। यह नासूर बहुत दिनोंतक छिपा रह सकता है। इसका जरा भी भान न रखते हुए अनेक मनुष्य योग करना आरंभ कर देते हैं। परंतु जब उन्हें शक्ति प्राप्त होती है, तब उनकी महत्त्वाकांक्षा भड़क उठती है, यह भड़क और भी जोरदार होती है क्योंकि आरंभमें ही इसे निकाल फेंका नहीं गया।

एक योगीके बारेमें, जिसने अद्‌भुत शक्ति प्राप्त की थी, एक कहानी है। एक बार उसके शिष्योंने उसे एक बहुत बड़े भोजमें निमंत्रित किया। भोजन एक बड़ी और नीची मेजपर परोसा गया। अब उन शिष्योंने अपने गुरुसे कहा : "आप अपनी शक्तिको किसी रूपमें दिखाइये।" वह जानता था कि यह नहीं करना चाहिये, किंतु महत्त्वाकांक्षाका बीज उसमें मौजूद था और उसने सोचा : "आखिर, यह बहुत निर्दोष-सी चीज है और उससे

इन लोगोंको यह विश्वास हो जायगा कि ऐसी चीजें संभव हैं और उन्हें ईश्वरकी महानताकी शिक्षा मिलेगी।" इस प्रकार विचार करके उसने कहा : "मेजको हटा लो, केवल मेज ही को, उसपर बिछी हुई चादर और समस्त थालियां ज्यों-की-त्यों पड़ी रहने दो।" यह सुनकर उसके शिष्य चिल्ला उठे : "ओह! यह नहीं किया जा सकता। सब कुछ गिर जायगा।" परंतु उसने आग्रह किया और शिष्योंने चादरके नीचेसे मेज हटा ली। अब चमत्कार देखो, चादर और उसके ऊपरका सारा सामान ठीक उसी तरह पड़ा रहा, मानों मेज नीचे हो, परंतु हठात् गुरु वहांसे कूदकर चीखते-चिल्लाते हुए भागे, उन्होंने कहा : "अब कभी शिष्य नहीं बनाऊंगा, कभी नहीं! मुझपर वज्र गिरे! मैंने अपने भगवान्‌के साथ द्रोह किया है।" उसके हृदयमें आग जल रही थी, उसने स्वार्थके लिये भागवत शक्तियोंका उपयोग किया था।

शक्तियोंका प्रदर्शन करना हमेशा गलत होता है। इसका यह अर्थ नहीं कि इनका कोई उपयोग ही नहीं होता। परंतु जिस प्रकार वे प्राप्त होती हैं उसी प्रकार उनका उपयोग भी होना चाहिये। वे भगवान्‌के साथ ऐक्य होनेपर आती हैं और उनका उपयोग भी भगवान्‌के संकल्पद्वारा ही होना चाहिये, प्रदर्शनके लिये नहीं। यदि किसी अंधे मनुष्यसे तुम्हारी भेंट हो और तुममें यह शक्ति हो कि तुम उसको आंखें दे सको तो— यदि भगवान्‌की यह इच्छा है कि वह देखने लगे तो तुम्हारा इतना ही कहना काफी होगा : "यह देखने लगे" और वह देखने लगेगा। परंतु यदि तुम उसको केवल इसलिये आंखें देना चाहते हो कि तुम्हारी इच्छा उसको अच्छा कर देनेकी है तो तुम अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाको संतुष्ट करनेके लिये ही शक्तिका उपयोग करोगे। ऐसी अवस्थामें बहुधा तुम न केवल अपनी शक्तिको ही गंवा देते हो, बल्कि उस मनुष्यमें भी भारी क्षोभ उत्पन्न कर देते हो। यद्यपि बाहरसे देखनेमें ये दोनों तरीके एक समान हैं, किंतु एकमें तुम भगवान्‌की इच्छाके कारण काम करते हो और दूसरेमें किसी वैयक्तिक भावसे।

तुम पूछोगे कि हम कैसे जानें कि भागवत संकल्प हमसे कब कार्य करवाता है? पर भगवान्‌के संकल्पको जानना कठिन नहीं है। वह असंदिग्ध होता है। योग-मार्गपर बहुत आगे गये बिना ही तुम उसे जान सकते हो। बस, तुम्हें उसकी वाणीको ध्यानपूर्वक सुनना चाहिये, उस सूक्ष्म आवाजको जो यहां हृदयमें होती है। एक बार तुम्हें उसे सुननेका अभ्यास हो जाय तो फिर यदि तुम भागवत संकल्पके विरुद्ध कुछ भी करो तो तुम्हें एक प्रकारकी व्याकुलताका अनुभव होगा। और यदि तुम उस गलत मार्ग

पर हठपूर्वक चलते रहो तो तुम बहुत अधिक क्षुब्ध हो जाओगे। परंतु यदि तुम अपनी इस व्याकुलताके लिये कोई बाह्य भौतिक बहाना ढूंढ निकालो और गलती करते ही जाओ तो तुम धीरे-धीरे अपनी बोध-शक्ति गंवा दोगे और अंतमें नाना प्रकारकी भूलें करनेपर भी किसी तरहकी व्याकुलता-का अनुभव न होगा। परंतु पहली ही बार, जरा-सा क्षोभ होते ही यदि तुम रुक जाओ और अपनी आंतरिक सत्तासे पूछो : "इस क्षोभका कारण क्या है?" तो तुम्हें ठीक-ठीक उत्तर अवश्य मिल जाता है और सब कुछ बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। जरा-सी उदासी या साधारण-सी व्याकुलता-का अनुभव होनेपर उसके लिये बाह्य भौतिक बहाने मत बनाओ। कारणका पता लगानेके लिये जब तुम ठहरकर सोचो तो अपने हृदयको बिलकुल सरल और सच्चा रखो। पहले तुम्हारा मन सुन्दर और देखनेमें सच्चे लगनेवाले कारण बतायेगा। उन्हें स्वीकार मत करो, बल्कि उनके परे जाकर देखो और पूछो : "इस गतिके पीछे क्या है? मैं यह क्यों कर रहा हूं?" अंतमें तुम एक छोटी-सी लहरको, अपने भावकी किसी गलत ऐंठन या किसी वक्रताको एक कोनेमें छिपा हुआ पाओगे जिसके कारण यह कष्ट और क्षोभ हो रहा है।

महत्त्वाकांक्षाका एक अत्यंत सामान्य रूप है मानवजातिकी सेवा करने-का विचार। इस प्रकारकी सेवा या कार्यके प्रति किसी भी प्रकारकी आसक्ति व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाका चिह्न है। जो गुरु यह समझता हो कि उसके पास मानवजातिको सिखानेके लिये कोई महान् सत्य है और जो बहुत-से शिष्य चाहता हो तथा शिष्योंके चले जानेपर बेचैनी अनुभव करता हो अथवा जो कोई सामने आये उसपर अपना प्रभाव जमाकर उसे अपने शिष्य बना लेनेकी चेष्टा करता हो, वह स्पष्ट रूपसे अपनी महत्त्वा-कांक्षाका अनुसरण करनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं कर रहा। यदि तुम भगवान्‌के आदेशका अनुसरण करना चाहते हो तो तुम्हें जो कोई भी काम दिया जाय — चाहे वह बहुत बड़ा क्यों न हो — उसे ग्रहण करनेके लिये तथा दूसरे ही दिन उसी शांतिके साथ, जिसके साथ तुमने उसे ग्रहण किया था — जरा भी यह न समझते हुए कि उसका उत्तर-दायित्व तुमपर है — छोड़ देनेके लिये तैयार रहना चाहिये। किसी पदार्थ या किसी विशेष प्रकारके जीवनसे तुम्हें कोई आसक्ति नहीं होनी चाहिये। तुम्हें सर्वथा स्वतंत्र होना चाहिये। यदि तुम सच्ची यौगिक स्थितिमें रहना चाहते हो तो तुम्हें इस योग्य होना चाहिये कि भग-वान्‌की ओरसे जो कुछ आये उसे स्वीकार कर सको और आसानीसे बिना पछताये छोड़ भी सको। "मैं कुछ नहीं चाहता" कहनेवाले वैरागी

और "मुझे यह चाहिये" कहनेवाले संसारी मनुष्य — दोनोंकी मनोवृत्ति एक ही है। संभव है कि वैरागी अपने त्यागके भावमें उतना ही आसक्त हो जितना संसारी अपनी संपत्तिमें।

तुम्हें उन सभी वस्तुओंको और केवल उन्हीं वस्तुओंको — स्वीकार करना चाहिये जो भगवान्‌के यहांसे आती हैं। क्योंकि वस्तुएं छिपी हुई इच्छाओंसे भी आ सकती हैं। इच्छाएं अवचेतनामें कार्य करती हैं और तुम्हारे पास ऐसी वस्तुएं ले आती हैं जिन्हें तुम चाहे न भी पहचान सको पर ये भगवान्‌के यहांसे नहीं, छिपी हुई इच्छाओंसे आती हैं।

जब कोई चीज भगवान्‌के यहांसे आती है तो तुम आसानीसे जान सकते हो। तुम अपनेको स्वतंत्र अनुभव करते हो, अनुद्विग्न और स्वस्थ पाते हो और शांत होते हो। परंतु किसी चीजके मिलनेपर यदि तुम उसपर टूट पड़ते हो और मारे खुशीके चिल्ला उठते हो : "आखिरकार यह मुझे मिल गयी" तो तुम्हें निश्चयपूर्वक यह समझ लेना चाहिये कि वह चीज भगवान्‌के यहांसे नहीं आयी। भगवान्‌के साथ योग और सम्मिलनके लिये प्रधान शर्त्त है समचित्तता।

क्या भगवान् कभी-कभी हमारी इच्छित वस्तु नहीं देते ?

अवश्य। एक नौजवान आदमी था जो योग करना चाहता था। परंतु उसका पिता नीच और क्रूर था, वह उसे बहुत कष्ट देता और उसे योग-साधना करनेसे रोकनेकी कोशिश करता था। उस नौजवानकी तीव्र इच्छा हुई कि वह अपने पिताके हस्तक्षेपसे मुक्त हो जाय। शीघ्र ही उसका पिता बीमार पड़ा, उसका रोग गंभीर हो गया और वह मरनेके समीप जा पहुंचा। अब उस युवककी प्रकृतिका दूसरा भाग जाग उठा और वह उस दुर्भाग्यको कोसता हुआ विलाप करने लगा : "आह, मेरे पिताजी इतने बीमार हो गये ! यह बड़े दु:खकी बात है ! हाय, अब मैं क्या करूं ?" उसका पिता अच्छा हो गया। युवक बड़ा प्रसन्न हुआ और फिरसे योग-की ओर मुड़ा। और उसका पिता भी दूने बलसे विरोध करने और उसे सताने लगा। लड़का निराश होकर सिर धुनने और विलाप करने लगा : "अब मेरे पिताजी मेरे मार्गमें और भी अधिक बाधक हो रहे हैं।" सारांश यह है कि हमें ठीक-ठीक जानना चाहिये कि हम क्या चाहते हैं।

भगवान् सदा अपने साथ पूर्ण शांति और स्थिरता लाते हैं। यह सत्य है कि एक विशेष प्रकारके भक्त साधारणतया एक और ही तरहका दृश्य उपस्थित करते हैं, ये कूदते-फांदते हैं, रोते हैं, और हंसते-गाते हैं, और यह

सब उनके अनुसार भक्तिके आवेशमें होता है। परंतु वास्तवमें ये लोग भगवान्‌में वास नहीं करते। ये अधिकांशतः प्राणमय जगत्‌में ही रहते हैं।

तुम्हारा कहना है कि रामकृष्ण परमहंस भी तो कभी-कभी भावावेशमें आकर उत्तेजित हो जाते थे और ऊपरकी ओर हाथ उठाकर गाते-नाचते इधर-उधर फिरा करते थे। इस विषयका सत्य यह है कि तुम्हारी आंतर सत्तामें गति पूर्ण और ठीक हो, किंतु अगर तुम्हारी बाह्य सत्ता दुर्बल और अपरिवर्तित हो तो वह तुम्हें ग्रहणशक्तिकी ऐसी विशेष अवस्थामें ले आती है, जो तुम्हें भावावेशकी तीव्र उत्तेजनासे भर देती है। जहां बाह्य सत्ता आंतर पुरुषका प्रतिरोध करती है अथवा समस्त आनंदको धारण नहीं कर सकती, वहीं भक्तिकी अभिव्यक्तिमें इस प्रकारकी गड़बड़ी या अराजकता होती है।

तुम्हारा शरीर और तुम्हारे स्नायु बलवान् होने चाहिये। तुम्हारी बाह्य सत्तामें समभावका सुदृढ़ आधार होना चाहिये। यदि यह आधार हो तो तुम भावावेशकी इस सारी सृष्टिको अपने अंदर समा सकते हो, कोलाहल मचाकर उसे बाहर निकालनेकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी, इसका यह अर्थ नहीं कि तुम अपने भावावेशोंको प्रकट ही नहीं कर सकते, बल्कि यह कि उनका प्रकाशन तुम एक सुन्दर और सामंजस्यपूर्ण रीतिसे कर सकते हो। रोना, चिल्लाना या नाचते फिरना सदा ही किसी दुर्बलता-का सूचक है, फिर वह दुर्बलता चाहे प्राणकी हो, मनकी हो या भौतिक प्रकृतिकी, क्योंकि इन तीनों भूमिकाओंपर जो कुछ गतिविधि होती है वह आत्म-संतुष्टिके लिये होती है। जो हंसता-कूदता या चिल्लाता है उसको ऐसा भान होता है मानों उसकी उत्तेजना अत्यंत असाधारण है और उसकी प्राण-प्रकृति इसमें बड़ा सुख मानती है।

यदि तुम्हें भागवत अवतरणके दबावको सहन करना हो तो तुम्हें अत्यंत बलवान् और शक्तिशाली होना चाहिये, नहीं तो तुम चकनाचूर हो जाओगे। कुछ लोग कहते हैं कि भगवान् अभीतक क्यों नहीं आये? —क्योंकि तुम तैयार नहीं हो। जब एक बूंद पाकर ही तुम नाचने, गाने और चिल्लाने लगते हो तो समूची चीजके उतर आनेपर तुम्हारी क्या दशा होगी?

इसीलिये जिनके मन, प्राण और शरीरमें सुदृढ़, बलवान् और विशाल आधार नहीं है, उनसे हम कहते हैं: "खींचो मत," अर्थात्, भागवत शक्तियों-को अपने अंदर खींच लानेकी चेष्टा मत करो, बल्कि स्थिरता और शांतिपूर्वक प्रतीक्षा करो। ये लोग इस अवतरणको सह न सकेंगे। परंतु

जिनमें आवश्यक नींव और आधार है उनसे हम ठीक इसके विपरीत कहते हैं : "अभीप्सा करो और खींचो", थे लोग अवतरणको ग्रहण करनेमें समर्थ होंगे और भागवत शक्तियोंके अवतरणसे विचलित न होंगे।

भगवान्‌की ओर मुड़नेवाले कुछ लोगोंके हर स्थूल सहारेको या उनकी सभी प्रिय वस्तुओंको उनके जीवनसे अलग कर दिया जाता है और यदि वे किसीसे प्रेम करते हैं तो उसे भी छीन लिया जाता है।

ऐसी घटना सबके साथ नहीं घटती, ऐसा केवल उन्हींके साथ होता है जिनकी पुकार होती है।

आध्यात्मिक जीवनके संबंधमें पूर्व और पश्चिमके लोगोंमें जो भेद है वह उनके आंतर पुरुष और आंतर प्रकृतिमें नहीं है, क्योंकि ये तो अविकारी और अविचल हैं। भेद है मानसिक अभ्यासोंमें, बाहरी प्रकाशन और प्रतिपादनके तरीकोंमें, जो शिक्षा, परिस्थिति तथा अन्यान्य बाह्य अवस्थाओंके परिणाम होते हैं। सभी लोग — वे चाहे पाश्चात्य हों या पौरस्त्य — अपनी अनुभूतियोंमें एक जैसे होते हैं, पर अपने विचार करनेके तरीकेमें अलग-अलग होते हैं। उदाहरणके लिये, सचाई एक ऐसा गुण है जो सभी देशोंमें एक समान है। जो सच्चे हैं, वे चाहे किसी राष्ट्रके क्यों न हों, एक ही रूपमें सच्चे हैं। केवल सचाईको दिये गये बाह्य रूप ही बदलते हैं। भिन्न जातियोंमें मन भिन्न रूपसे काम करता है किंतु हृदय सर्वत्र समान है; हृदय अधिक सत्य वस्तु है, भेद तो बाह्य और ऊपरी भागोंसे संबंध रखते हैं। जैसे ही तुम हृदयकी पर्याप्त गहराईमें उतरते हो वैसे ही तुम किसी ऐसी वस्तुसे मिलते हो जो सबमें एक है। सभी भगवान्‌में जाकर मिल जाते हैं। भौतिक संसारमें सूर्य भगवान्‌का प्रतीक है। बादलोंके कारण सूर्यके आकारमें हेर-फेर हो सकता है, किंतु बादलोंके न होनेपर तुम देखते हो कि सदा और सर्वत्र एक ही सूर्य है।

यदि तुम किसीके साथ एकरस अनुभव नहीं कर सकते तो इसका यह अर्थ है कि तुम अभी अपने अनुभवमें पर्याप्त गहराईतक नहीं पहुंचे हो।

२१ अप्रैल, १९२९

साधारण धारणा है कि अन्तर्दर्शन उच्च आध्यात्मिकताके चिह्न होते हैं। क्या यह सच है?

नहीं, यह जरूरी नहीं है। इसके अतिरिक्त इन दृश्योंका दीखना एक बात है, किंतु जो कुछ देखा है उसे समझना और उसका ठीक अर्थ लगाना बिलकुल दूसरी बात है और बहुत अधिक कठिन है। साधारणतया, जिन लोगोंको इस प्रकारके दृश्य दिखायी देते हैं वे धोखा खा जाते हैं। क्योंकि वे अपनी इच्छाओं, आशाओं और धारणाओंके अनुसार इनका अर्थ लगाते या इनकी व्याख्या करते हैं और फिर कई भिन्न-भिन्न प्रकारकी भूमिकाएं हैं जहां तुम ये दृश्य देख सकते हो। ये मानसिक भूमिकापर दिखायी देते हैं, प्राणकी भूमिकापर दिखायी देते हैं, और कुछ ऐसी भूमिकापर दिखायी देते हैं जो इस स्थूल-भौतिक जगत्के अति समीप है। तीसरी तरहके दृश्य इस प्रकारकी आकृतियों और ऐसे प्रतीकोंमें प्रकट होते हैं जो बिलकुल स्थूल-भौतिक मालूम होते हैं, क्योंकि ये अत्यंत स्पष्ट, यथार्थ और स्पृश्य होते हैं। और यदि तुम इनका अर्थ लगाना जानो तो तुम्हें मनुष्योंकी अवस्था और उनकी आंतरिक स्थितिके बारेमें बिलकुल ठीक-ठीक निर्देश मिल सकते हैं।

एक उदाहरण ले लें। यह एक ऐसा अंतर्दर्शन है जो सचमुच एक आदमीको हुआ था। उसने देखा कि सूर्यके प्रकाशसे आलोकित एक सड़क है जो दुरारोह खड़े पर्वतकी चोटीकी ओर जा रही है। इस सड़कपर एक बड़ा भारी रथ चल रहा है, जिसे छः मजबूत घोड़े बड़ी कठिनाईसे धीरे-धीरे खींच रहे हैं। रथ मंद गतिसे पर लगातार आगे बढ़ रहा है। इतनेमें एक आदमी आता है, इस परिस्थितिका अवलोकन करता है, और रथके पीछे जाकर उसे पीछेसे ठेलने लगता है अथवा ठेलकर पहाड़पर पहुंचानेकी चेष्टा करता है। अब एक समझदार आदमी आता है और कहता है: "तुम व्यर्थ परिश्रम क्यों कर रहे हो? क्या तुम समझते हो कि तुम्हारी इस मेहनतका कोई फल होगा? तुम्हारे लिये यह असंभव कार्य है। इसे करनेमें घोड़ोंको भी कठिनाई हो रही है।"

अब, इस अंतर्दर्शनका अर्थ समझनेकी चाबी छः घोड़ोंके रूपकमें है। घोड़े शक्तिके प्रतीक हैं और छः संख्या दिव्य सृष्टिका चिह्न है; अतः छः घोड़ोंका अर्थ हुआ दिव्य सृष्टिकी शक्तियां। रथ आत्म-साक्षात्कारका

प्रतीक है, उस वस्तुका प्रतीक है जिसे उपलब्ध करना है, प्राप्त करना है, और उस शिखरतक पहुंचाना है जहां दिव्य प्रकाशका निवास है। यद्यपि ये सृजन करनेवाली शक्तियां दिव्य हैं, किंतु इस आत्म-प्राप्तिको पूर्ण करनेका कार्य इनके लिये भी कष्टसाध्य है; क्योंकि इनको महान् विरोधका सामना और प्रकृतिके अधोगामी खिंचावके विरुद्ध लड़ना पड़ता है। अब बेचारा मानवप्राणी आता है, जो अपने अभिमान और अज्ञानसे ग्रस्त है, जिसके पास मानसिक शक्तियोंकी जरा-सी पूंजी है, और वह समझता है कि वह भी कुछ है और कुछ कर सकता है। उसके लिये तो सबसे उत्तम यही है कि रथमें आरामसे जा बैठे और घोड़ोंको खींचने दे।

स्वप्न बिलकुल अलग चीज है। इनकी व्याख्या करना अधिक कठिन है, क्योंकि हर एक व्यक्तिके लिये उसकी अपनी विशेष प्रकारकी कल्पना-मूर्तियोंका एक स्वप्न-जगत् होता है। अवश्य ही, ऐसे स्वप्न भी होते हैं जिनका कुछ विशेष अर्थ नहीं होता, वे स्वप्न जो चेतनाके अत्यन्त ऊपरी और भौतिक स्तरसे सम्बन्ध रखते हैं और इधर-उधरके विचारों, आकस्मिक संस्कारों, यंत्रवत् होनेवाली प्रतिक्रियाओं अथवा प्रतिघात-जनित क्रियाओंके फलस्वरूप होते हैं। इनका कोई बंधा हुआ या संगठित रूप, आकार और अर्थ नहीं होता। ये कम ही याद रहते हैं और प्रायः चेतनापर अपना कोई चिह्न भी नहीं छोड़ते। परन्तु वे स्वप्न भी, जिनका जन्म किसी अधिक गहरे स्तरसे होता है, प्रायः अस्पष्ट ही होते हैं, क्योंकि वे विशेष रूपसे व्यक्तिगत होते हैं। इन स्वप्नोंकी बनावट प्रायः पूर्णतया उन व्यक्तियोंके अपने निजी अनुभव और स्वभाव-विशेषपर निर्भर करती है। अन्तर्दर्शन भी ऐसे प्रतीकोंके बने हुए होते हैं जिनका विश्वव्यापी अर्थ नहीं होता। ये प्रतीक भिन्न-भिन्न जाति, परंपरा और धर्मके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं। हो सकता है कि कोई प्रतीक विशेष रूपसे ईसाई धर्मका हो, दूसरा विशेष रूपसे हिन्दू धर्मका, तीसरा सामान्य रूपसे पौरस्त्य लोगोंका हो और चौथा सामान्य रूपसे पाश्चात्य लोगोंका। परन्तु स्वप्न तो एकदम व्यक्तिगत होते हैं, वे दैनिक घटनाओं और संस्कारोंपर निर्भर होते हैं। किसी मनुष्यके लिये किसी दूसरे मनुष्यके स्वप्नका आशय बताना या अर्थ लगाना अत्यन्त कठिन है। प्रत्येक मनुष्य एक-दूसरेके लिये एक बन्द घेरेके समान है। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने स्वप्नोंका अध्ययन कर सकता है, उनका मतलब खोल सकता और उनके अर्थका पता लगा सकता है।

अब स्वप्नों और स्वप्नलोकके साथ बरतनेकी विधि देखें। पहले तो

तुमको सचेतन, अर्थात्, अपने स्वप्नोंसे सचेतन होना चाहिये। अपने जाग्रत कालकी घटनाओं और इन स्वप्नोंमें जो सम्बन्ध है उसका निरीक्षण करो। यदि तुम्हें रात्रिकालकी अपनी अवस्था याद हो तो बहुधा तुमको इस बातका पता लगेगा कि तुम्हारी दिनकी अवस्थाका कारण तुम्हारी रात्रिकी अवस्थामें निहित है। निद्राकी अवस्थामें तुम्हारी मनोमय, प्राणमय या अन्य भूमिकाओंपर कुछ-न-कुछ क्रिया होती ही रहती है। वहां जो घटनाएं घटती हैं वे तुम्हारी जाग्रत् चेतनापर शासन करती हैं। उदाहरणार्थ, कुछ लोग सिद्धि प्राप्त करनेके लिये बहुत आतुर होते हैं और दिनके समय बहुत अधिक प्रयत्न करते हैं। वे सो जाते हैं और जब दूसरे दिन उठते हैं तो पहले दिनके प्रयत्नके फलका नाम-निशान भी नहीं पाते। उन्हें फिरसे उसी भूमिको पार करना पड़ता है। इसका यह अर्थ है कि उनका वह प्रयत्न और उससे जो कुछ प्राप्त हुआ था वह सत्ताके केवल अधिक ऊपरी और जाग्रत् भागोंसे ही सम्बन्ध रखता था और सत्ताके गभीरतर और सुप्त भाग उससे अछूते ही थे। नींदमें तुम उन अचेतन भागोंके पंजेमें पड़ गये, वे खुल पड़े और तुमने सचेतन कालमें कठिन परिश्रम करके जो कुछ कमाया था उसे निगल गये।

सचेतन होओ! न केवल दिन, बल्कि रात्रिकालके जीवनसे भी सचेतन होओ। पहले तुमको सचेतनता प्राप्त करनी है, फिर अधिकार। तुममेंसे जिनको अपने स्वप्न याद रहते हैं उनको यह अनुभव हुआ होगा कि स्वप्नके समय भी उन्हें इस बातका ज्ञान था कि यह स्वप्न है, वे जानते थे कि यह एक ऐसा अनुभव है जो स्थूल-भौतिक जगत्का नहीं था। एक बार ज्ञान पा लेनेके बाद वहां भी — स्वप्न जगत्में भी — तुम उसी तरह कार्य कर सकते हो जैसे स्थूल जगत्में करते हो, तुम स्वप्नके समय भी अपने सचेतन संकल्पका प्रयोग कर सकते हो और स्वप्नानुभवकी समस्त गतिविधिको बदल सकते हो।

और जैसे-जैसे तुम अधिकाधिक सचेतन होते जाओगे, तुम रात्रिमें भी अपनी सत्तापर उतना अधिकार रखना आरंभ कर दोगे जितना दिनमें रखते हो, शायद उससे भी अधिक। क्योंकि रातको तुम कम-से-कम एक अंशमें अपने शरीरकी यांत्रिकताकी गुलामीसे मुक्त रहते हो। शारीरिक चेतनाके व्यापारोंको वशमें रखना अधिक कठिन है, क्योंकि ये मनोमय और प्राणमय व्यापारोंकी अपेक्षा अधिक कठोर होते हैं और परिवर्तनके लिये अपेक्षया कम राजी होते हैं।

रात्रिमें मन और प्राण — विशेषतः प्राण — बहुत अधिक क्रियाशील रहते हैं। दिनमें उनपर एक नियंत्रण रहता है, क्योंकि भौतिक चेतना

उनकी स्वतंत्र लीला और अभिव्यक्तिको दबाये रहती है। परन्तु निद्राके समय यह नियंत्रण हट जाता है और वे अपनी स्वाभाविक और स्वतंत्र गतियोंके साथ बाहर निकल पड़ते हैं।

स्वप्नरहित निद्राका क्या स्वरूप है?

साधारणतया तुम जिसे स्वप्नरहित निद्रा कहते हो वह इन दोमेंसे एक प्रकारकी होती है। (१) या तो स्वप्नमें तुम जो कुछ देखते हो वह तुम्हें याद नहीं रहता; (२) या तुम ऐसी नितान्त अचेतनामें जा गिरते हो जो लगभग मृत्यु होती है, मृत्युका एक आस्वाद होती है। परन्तु एक ऐसी निद्रा भी संभव है जिससे तुम्हारी सत्ताके प्रत्येक भागमें परिपूर्ण नीरवता, निश्चलता और शान्ति छा जाती है और तुम्हारी चेतना सच्चिदानन्दमें लीन हो जाती है। इस अवस्थाको शायद ही निद्रा कहा जा सके, क्योंकि यह अत्यन्त सचेतन होती है। इस अवस्थामें तुम कुछ क्षण रहो तो इन थोड़े-से क्षणोंमें तुम्हें घंटोंकी साधारण निद्राकी अपेक्षा अधिक आराम और ताजगी मिल जाती है। यह अवस्था अचानक नहीं आ जाती, इसके लिये लंबी साधनाकी आवश्यकता है।

स्वप्नोंमें कुछ ऐसे लोगोंसे भेंट और जान-पहचान हो जाती है, जिनसे बादमें बाह्य जगत्‌में परिचय होता है, यह कैसे होता है?

मनोमय या प्राणमय लोकमें सजातीयता कुछ लोगोंको एक-दूसरेके प्रति आकृष्ट करती है। पृथ्वीपर मिलनेसे पहले बहुधा लोग इन लोकोंमें मिलते हैं। लोग वहां इकट्ठे हो सकते हैं, परस्पर बातचीत करते और पृथ्वीके सभी सम्बन्ध जोड़ सकते हैं। इन संबंधोंको कुछ लोग जानते हैं, कुछ नहीं जानते। कुछ, बल्कि अधिकांश लोग ऐसे ही हैं जो आन्तर सत्ता और आन्तर आदान-प्रदानको नहीं जानते, फिर भी जब बाह्य जगत्‌में किसी ऐसे नवीन व्यक्तिका चेहरा उन्हें दिखायी देता है तो वह उन्हें किसी कारण अत्यन्त परिचित और सर्वथा जाना-पहचाना लगता है।

क्या झूठे दृश्य नहीं दिखायी देते?

ऐसे दृश्य होते हैं जिनका बाह्य रूप झूठा होता है। उदाहरणार्थ, सैकड़ों

क्या हजारों आदमी ऐसे मिलेंगे जो कहते हैं कि उन्होंने ईसामसीहको देखा है। इस बड़ी संख्यामेंसे जिन्होंने वास्तवमें उन्हें देखा है ऐसे शायद एक दर्जन भी न निकलें। और इन थोड़े-से लोगोंने भी जो कुछ देखा है उसके सम्बन्धमें बहुत कुछ कहनेकी गुंजायश है। बाकी लोगोंने जो कुछ देखा है, वह हो सकता है कि ईसामसीहकी कोई विभूति हो, अथवा उनका अपना कोई विचार हो, या कोई ऐसी प्रतिमा हो जो उनके मनको याद है। ऐसे लोग भी होते हैं जिन्हें ईसामसीहपर दृढ़ श्रद्धा होती है और उन्हें किसी ऐसी शक्ति या सत्ताका या किसी स्मृत मूर्तिका दर्शन होता है जो अत्यंत तेजोमय होती है और उनपर गहरा असर डालती है। उन्होंने कुछ ऐसी चीज देखी है जिसे वे दूसरे जगत्की और प्राकृत जगत्से परेकी मानते हैं। और उसे देखकर उनमें भय, संभ्रम या हर्षका भावावेश पैदा होता है और चूंकि वे ईसाको मानते हैं इसलिये वे किसी औरकी बात नहीं सोचते और कहते हैं कि उन्होंने ईसामसीहको देखा है। परंतु वही दर्शन या अनुभव किसी हिंदू, मुसलमान या अन्य धर्मावलंबीको हो तो उसका नाम और रूप कुछ और ही हो जायगा। जिसका दर्शन या अनुभव हुआ हो उसके मूलतः एक होनेपर भी ग्रहण करनेवाले मनकी बनावटकी भिन्नताके अनुसार उसका रूप भी भिन्न-भिन्न प्रकारका बन जाता है। केवल वही जो इन विश्वासों, श्रद्धाओं, धर्माख्यानों और परंपराओंके ऊपर उठ चुके हैं; यह कह सकते हैं कि वास्तवमें उन्होंने क्या देखा; पर ऐसे लोग कम होते हैं, बहुत कम। यह जान सकनेसे पहले कि तुमने क्या देखा है तुम्हें समस्त मानसिक रचनाओंसे मुक्त होना चाहिये और जो कुछ केवल स्थानीय या सामयिक है उससे अपने-आपको दूर कर लेना चाहिये।

आध्यात्मिक अनुभूतिका अर्थ है अपने अंदर (अथवा बाहर, जो उस क्षेत्रमें एक ही बात है) भगवान्का संस्पर्श। और यह अनुभूति सर्वत्र, सब देशोंमें, सब जातिके लोगोंमें, यहांतक कि समस्त युगोंमें एक ही प्रकारकी होती है। अगर भगवान्से तुम्हारी भेंट होती है तो सर्वदा और सर्वत्र एक ही प्रकारसे होती है। भेद इसलिये आता है क्योंकि जो कुछ अनुभव होता है और उसको जो रूप दिया जाता है, उन दोनोंके बीच एक बड़ी खाई होती है। आध्यात्मिक अनुभूति सदा आंतर चेतनामें होती है, और जैसे ही तुम्हें कोई आध्यात्मिक अनुभूति होती है, वैसे ही वह तुम्हारी बाह्य चेतनामें प्रतिबिंबित हो जाती है और तुम्हारी शिक्षा, श्रद्धा और मानसिक धारणाके अनुसार उसकी किसी-न-किसी प्रकारकी व्याख्या हो जाती है। सत्य तो एक ही है, सद्वस्तु तो एक ही है, किंतु

जिन रूपोंद्वारा उसकी अभिव्यक्ति की जा सकती है वे अनेक हैं।

जॉन ऑफ आर्कको जो अन्तर्दर्शन होते थे, वे किस कोटिके थे?

हम जिसे देवोंका लोक कहते हैं (अथवा कैथोलिक संप्रदायके शब्दोंमें संतोंका लोक, यद्यपि ये दोनों लोक बिल्कुल एक नहीं हैं), उस लोककी कुछ सत्ताओंके साथ जोन ऑफ आर्कका स्पष्ट संबंध था। जिन सत्ताओंका उन्हें दर्शन होता था, उन्हें वे प्रधान-देवदूत कहा करती थीं। ये सत्ताएं उच्चतर मानसलोक और अतिमानसलोक (विज्ञानलोक) के बीचकी थीं; यही वह लोक है जिसे श्रीअरविंद अधिमानस कहते हैं। यह सृष्टि-कर्ताओंका, रूप देनेवालोंका लोक है।

जो दो सत्ताएं जोन ऑफ आर्कको हमेशा दिखायी देती और उनसे बातें करती थीं, वे यदि किसी हिंदूके सामने होतीं तो उनका कुछ और ही रूप होता, क्योंकि जब कोई किसी सत्ताको देखता है, तो उसके रूपको अपने मनकी कल्पनाके अनुसार गढ़ लेता है। तुम जो कुछ देखते हो उसे वही रूप दे लेते हो जिसे देखनेकी तुम्हें आशा होती है। यदि एक ही सत्ता एक ही समय किसी ऐसी मंडलीको दिखायी दे जहां ईसाई, बौद्ध, हिंदू और शिंतो धर्मावलंबी हों तो ये सब उसे एकदम अलग-अलग नामोंसे पुकारेंगे। इनमेंसे हर एक व्यक्ति कहेगा कि इस सत्ताका स्वरूप इस या उस जैसा था, सभीकी राय एक-दूसरेसे अलग होगी, यद्यपि सबके सामने एक ही सत्ता प्रकट हुई होगी। भारतवर्षमें तुम लोगोंको एक सत्ताका दर्शन होता है और इसे तुम लोग भगवती माता (आद्या शक्ति) कहते हो, कैथोलिक संप्रदायवाले इसे 'कुमारी मेरी', जापानी 'क्वानोन', अर्थात्, दयाकी देवी और दूसरे धर्मवाले किसी और ही नामसे जानेंगे। शक्ति एक ही है, सत्ता एक ही है, किंतु उसकी प्रतिमाएं भिन्न-भिन्न धर्मोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी बन गयी हैं।

समर्पण-मार्गमें प्रशिक्षण या तपस्याका क्या स्थान है? यदि कोई समर्पण करता है तो क्या उसका काम तपस्याके बिना नहीं चल सकता? क्या तपस्या कभी-कभी बाधक नहीं होती?

हो सकता है। परंतु तपस्या या विकास साधन करनेकी पद्धति और संकल्पपूर्वक कर्मके बीचमें भेद करना चाहिये। तपस्या और चीज है; मैं

संकल्पपूर्वक कर्मकी बात कह रही हूं। यदि तुम समर्पण करते हो तो तुम्हें प्रयास छोड़ देना होता है, किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि तुम्हें संकल्पपूर्वक कर्म भी त्याग देना चाहिये। इसके विपरीत, यदि तुम अपना संकल्प भगवान्के संकल्पको दे दो तो सिद्धिका काम तेज हो सकता है। यह भी एक और रूपमें समर्पण ही है। तुमसे जिस चीजकी अपेक्षा की जाती है वह निष्क्रिय समर्पण नहीं है जिसमें तुम जड़-पत्थरकी तरह हो जाओ, बल्कि अपेक्षा यह की जाती है तुम अपने संकल्पको भगवान्के अधीन कर दो।

परंतु जबतक भगवान्के साथ हमारा योग नहीं हो जाता, तबतक यह कैसे किया जा सकता है?

तुम्हारे अंदर संकल्प तो होता ही है, तुम उस संकल्पको भगवान्को अर्पण कर सकते हो। रातको सचेतन रहनेके उदाहरणको ही ले लो। यदि तुम निष्क्रिय समर्पण भाव रखो, तो तुम कहोगे : "जब भगवान्की इच्छा होगी कि मैं सचेतन होऊं, तभी मैं सचेतन होऊंगा।" दूसरी ओर, यदि तुम अपने संकल्पको भगवान्को अर्पण कर दो तो तुम संकल्प करना आरंभ कर दोगे और कहोगे : "मैं अपने रात्रिकालसे सचेतन होऊंगा।" तुम संकल्प करते हो कि ऐसा होना चाहिये, प्रतीक्षा करते हुए चुपचाप नहीं बैठ जाते। इस क्रियामें समर्पणका भाव तब आता है जब तुम यह भाव धारण करते और कहते हो : "मैं अपने संकल्पको भगवान्के अर्पण करता हूं, मेरी तीव्र इच्छा है कि मैं अपने रात्रिकालसे सचेतन होऊं, मेरे अंदर ज्ञान नहीं है, भगवान्का संकल्प मेरे लिये इस कामको पूरा करे।" तुम्हारे संकल्पको किसी विशेष कार्यका चुनाव करनेके लिये या किसी विशिष्ट उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये नहीं, बल्कि एक तीव्र अभीप्साके रूपमें, जो अंतिम लक्ष्यकी प्राप्तिपर केंद्रित हो, स्थिरतापूर्वक कार्य करते जाना चाहिये। यह पहली सीढ़ी है। यदि तुम सतर्क हो, यदि तुम्हारी दृष्टि सावधान है तो तुम्हें "जो करना चाहिये" उसकी प्रेरणा किसी-न-किसी रूपमें अवश्य मिल जायगी और तुम्हें तत्काल उसके अनुसार कार्य करने लग जाना चाहिये। हां, एक बात याद रखनी चाहिये, समर्पणका अर्थ है कर्मोंका जो भी फल हो उसे स्वीकार करना, फिर चाहे वह तुम्हारी आशाके सर्वथा विपरीत ही क्यों न हो। दूसरी ओर, यदि तुम्हारा समर्पण निष्क्रिय है तो तुम कुछ नहीं करोगे, किसी प्रकारका प्रयत्न नहीं करोगे, बल्कि मौजसे सो जाओगे और किसी चमत्कारकी प्रतीक्षा करोगे।

यह जाननेके लिये कि तुम्हारी इच्छा या संकल्पका भगवान्के संकल्पके

साथ मेल है या नहीं, तुमको देखना चाहिये कि मन, प्राण या शरीरसे नहीं अपितु गहराईमें, अपनी आंतर सत्तामें, हृदयमें हमेशा रहनेवाली अपनी सत्तासे कोई उत्तर मिलता है या नहीं, तुम अपनी इच्छाका समर्थन पाते हो या विरोध।

क्या ध्यान करनेके लिये अधिकाधिक प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं है? क्या यह सच नहीं है कि जितनी अधिक देरतक कोई ध्यान करता है उतनी अधिक प्रगति होती है?

ध्यानमें बिताये गये घंटे आध्यात्मिक प्रगतिका प्रमाण नहीं हैं। आध्यात्मिक प्रगतिका प्रमाण तो तब होगा जब यह अवस्था आ जाय कि ध्यान करनेके लिये तुम्हें किसी प्रकारका प्रयास ही न करना पड़े, ध्यानको रोकनेके लिये भले ही प्रयासकी आवश्यकता हो। तब ऐसी अवस्था हो जाती है कि ध्यानको रोकना कठिन हो जाता है। भगवान्‌के चिंतनको रोकना, साधारण चेतनामें नीचे उतरना कठिन हो जाता है। जब भगवान्‌में एकाग्रता तुम्हारे जीवनकी परम आवश्यकता बन जाय, जब तुम उसके बिना रह ही न सको, तुम चाहे किसी काममें क्यों न लगे रहो, जब यह अवस्था स्वाभाविक रूपसे रात-दिन बनी रहे — तब समझना चाहिये कि निश्चित रूपसे तुम्हारी प्रगति हुई है, तुमने वास्तविक उन्नति की है। चाहे तुम ध्यान लगाकर बैठो या घूमो-फिरो और काम-काज करो, जिस बातकी तुमसे अपेक्षा की जाती है वह है चेतना। यही एकमात्र आवश्यकता है — भगवान्‌के बारेमें सदा सचेतन रहना।

परंतु क्या ध्यानमें बैठना अनिवार्य संयम नहीं है और क्या इससे भगवान्‌के साथ अधिक प्रगाढ़ और केंद्रित एकता नहीं आती?

हो सकता है। परंतु हमें कोरा संयम अभीष्ट नहीं है। हम चाहते हैं कि प्रत्येक कर्म करते समय, प्रत्येक क्षण, हमारी समस्त क्रियाओं और प्रत्येक गतिमें, हमारी चेतना भगवान्‌में केंद्रित रहे। यहां कुछ साधक ऐसे हैं जिनसे ध्यान करनेको कहा गया है, किंतु ऐसे साधक भी हैं जिन्हें किसी प्रकारका ध्यान करनेको नहीं कहा गया। परंतु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि ध्यान न करनेवालोंकी प्रगति नहीं हो रही है। वे भी एक साधना करते हैं, किंतु वह दूसरे प्रकारकी साधना है। भक्ति और आत्मोत्सर्गके

भावके साथ कर्म करना, कार्य करना आध्यात्मिक साधना है। अंतिम उद्देश्य यह है कि केवल ध्यानमें ही नहीं, बल्कि प्रत्येक अवस्थामें, जीवनकी प्रत्येक क्रियामें भगवान्‌के साथ सतत एकताका अनुभव किया जाय।

कुछ लोग ऐसे हैं जो ध्यानमें बैठते हैं तो एक ऐसी अवस्थामें चले जाते हैं जिसे वे बहुत ही सुन्दर और आनंदमय समझते हैं। वे इस अवस्थामें आत्म-संतोषपूर्वक बैठे रहते हैं और जगत्‌को भूल जाते हैं; किंतु यदि उनके ध्यानमें कोई बाधा पहुंचे तो वे उस अवस्थामेंसे क्षुब्ध और क्रुद्ध होकर निकलते हैं, क्योंकि उनके ध्यानमें बाधा पड़ी। यह किसी आध्यात्मिक प्रगति या साधनाका लक्षण नहीं है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो ऐसा आचरण करते हैं मानों उन्हें लगता हो कि ध्यान कर्जा चुकानेके लिये है। ये उन लोगोंकी तरह हैं जो सप्ताहमें एक बार गिरजाघर हो आते हैं और समझते हैं कि उन्होंने भगवान्‌का सारा पावना चुका दिया।

यदि तुम्हें ध्यान करनेके लिये प्रयत्न करना पड़ता है तो अभी तुम आध्यात्मिक जीवन जी सकनेकी अवस्थासे बहुत दूर हो। जब ध्यानावस्था-से बाहर निकलनेके लिये प्रयत्न करनेकी आवश्यकता हो तब तुम्हारा ध्यान इस बातका संकेत हो सकेगा कि तुम आध्यात्मिक जीवन जी रहे हो। हठ-योग और राजयोग जैसी कुछ ऐसी साधनाएं भी हैं जिनका अभ्यास करते हुए भी, हो सकता है कि साधकका आध्यात्मिक जीवनसे कोई संबंध न हो। अधिकतर हठयोगद्वारा शरीरपर और राजयोगद्वारा मनपर संयम हो जाता है। परंतु आध्यात्मिक जीवनमें प्रवेश करनेका अर्थ है भगवान्‌में गोता लगाना, ठीक उसी तरह जैसे कोई समुद्रमें कूद पड़े। और यह भी केवल आरंभ है, अंत नहीं। क्योंकि गोता लगानेके बाद तुम्हें भगवान्-में निवास करना सीखना होगा। इसका क्या उपाय है? तुम्हें सीधे कूद पड़ना चाहिये, यह सोचे बिना कि 'मैं कहां गिरूंगा, मेरी क्या दशा होगी।' तुम्हारे मनकी झिझक ही है जो तुम्हें रोकती है। तुम्हें अपने-आपको छोड़ देना चाहिये। यदि तुम समुद्रमें गोता लगाना चाहो और साथ-ही-साथ यह सोचते रहो कि कहीं आस-पास कोई पत्थर या चट्टान न हो, तो तुम गोता नहीं लगा सकोगे।

परंतु समुद्र तो दिखायी देता ह इसलिये उसमें सीधे गोता लगाया जा सकता है। किंतु आध्यात्मिक जीवनमें गोता कैसे लगाया जाय?

अवश्य ही जैसे तुम समुद्रको देखते हो और उसमें कूदनेसे पहले उसके विषय-

में कुछ जानते हो उसी तरह तुम्हें भागवत सद्वस्तुकी भी कोई झांकी प्राप्त होनी चाहिये।

यह झांकी साधारणतया हृत्पुरुषकी जाग्रतिके रूपमें होती है। पर किसी-न-किसी प्रकारका साक्षात्कार तुम्हें अवश्य होना चाहिये — यदि गभीर हृत्पुरुषके अथवा संपूर्ण सत्ताके साक्षात्कारका संस्पर्श न भी हुआ हो तो भी कम-से-कम एक बलवान् मनोमय या प्राणमय संबंध अवश्य स्थापित हो चुकना चाहिये। तुमने अपने अंदर या अपने आस-पास भगवान्की उपस्थितिका स्पष्ट अनुभव किया होगा, तुमने भागवत जगत्में श्वास लेनेका अनुभव भी किया होगा। इसके विपरीत, तुम्हें साधारण जगत्के दम घुटा देनेवाले श्वासका भी अनुभव हुआ होगा जो तुम्हें इस पीड़ादायक वातावरणसे बाहर निकल आनेका प्रयत्न करनेके लिये बाध्य करता है। यदि यह अनुभव हो चुका हो तो बस, अब तुम्हें भागवत सद्वस्तुमें निःशेषभावसे आश्रय लेना चाहिये और उसकी सहायता और संरक्षणमें, केवल उसीमें रहना चाहिये। अपने साधारण जीवनमें अभीतक जो कुछ तुमने आंशिक रूपमें अथवा अपनी सत्ताके कुछ भागोंमें, या किन्हीं विशेष समयों या अवसरोंपर किया होगा, उसीको अब तुम्हें पूर्ण रूपसे सदाके लिये करना है। यही वह डुबकी है जो तुम्हें लगानी है और जबतक तुम यह नहीं करते, तबतक वर्षों योग करनेपर भी सच्चे आध्यात्मिक जीवनके संबंधमें तुम कुछ भी न जान सकोगे। पूरी तरहसे डुबकी लगाओ और तुम इस बाह्य व्याकुलता और गड़बड़से मुक्त हो जाओगे और आध्यात्मिक जीवनका सच्चा अनुभव प्राप्त कर लोगे।

२८ अप्रैल, १९२९

कहा गया है कि योगमें प्रगति करनेके लिये साधकको अपने जीवनकी छोटी-से-छोटी चीज और अपनी छोटी-से-छोटी क्रिया भी भगवान्को समर्पित कर देनी चाहिये। इसका ठीक-ठीक अर्थ क्या है?

योगका अर्थ है भगवान्से एकता, और यह एकता आत्मोत्सर्गद्वारा आती है — इसका आधार है अपने-आपको भगवान्के हाथोंमें दे देना। आरंभ-

तुम साधारण रूपसे अपने-आपको देना शुरू करते हो मानों सबके लिये तुम्हारा यह काम पूरा हो गया। तुम कहते हो: "मैं भगवान्‌का सेवक हूं, मेरा जीवन पूर्ण रूपसे भगवान्‌को दिया गया है, मेरे सब प्रयत्न दिव्य जीवनकी प्राप्तिके लिये हैं।" पर यह तो केवल पहला कदम है; केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है। इस संकल्पके बाद भी, इस निश्चयके बाद भी कि तुम अपने समग्र जीवनको भगवान्‌के अर्पण कर दोगे, तुम्हें यह बात अपने जीवनमें प्रत्येक क्षण याद रखनी होगी और इसे अपने प्रत्येक ब्योरे-में चरितार्थ करना होगा। तुम्हें प्रत्येक पगपर यह अनुभव होना चाहिये कि तुम भगवान्‌के हो, तुम्हें हमेशा यह अनुभूति होनी चाहिये कि तुम जो कुछ सोचते या करते हो, उसमें हमेशा भागवत चेतना ही तुम्हारे द्वारा कार्य करती है। तुम्हारे पास ऐसी कोई चीज न होनी चाहिये जिसे तुम अपना कह सको, जो कुछ तुम्हारे पास आये उसे भगवान्‌के यहांसे आया हुआ अनुभव करो और उसे उसके मूल स्रोतकी भेंट कर दो। इस अनु-भूतिको प्राप्त कर लेनेपर अत्यंत सामान्य-से-सामान्य चीज जिसपर तुम ध्यान नहीं देते या जिसकी साधारणतः परवाह नहीं करते, वह भी अकिंचन या तुच्छ नहीं रह जाती, वह अर्थपूर्ण हो जाती है और तुम्हारी दृष्टिके सामने दूरतक देख सकनेके लिये एक विशाल क्षितिज खोल देती है।

सामान्य रूपसे किये गये उत्सर्गको जीवनके प्रत्येक ब्योरेमें लानेका तरीका यह है: हमेशा भगवान्‌की उपस्थितिमें ही निवास करो; इस अनुभूतिमें रहो कि यह उपस्थिति ही तुम्हारी प्रत्येक क्रियाको गति देती है और जो कुछ तुम करते हो उसे वही कर रही है। अपनी समस्त चेष्टाओंका इसीके प्रति उत्सर्ग करो, केवल प्रत्येक मानसिक क्रिया, प्रत्येक विचार और भाव-का ही नहीं, बल्कि अत्यंत साधारण और बाह्य क्रियाओंका भी, उदाहरणार्थ, भोजन भी उसीको अर्पित कर दो; जब तुम भोजन करो तो तुम्हें अनुभव होना चाहिये कि इस क्रियामें तुम्हारे द्वारा भगवान् ही आरोग रहे हैं। जब तुम इस प्रकार अपनी समस्त प्रवृत्तियोंको एक अखण्ड जीवनमें एकत्रित कर सकोगे तब तुम्हारे अंदर भेदभावकी जगह एकता होगी। तब यह अवस्था न रहेगी कि तुम्हारी प्रकृतिका एक भाग तो भगवान्‌के अर्पित हो और बाकी भाग अपनी साधारण वृत्तियोंमें पड़े रहें और साधारण चीजोंमें लिप्त रहें, बल्कि तब तुम्हारे संपूर्ण जीवनको भगवान् अपने हाथमें ले लेंगे और क्रमशः तुम्हारी प्रकृतिका संपूर्ण रूपांतर होने लगेगा।

पूर्ण योगमें पूरे ब्योरेके साथ संपूर्ण जीवनका रूपांतर करना होगा, उसे दिव्य बनाना होगा। यहां कोई चीज नगण्य या तुच्छ नहीं है। तुम

यह नहीं कह सकते : "जब मैं ध्यान करता हूं, दर्शनशास्त्र-संबंधी पुस्तकें पढ़ता हूं या इस वार्तालापको सुनता हूं तब तो मैं भागवत ज्योतिकी ओर खुलने और उसे बुलानेकी अवस्थामें रहूंगा। किंतु जब मैं टहलने जाऊं या किसी मित्रसे मिलूं तब मैं इन बातोंको भुला सकता हूं।" इस भावको बनाये रखनेका अर्थ होगा कि तुम्हारा रूपांतर कभी न हो सकेगा और तुम्हें भगवान्‌के साथ सच्ची एकता कभी प्राप्त न होगी। तुम्हारे सदा दो भाग बने रहेंगे, अधिक-से-अधिक तुम्हें इस महत्तर जीवनकी कुछ झांकियां मिल सकेंगी। हो सकता है कि ध्यानके समय तुम्हारी आंतर चेतनामें कतिपय अनुभूतियां और साक्षात्कार मिल जायं, पर तुम्हारा स्थूल शरीर और तुम्हारा बाह्य जीवन तो रूपांतरित हुए बिना ही रह जायगा। जिस आंतर प्रकाशका शरीर और बाह्य जीवनपर कोई असर नहीं होता वह किसी विशेष उपयोगका नहीं होता, क्योंकि वह इससे जगत्‌को जैसा-का-तैसा छोड़ देता है। अभीतक लगातार यही होता आया है। वे लोग भी जिन्हें अति महान् और शक्तिशाली उपलब्धियां हुई थीं, वे अपनी आंतर स्थिरता और शांतिमें अक्षुब्ध रूपसे रहनेके लिये जगत्‌से अलग हट गये। और जगत्‌को अपने ही मार्गपर चलते रहनेके लिये छोड़ दिया। परिणाम यह हुआ कि विश्वस-त्ताकी इस भौतिक भूमिकापर दुःख और जड़ता, मृत्यु और अज्ञानका राज्य पहलेकी तरह अबाध गतिसे जारी रहा। जो लोग इस प्रकार किनारा कर लेते हैं उनके लिये इस उपद्रवसे त्राण पाना, इन कठिनाइयोंसे दूर भागना और दूसरे लोकमें अपने लिये एक सुखी अवस्था पा लेना भले ही सुखकर हो, किंतु इसमें संदेह नहीं कि वे इस जगत् और जीवनको अमार्जित और अरूपांतरित अवस्थामें छोड़ जाते हैं; यही नहीं, वे अपनी बाहरी चेतनाको भी अपरिवर्तित अवस्थामें और अपने शरीरको सदाकी न्याईं असंस्कृत अवस्थामें छोड़ देते हैं। भौतिक जगत्‌में वापस लौटनेपर संभव है कि इनकी दशा साधारण मनुष्यसे भी बुरी हो, क्योंकि ये लोग स्थूल वस्तुओंपर प्रभुता प्राप्त करनेकी शक्ति गंवा देते हैं, अतः संभव है कि भौतिक जीवनके साथ इनके व्यवहारमें फूहड़पन हो और इनकी गतिविधि बिलकुल असहाय और हर गुजरती हुई शक्तिकी दयापर निर्भर हो।

इस प्रकारका आदर्श उनके लिये भले ठीक हो जो इसे चाहते हैं, किंतु यह हमारा योग नहीं है। क्योंकि हम इस जगत्‌पर तथा इसकी समस्त शक्तियोंपर भगवान्‌की विजय चाहते हैं और यहीं, इस पार्थिव जगत्‌में ही भगवान्‌की उपलब्धि चाहते हैं। परंतु यदि हम भगवान्‌के राज्यके लिये इच्छुक हों तो हम जो कुछ हैं, जो कुछ हमारे पास है और हम जो कुछ

करते हैं, उस सबको हमें भगवान्के अर्पण कर देना चाहिये। यह सोचनेसे काम नहीं चलेगा कि कोई बात गौण है अथवा बाह्य जीवन और उसकी आवश्यकताओंसे दिव्य जीवनका कोई संबंध नहीं है। यदि हम ऐसा मानें तो हम वहीं पड़े रहेंगे जहां सदासे पड़े रहे हैं और इस बाह्य जगत्पर कभी विजय नहीं मिलेगी, उसमें कोई चिरस्थायी काम न हो पायगा।

जो लोग बहुत अधिक ऊपर उठ चुके हैं, क्या वे इस भूमिकापर वापस आते हैं?

हां, यदि उनमें इस भूमिकाका रूपांतर करनेका संकल्प है तो उन्होंने जितनी उन्नति की होगी उतना ही उनका लौटना निश्चित है। और जिन लोगोंकी इच्छा यहांसे भाग जानेकी है, वे भी, हो सकता है कि, दूसरी दिशामें पहुंचकर यह अनुभव करें कि आखिर इस प्रकार भाग आनेका कोई विशेष लाभ नहीं हुआ।

क्या बहुतोंको यह बात याद रहती है कि वे ऊपर पहुंच चुके थे और फिर वापस आये हैं?

चेतनाकी एक विशेष अवस्थामें पहुंच जानेपर यह याद रह सकती है। आंशिक रूपसे, थोड़े-से कालके लिये इस अवस्थाका स्पर्श करना बहुत कठिन नहीं है; ध्यानमें, स्वप्नमें, अथवा सूक्ष्म जगतोंके दृश्योंमें किसीको यह अनुभव या आभास हो सकता है कि वह पहले अमुक जीवन बिता चुका है, उसको अमुक प्रकारका साक्षात्कार हुआ था, और अमुक सत्यका ज्ञान हुआ था। परंतु इसे पूर्ण साक्षात्कार नहीं कहा जा सकता। पूर्ण अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये यह आवश्यक है कि साधक उस स्थायी चेतनाको प्राप्त कर ले जो हमारे अंदर ही है, जो सनातन है, तथा हमारे भूत, वर्तमान और भावी जीवनको एक साथ धारण किये हुए है।

जब हम मानसिक प्रवृत्तियोंमें अथवा बुद्धिके व्यापारोंमें एकाग्र रहते हैं तब कभी-कभी भगवान्को क्यों भूल जाते अथवा उनका स्पर्श क्यों गंवा देते हैं?

क्योंकि तुम्हारी चेतना अभीतक बंटी हुई है। तुम्हारे मनमें भगवान् अभीतक अच्छी तरह बसे नहीं हैं, अभीतक तुम दिव्य जीवनपर पूर्ण रूपसे

न्योछावर नहीं हुए हो। नहीं तो इस प्रकारके कामोंमें चाहे जितने लीन, क्यों न रहो, फिर भी तुम्हें यह मान रहेगा कि भगवान् तुम्हारी सहायता कर रहे हैं और तुम्हें धारण किये हुए हैं।

अपनी प्रत्येक प्रवृत्तिमें, चाहे वह बौद्धिक हो या सक्रिय, तुम्हारा एकमात्र मंत्र होना चाहिये : "स्मरण और समर्पण"। तुम जो कुछ करो वह सब भगवान्के अर्पण हो। यह तुम्हारे लिये एक सुन्दर साधना बन जायगी और अनेक मूर्खतापूर्ण और निरर्थक कामोंसे तुम्हारी रक्षा करेगी।

कार्यके आरंभमें प्रायः ऐसा किया जा सकता है, किंतु जैसे-जैसे कोई कार्यमें लीन होता जाता है वैसे-वैसे भूलता जाता है। स्मृति बनाये रखनेका क्या उपाय है?

जिस अवस्थाको प्राप्त करना है, जो योगकी वास्तविक उपलब्धि, अंतिम पूर्णता और सिद्धि है, जिसके लिये बाकी सब कुछ केवल तैयारी है, वह है एक ऐसी चेतना जिसमें भगवान्के बिना कुछ भी नहीं हो सकता। तब यदि तुम भगवान्के बिना रहो तो तुम्हारी क्रियाका स्रोत ही लुप्त हो जाता है, ज्ञान, शक्ति सब कुछ चले जाते हैं। परंतु जबतक तुम यह अनुभव करते रहोगे कि जिन शक्तियोंका तुम उपयोग कर रहे हो वे तुम्हारी अपनी हैं तब तक तुम्हें भगवान्के सहारेका अभाव न खटकेगा।

योग-साधनाके आरंभमें बहुत संभव है कि तुम बहुधा भगवान्को भूल जाओ। परंतु सतत अभीप्साके द्वारा तुम स्मृतिको बढ़ाते और विस्मृतिको घटाते हो। परंतु यह किसी कठोर तपस्या या कर्तव्यके रूपमें नहीं करना चाहिये, यह साधना प्रेम और आनंदकी एक सहज अभिव्यक्ति होनी चाहिये। तब शीघ्र ही एक ऐसी अवस्था आ जायगी कि अगर तुम प्रत्येक क्षण और प्रत्येक कार्यमें भगवान्की उपस्थितिका अनुभव न करो तो तुम तुरत अपने-आपको अकेला, उदास और दुःखी अनुभव करने लगोगे।

जब भी तुम्हें यह दिखायी दे कि तुम भगवान्की उपस्थितिका अनुभव किये बिना ही कोई काम कर सकते हो और फिर भी चैनसे रह सकते हो तभी तुम्हें समझना चाहिये कि तुम्हारी सत्ताके उस भागका अभीतक समर्पण नहीं हुआ है। यह तो साधारण मानव समाजका तरीका है जिसे भगवान्की जरूरत नहीं मालूम पड़ती। परंतु दिव्य जीवनके साधकका मार्ग सर्वथा भिन्न है। और जब भगवान्के साथ तुम्हारी पूर्ण रूपसे एकता हो जाय तो, यदि क्षण-भरके लिये भी भगवान् अपने-आपको तुमसे अलग कर लें तो तुम मर जाओगे। क्योंकि तब भगवान् ही तुम्हारे प्राणके प्राण,

तुम्हारा समग्र अस्तित्व, तुम्हारा एकमात्र सहारा होते हैं। तब यदि भगवान् न हों तो तुम्हारे पास कुछ रह ही नहीं जाता।

साधनाकी आरंभिक अवस्थामें क्या साधारण कोटिकी पुस्तकोंका पढ़ना साधकके लिये उचित है?

धर्मग्रन्थोंको पढ़ते हुए भी तुम भगवान्से दूर रह सकते हो और अत्यंत मूर्खतापूर्ण प्रकाशनोंको पढ़ते हुए भी तुम भगवान्के स्पर्शमें रह सकते हो। जबतक रूपांतरका स्वाद न ले लो तबतक रूपांतरित चेतना और उसकी गतियोंको समझना असंभव है। भगवान्के साथ एकता-प्राप्त चेतनाका एक मार्ग है जिसके द्वारा तुम जो कुछ पढ़ो, जो कुछ देखो उस सबमें रस ले सकते हो, यहांतक कि अत्यंत निरर्थक पुस्तकोंमें भी और अत्यंत अरुचिकर दृश्योंमें भी रस ले सकते हो। तुम अत्यंत घटिया संगीतको — ऐसे संगीतको भी जिसे सुनकर कोई वहांसे भाग जाना चाहे — सुनकर भी आनंद ले सकते हो, उसके बाह्य स्वरूपके कारण नहीं, बल्कि उस संगीतके पीछे जो कुछ है उसके कारण। तुम उच्च कोटिके संगीत और हीन कोटिके संगीतका विवेक नहीं गंवा देते, बल्कि तुम इन दोनोंके द्वारा उस चीज तक पहुंच जाते हो जिसे संगीत व्यक्त करता है। संसारमें ऐसी कोई चीज है ही नहीं जिसका अंतिम सत्य और आश्रय भगवान्में न हो। और यदि किसी चीजके भौतिक, नैतिक या सौन्दर्यमय रूपको देखकर तुम वहीं न रुक जाओ, बल्कि उसके परे पहुंचकर उसकी आत्माका, उस चीजमें भगवान्का जो अंश है उसे स्पर्श करो तो साधारण इन्द्रियोंको तुच्छ, दुःखदायी अथवा बेसुरी लगनेवाली चीजमें भी सौन्दर्य और आनंदको प्राप्त कर सकोगे।

अपने भूतकालका औचित्य दिखलानेके लिये क्या यह कहा जा सकता है कि जीवनमें जो कुछ घटना घटी है वह घटनी ही चाहिये थी?

यह तो स्पष्ट ही है कि जो कुछ हुआ है वह होनेको था, यदि उस प्रकार अभिप्रेत न होता तो वह होता ही नहीं। हमने जो भूलें की हैं, हमपर जो विपत्तियां पड़ी हैं वे भी होनी ही थीं, उनकी भी कोई आवश्यकता थी, हमारे जीवनमें उनका उपयोग था। परन्तु सच पूछो तो इन बातोंको मन-के द्वारा समझाना असंभव है और समझाना चाहिये भी नहीं। जो

कुछ हमारे जीवनमें बीता है वह आवश्यक था, किसी मानसिक कारणसे नहीं, बल्कि मन जिसकी कल्पना कर सकता है उसके परे ले जानेके लिये। परन्तु क्या इसकी व्याख्या करनेकी कोई आवश्यकता है? यह समग्र ब्रह्माण्ड प्रत्येक चीजकी व्याख्या प्रत्येक क्षण स्वयं कर रहा है और यह समग्र विश्व जैसा है उसके कारण ही कोई विशिष्ट घटना घटती है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम प्रकृतिके निष्ठुर नियमोंको अपनी अन्ध अनुमति देनेके लिये बाधित हैं। तुम अपने भूतकालको निश्चित तथ्य कहकर स्वीकार कर सकते हो और यह समझ सकते हो कि उसकी एक आवश्यकता थी; फिर भी उससे तुम्हें जो अनुभव मिला है उसका उपयोग तुम उस शक्तिके निर्माणके लिये कर सकते हो जो तुम्हें अपने वर्तमान और भविष्यका सचेतन रूपसे संचालन और गठन करनेकी क्षमता दे।

भगवान्‌की योजनामें क्या हर एक घटनाका काल भी निश्चित रहता है?

सब कुछ इसपर निर्भर है कि कौन किस भूमिकासे देखता और बोलता है। भागवत चेतनाकी एक भूमिका है जहां सब कुछ पूर्णतः जाना हुआ रहता है और सृष्टिकी समस्त योजना पूर्वदृष्ट और पूर्वनिश्चित रहती है। इस प्रकारकी दृष्टि तो अतिमानस लोककी उच्चतम भूमिकामें पहुंचनेपर ही प्राप्त होती है, यह परम पुरुषकी अपनी दृष्टि है। परन्तु जब हमारे पास वह चेतना नहीं है तो वहांकी बातें करना निरर्थक है, क्योंकि वहांकी बातें उस भूमिकापर ही काम देती हैं और वे हमारी वर्तमान दृष्टिसे परे हैं। चेतनाकी निम्नतर भूमिकामें पहलेसे कुछ भी सिद्ध या नियत नहीं होता, सब कुछ तैयार होनेकी प्रक्रियामें रहता है। यहां निश्चित तथ्य नहीं होते, केवल संभावनाओंका खेल होता है, और इन संभावनाओंके संघर्षमेंसे ही वह वस्तु सिद्ध की जाती है जो होनेको है। हम इस भूमिकापर पसन्द और चुनाव कर सकते हैं। हम एक संभावनाको त्याग कर दूसरीको स्वीकार कर सकते हैं, एक मार्गका अनसरण कर दूसरेको छोड़ सकते हैं, हम यह सब कर सकते हैं, फिर भी हो सकता है कि जो हो रहा है वह वस्तुतः किसी उच्चतर भूमिकामें पूर्वदृष्ट और पूर्वनिश्चित हो।

परम चेतना हर बातको पहलेसे जानती है, क्योंकि उसकी अनन्ततामें सब कुछ पहलेसे ही सिद्ध होता है। परन्तु अपनी लीलाके लिये और जो कुछ उसकी परम आत्मामें पूर्वनिर्दिष्ट है उसे पार्थिव भूमिकापर कार्यान्वित करनेके लिये यहां पृथिवीपर वह इस प्रकार विचरती है मानों समस्त

कहानी उसे ज्ञात ही न हो, वह इस प्रकार कार्य करती है मानों वह किसी नये और अपरिचित सूतको बुन रही हो। उच्चतर चेतनामें पूर्वनिश्चित समस्त विषयोंके सम्बन्धमें उसे जो भविष्यका ज्ञान है उसकी ऊपरसे ढिखने-वाली यह विस्मृति क्रियात्मक जीवनमें व्यक्तिको अपनी स्वतंत्रता, स्वाधीनता और आरंभ-शक्तिका भान कराती है। व्यक्तिके ये तत्त्व ही उस चेतनाके व्यावहारिक यंत्र और साधन हैं और इनके द्वारा ही ऐसी गतियों और परिणामोंको इस पार्थिव भूमिकापर सिद्ध किया जा सकता है जिन्हें अन्य भूमिकापर पहलेसे देखा जा चुका हो और उनकी योजना बनायी जा चुकी हो।

यदि तुम नाटकके एक पात्रका उदाहरण लो तो इस विषयको समझने-में सहायता मिलेगी। नाटकके पात्रको अपनी भूमिकाका पूरा-पूरा ज्ञान रहता है। रंगमंचपर होनेवाली घटनाका क्रम और परिणाम उसके मन-में होता है। परन्तु जब वह रंगमंचपर होता है तो उसे ऐसे दिखाना पड़ता है मानों वह कुछ जानता ही नहीं, उसे इस प्रकार अनुभव और अभिनय करना पड़ता है मानों वह इन सब बातोंको जीवनमें पहली बार अनुभव कर रहा है, मानों आकस्मिक घटनाओं और आश्चर्योंसे भरा हुआ कोई एकदम नया जगत् उसकी आंखोंके आगे खुल रहा है।

तो क्या वास्तविक स्वतंत्रता जैसी कोई चीज है ही नहीं? या सब कुछ, यहांतक कि जीवकी स्वतंत्रता भी पूर्ण रूपसे पूर्व-निर्धारित रहती है, और क्या प्रारब्धवाद ही परम रहस्य है?

स्वतंत्रता और प्रारब्ध, स्वाधीनता और नियतिवाद, ये चेतनाके विभिन्न स्तरोंके सत्य हैं। अज्ञानके कारण मन इन्हें एक ही स्तरपर लाकर रख देता है और इनमें विरोध देखता है। चेतना एक ही प्रकारकी सद्वस्तु नहीं है, वह बहुविध है, वह किसी समतल भूमि जैसी नहीं है, उसके अनेक आयाम हैं। उच्चतम ऊंचाईपर परम पुरुष हैं और निम्नतम गहराईमें जड़-प्रकृति है और इस निम्नतम गहराई और उच्चतम ऊंचाईके बीचमें चेतनाओंकी अनन्त भूमिकाओंका क्रमविन्यास है।

जड़-प्रकृतिके क्षेत्रमें और साधारण चेतनाके स्तरपर तुम्हारे हाथ-पैर बंधे रहते हैं। प्रकृतिकी यांत्रिकताके गुलाम होनेके कारण तुम कर्मकी सांकलसे जकड़े हुए हो, और इस सांकलके बन्धनमें रहते हुए जो कुछ होता है वह अचूक रूपसे पूर्वकर्मोंके परिणामस्वरूप होता है। इस अवस्थामें स्वतंत्र गतिका जो भान होता है वह भ्रम है, यथार्थमें जो दूसरे करते हैं तुम भी

उसीको दोहराते रहते हो, प्रकृतिकी जो विश्वगतियां हैं तुम उनकी प्रति-ध्वनिमात्र हो, तुम उसके विश्व-यंत्रके कुचल देनेवाले माया-चक्रपर चढ़कर असहाय रूपसे चक्कर खाते रहते हो।

परन्तु यह होना आवश्यक नहीं है। तुम चाहो तो अपनी स्थितिको बदल सकते हो और नीचे पड़े रहकर रौंदे जाने या कठपुतलीकी तरह नचाये जानेके बदले ऊपर उठ सकते हो और वहींसे संसार-चक्र और उसकी अवस्थाओंको देख सकते हो तथा तुम अपनी चेतनाके परिवर्तनद्वारा इस चक्रको घुमानेवाले किसी हत्थेको कब्जेमें कर सकते हो जिससे इन अनिवार्य दीखनेवाली घटनाओंका परिचालन कर सको और निश्चित अवस्थाओं-को बदल सको। एक बार तुम अपने-आपको इस भंवरसे बाहर निकालकर ऊपर खड़े हो सको तो अपने-आपको मुक्त पाओगे, इतना ही नहीं कि विवशताओंसे मुक्ति पाकर तुम प्रकृतिके निष्क्रिय उपकरण न रहोगे, तुम उसके सक्रिय प्रतिनिधि बन जाओगे। केवल यही नहीं कि तुम अपने कर्मफलोंके बन्धनसे मुक्त हो जाओगे, बल्कि तुम अपने कर्मफलको बदल भी सकोगे। एक बार तुम शक्तियोंकी लीलाको देख पाओ, चेतनाकी उस भूमिकामें ऊपर उठ जाओ जहांसे शक्तियोंका प्रादुर्भाव होता है और इन गतिशील उद्गमोंके साथ अपने-आपको एक कर लो, तो तुम उस श्रेणीके नहीं रहोगे जिसे परिचालित किया जाता है, बल्कि उस श्रेणीके हो जाओगे जो परिचालन करती है।

यही है योगका वास्तविक ध्येय — कर्म-चक्रसे बाहर निकलकर भागवत गतिमें प्रवेश करना। योगके द्वारा तुम प्रकृतिकी उस यांत्रिक गतिसे छुट-कारा पा सकते हो जिसमें तुम एक मूढ़ गुलाम, एक असहाय और बेबस उपकरण-भर हो। तुम एक दूसरी भूमिकामें ऊपर उठ जाते हो जहां किसी उच्चतर भवितव्यताको कार्यमें परिणत करनेके लिये तुम एक सचेतन सहयोगी और सक्रिय प्रतिनिधि बन जाते हो। चेतनाकी यह गति द्विविध होती है। पहले आरोहण होता है, तुम अपने-आपको जड़-प्राकृतिक चेतना-की सतहसे ऊपर उठाकर श्रेष्ठतर क्षेत्रोंमें ले जाते हो। परन्तु निचले क्षेत्रोंसे ऊपरले क्षेत्रोंमें आरोहण ऊपरकी चेतनाको निचले क्षेत्रोंमें उतरनेके लिये बुलाना है। जब तुम पृथ्वीसे ऊपर उठते हो तो ऊपरकी किसी चीजको भी इस पृथ्वीपर उतार लाते हो — किसी ऐसी ज्योति या शक्ति-को जो इस पृथ्वीकी पुरानी प्रकृतिका रूपान्तर कर देती है या उसे रूपांतरित होनेके लिये प्रवृत्त करती है। और तब जो चीजें अभीतक एक-दूसरेसे अलग, बेमेल और विषम थीं, तुम्हारे अन्दर जो कुछ उच्च है वह और जो कुछ निम्न है वह, तुम्हारी सत्ता और चेतनाके आन्तर

और बाह्य स्तर, एक दूसरेसे मिलते और धीरे-धीरे आपसमें जुड़ जाते हैं तथा क्रमशः एक सत्य और एक सामंजस्यमें परिणत हो जाते हैं।

लोग जिन्हें चमत्कार कहते हैं, वे इसी तरह होते हैं। यह जगत् चेतनाकी अनेक भूमिकाओंसे बना है और प्रत्येक भूमिकाके अपने-अपने नियम हैं। एक भूमिकाके नियम दूसरी भूमिकापर लागू नहीं होते। चमत्कारका अर्थ है किसी प्रकारका आकस्मिक अवतरण, किसी अन्य चेतना और उसकी शक्तियोंका — बहुधा प्राणकी शक्तियोंका — इस स्थूल भौतिक लोकमें उतर आना। यहांकी स्थूल भौतिक यंत्र-रचनापर किसी उच्चतर भूमिकाकी यंत्र-रचना हठात् उतर आती है। यह ऐसे होता है मानों हमारी साधारण चेतनाके बादलोंको चीरकर बिजली उतर आयी हो और उसने अन्य शक्तियों, अन्य गतियों तथा अन्य परिणामोंको भर दिया हो। इसके फलको हम चमत्कार कहते हैं, क्योंकि हमारी साधारण भूमिकामें जो स्वाभाविक नियम काम कर रहे हैं उनमें अचानक परिवर्तन दिखायी देता है, ऐसा जान पड़ता है कि इन नियमोंमें एकाएक कोई हेर-फेर हो गया है, लेकिन हम उसके कारण और क्रमको जान या देख नहीं पाते, क्योंकि इस चमत्कारका मूल कारण तो किसी और ही भूमिकामें होता है। हमारे पार्थिव लोकपर अन्य ऊर्ध्व लोकोंके इस प्रकारके हमले बहुत असाधारण नहीं हैं। ये बराबर होते ही रहते हैं, और यदि हमारे आंखें हों और देखना जानते हों तो हमें बहुत चमत्कार दिखायी देंगे। विशेषतः जो उच्चतर भूमिकाओंकी शक्तियोंको इस पार्थिव चेतनापर उतारनेका प्रयत्न कर रहे हैं, उनमें तो ये अनवरत होते ही रहते हैं।

क्या सृष्टिका कोई निश्चित लक्ष्य है? क्या इसका कोई अन्तिम ध्येय है जिसकी ओर यह अग्रसर हो रही है?

नहीं, यह विश्व एक गति है जो शाश्वत रूपसे अपने-आपको फैलाती जा रही है। ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे इति कहा जा सके, जो अन्तिम लक्ष्य हो। परन्तु कार्य-संचालनके लिये हमें इस गतिके — जो स्वयं अनन्त है — खण्ड करने पड़ते हैं और यह कहना पड़ता है कि हमारा अमुक उद्देश्य है, क्योंकि कार्य करनेके लिये हमें किसी ऐसी चीजकी आवश्यकता पड़ती है जिसपर हम अपना लक्ष्य बांध सकें। एक चित्र आंकनेमें तुम्हें उसकी रचना और रंगोंकी निश्चित आयोजना करनी पड़ती है, एक सीमा बांधनी होती है ताकि जो कुछ चित्रित करना है वह सब एक नियत ढांचेमें आ जाय, किन्तु वह सीमा मिथ्या होती है, वह ढांचा केवल

औपचारिक होता है। असलमें चित्रका एक सतत प्रवाह होता है जो किसी भी विशिष्ट ढांचेका अतिक्रमण करता है और उसकी प्रत्येक धारा उसी प्रकार एक-एक ढांचेमें उतारी जा सकती है और इस प्रकार अनगिनत ढांचोंका कभी न समाप्त होनेवाला क्रम बन सकता है। हम कहते हैं कि हमारा लक्ष्य अमुक है, किन्तु हम जानते हैं कि यह इससे परेके लक्ष्यका प्रारंभमात्र है और फिर वह अगले लक्ष्यकी ओर ले जाता है और यह शृंखला सदा बढ़ती रहती है कभी बंद नहीं होती।

५ मई, १९२९

बुद्धिका यथार्थ व्यापार क्या है? यह साधनामें सहायक है या बाधक?

साधनामें बुद्धिका सहायक या बाधक होना इसके उपयोग करनेवाले व्यक्तिपर और उपयोगके ढंगपर निर्भर है? बुद्धिकी क्रिया सही होती है और गलत भी। एक सहायक होती है और दूसरी बाधक। जो बुद्धि अपने-आपको बहुत अधिक महत्त्व देती है और अपनी संतुष्टि चाहती है, वह उच्चतर सिद्धिमें बाधक होती है।

परन्तु यह बात किसी विशेष अर्थमें ही सत्य नहीं है और केवल बुद्धिपर ही लागू नहीं होती, यह सर्वसाधारण है और मनुष्यकी अन्य शक्तियोंपर भी उसी प्रकार लागू होती है। उदाहरणार्थ, प्राणकी वासनाओं अथवा पाशविक तृष्णाओंकी तृप्तिमें ही लीन रहनेकी वृत्तिको लोग सद्गुण नहीं मानते। इस सम्बन्धमें वे नैतिक धारणाको एक परामर्शदाताके तौरपर स्वीकार करते हैं जो उन्हें वह सीमा दिखाता है जिसका उल्लंघन करना अनुचित है। केवल बुद्धिकी क्रियाओंके सम्बन्धमें ही आदमी समझता है कि वह किसी नियंत्रण या अंकुशके बिना रह सकता है।

सत्ताका हर भाग जो अपने उचित स्थानपर रहता और अपने नियत धर्मका पालन करता है, सहायक होता है, किन्तु जैसे ही वह अपनी सीमाके बाहर निकला कि वह आकुंठित, विकृत और इस कारण मिथ्या बन जाता है। किसी भी शक्तिका प्रयोग जब भागवत प्रयोजनकी पूर्तिके लिये किया जाता है तब वह उचित होती है, किन्तु वही शक्ति जब अपने ही

संतोषके लिये प्रयोगमें लायी जाती है तो उसकी गति अनुचित होती है।

बुद्धि, अपने सत्य स्वरूपमें, अभिव्यक्ति और कर्मका उपकरण है। मनके ऊपर, उच्चतर भूमिकाओंमें स्थित जो सच्चा ज्ञान है और यहां पार्थिव भूमिकापर उसकी जो उपलब्धि होती है — बुद्धि इन दोनोंके बीच मध्यवर्तीकी न्याईं है। बुद्धि, और साधारण रूपमें कहा जाय तो मन, आकार प्रदान करता है, प्राण इसमें गतिशीलता लाता है और जीवन-शक्तिका संचार करता है, और सबके अन्तमें जड़-तत्त्व आता है जो इसे स्थूल रूप देता है।

विरोधी शक्तियोंका, जो अगोचर होते हुए भी जीवन्त और स्पष्टतया अनुभवनीय हैं, मुकाबला कैसे करना चाहिये ?

बहुत कुछ तुम्हारी चेतनाके विकासकी अवस्थापर निर्भर है। आरंभमें यदि तुम्हारे पास विशेष गुप्त ज्ञान और शक्ति न हों तो तुम्हारे लिये सबसे अच्छी बात यही है कि तुम जहांतक संभव हो शान्त और स्थिर रहो। यदि आक्रमण विरोधी सुझावोंका रूप ले तो उसे शान्तिके साथ ठीक उसी तरह दूर फेंकनेकी कोशिश करो जैसे किसी भौतिक पदार्थको फेंका जाता है। तुम जितने अधिक शान्त रहोगे उतने ही अधिक शक्तिशाली बनोगे। सभी आध्यात्मिक शक्तियोंका सुदृढ़ आधार है समचित्तता। किसी चीजको अपना संतुलन न बिगाड़ने दो, तब तुम हर प्रकारके आक्रमणका प्रतिरोध कर सकोगे। इसके अतिरिक्त, यदि तुम्हारे पास यथेष्ट विवेक शक्ति हो और तुम विरोधी सुझावोंको पास आते ही देख और पकड़ सको तो उन्हें निकाल बाहर करना और भी सहज हो जाता है; किन्तु कभी-कभी ये अलक्षित रूपसे घुस आते हैं और तब इनसे युद्ध करना अधिक कठिन होता है। जब ऐसा हो तो तुम्हें स्थिर होकर बैठना चाहिये और शान्ति तथा गभीर आंतरिक स्थिरताका आवाहन करना चाहिये। अपने-आपको दृढ़ बनाये रखो, श्रद्धा तथा विश्वासके साथ भगवान्को पुकारो। यदि तुम्हारी अभीप्सा शुद्ध और स्थिर है तो तुम अवश्य सहायता प्राप्त करोगे।

विरोधी शक्तियोंके आक्रमण अपरिहार्य हैं। तुम्हें इनको अपने मार्गमें परीक्षाके रूपमें लेना और इन अग्नि-परीक्षाओंमेंसे साहसके साथ गुजरना चाहिये। यह संघर्ष कठिन हो सकता है किन्तु जब तुम इसे पार करके बाहर निकलोगे तो देखोगे कि तुमने कुछ प्राप्त किया है, तुम एक कदम आगे बढ़े हो। विरोधी शक्तियोंके होनेकी भी एक आवश्यकता है। ये

तुम्हारे निश्चयको अधिक दृढ़ और तुम्हारी अभीप्साको अधिक स्पष्ट बनाती है।

फिर भी, यह सत्य है कि इनका अस्तित्व इसीलिये है कि तुमने इनके अस्तित्वके लिये कारण दे रखा है। जबतक तुममें कोई भी चीज ऐसी हो जो इन्हें पुकारका उत्तर देती हो तबतक इनका हस्तक्षेप करना सर्वथा उचित है। यदि तुम्हारा कोई भी भाग इन्हें प्रत्युत्तर न दे, यदि तुम्हारी प्रकृतिके किसी भी अंशपर इनका वश न हो तो ये शक्तियां लौट जायंगी और तुम्हें छोड़ देंगी। परन्तु कुछ भी क्यों न हो, ये तुम्हारी आध्यात्मिक प्रगतिको रोक या अटका नहीं सकतीं।

विरोधी शक्तियोंसे युद्धमें तुम्हारी पराजय एक ही कारणसे हो सकती है और वह है भगवान्की सहायतामें सच्चे विश्वासका न होना। अभीप्साकी सच्चाई आवश्यक साहाय्यको सदा ले ही आती है। शान्त आवाहन, यह विश्वास कि सिद्धिकी ओर आरोहणमें तुम कभी अकेले नहीं रहते और यह श्रद्धा कि जब कभी किसी सहायताकी आवश्यकता हो तो वह सदा उपस्थित होती है — तुम्हें सहज और निरापद रूपसे पार लगा देंगे।

ये विरोधी शक्तियां साधारणतया बाहरसे आती हैं या अन्दरसे ?

यदि तुम समझते या अनुभव करते हो कि ये अन्दरसे आती हैं तो संभवतः तुमने अपने-आपको उनके लिये खोल दिया है और वे तुम्हारे अन्दर अलक्षित रूपसे आकर जम गयी हैं। वस्तुओंका सच्चा स्वभाव सामंजस्यका होता है, किन्तु कुछ जगत् ऐसे हैं जहां इस सामंजस्यमें विकार पैदा होता है जिसके फलस्वरूप विकृति और विरोधकी सृष्टि हो जाती है। विकार पैदा करनेवाले इन जगतोंके साथ यदि तुम्हारा बहुत अधिक मेल हो तो हो सकता है कि वहांकी सत्ताओंके साथ तुम मित्रता स्थापित कर लो और उनकी पुकारपर पूरा सहयोग दो। यह होता तो है, किन्तु यह कोई अच्छी अवस्था नहीं है। चेतना तुरन्त अन्धी हो जाती है और तुम सत्य-असत्यमें विवेक करनेमें असमर्थ हो जाते हो तथा यह कहने योग्य भी नहीं रह जाते कि कौन-सी चीज मिथ्या है और कौन-सी नहीं।

बहरहाल, बुद्धिमानी इसीमें है कि जब कोई आक्रमण हो तो यही समझा जाय कि यह बाहरसे आया है और कहा जाय : "यह मेरा स्वरूप नहीं है और मैं इससे किसी प्रकारका संपर्क नहीं रखूंगा।" समस्त निम्नतर आवेगों और इच्छाओं तथा मनके समस्त संदेहों और शंकाओंके साथ भी तुम्हें यही व्यवहार करना होगा। यदि तुम अपने-आपको इनके साथ तदा-

कार कर लो तो इनके साथ तुम्हारा युद्ध और भी विकट हो जाता है, कारण उस समय तुम यह अनुभव करने लगते हो कि तुम अपने ही स्व-भावको पराजित करनेके अति दुष्कर कार्यमें लगे हो। परन्तु जैसे ही तुम यह कह सको : "नहीं, यह मेरा स्वरूप नहीं है, इससे मैं किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखूंगा," वैसे ही इनको हराकर भगा देना अधिक सहज हो जायगा।

आन्तर और बाह्यके बीच रेखा कहां खींची जा सकती है ?

यह रेखा अत्यन्त लचकीली होती है, तुम चाहो तो बिलकुल समीप हो सकती है और चाहो तो दूर हो सकती है। तुम हर एक बातको अपने ऊपर लेकर उसे अपनी वास्तविक आत्माका एक अंग और अंश मान सकते हो और चाहो तो उसे एक केश या नाखूनके टुकड़ेकी तरह, जरा भी प्रभा-वित हुए बिना दूर फेंक सकते हो।

ऐसे धर्म भी हुए हैं जिनके अनुयायी अपने केश या नाखूनके एक टुकड़े-को भी अपनेसे अलग नहीं करते थे, उन्हें भय था कि कहीं अपने व्यक्ति-त्वके किसी भागको न गंवा दें। जो अपनी चेतनाको जगत्‌के जितना विशाल बनाकर फैलानेमें समर्थ होते हैं वे जगत् बन जाते हैं, किन्तु जो अपने क्षुद्र शरीरों और सीमित अनुभवोंमें ही बन्द रहते हैं वे उन सीमाओं-पर जाकर रुक जाते हैं; उनके लिये शरीर और सीमित अनुभव ही सारा व्यक्तित्व बनकर रह जाते हैं।

क्या केवल श्रद्धा सब कुछ सृजन कर सकती है, सब कुछ जीत सकती है ?

हां, किन्तु यह श्रद्धा सर्वांगपूर्ण और निरपेक्ष होनी चाहिये। यह ठीक प्रकारकी होनी चाहिये, केवल मानसिक विचार या संकल्पकी शक्ति-भर नहीं, उससे बढ़कर और गहरी होनी चाहिये। मनके द्वारा प्रयुक्त संकल्प विरोधी प्रतिक्रियाओंको उभाड़ता और प्रतिरोध उत्पन्न करता है। तुमने एमिल कूएकी चिकित्सा-पद्धतिके बारेमें सुना होगा। वे इस शक्तिके किसी रहस्यको जानते थे और उन्होंने इसका प्रयोग बहुत कुछ सफलतापूर्वक किया था। परन्तु वे इसे कल्पना कहते थे और उनकी पद्धतिने श्रद्धाको बहुत अधिक मानसिक रूप दे दिया था। मानसिक श्रद्धा पर्याप्त नहीं है, इस श्रद्धाको प्राणकी श्रद्धाद्वारा और भौतिक श्रद्धा, अर्थात्, शरीरकी श्रद्धाद्वारा

भी पूर्ण और शक्तिशालिनी बनाना चाहिये। यदि तुम अपने अन्दर, अपनी समस्त सत्तामें इस प्रकारकी एक सर्वांग संपूर्ण शक्तिकी सृष्टि कर सको तो कोई चीज इस शक्तिका प्रतिरोध नहीं कर सकेगी। परन्तु तुम्हें अपने अत्यन्त अचेतन भागोंतक पहुंचना होगा, अपने शरीरके एक-एक अणुमें इस श्रद्धाको स्थापित करना होगा। उदाहरणार्थ, आजकल वैज्ञानिकोंमें भी इस ज्ञानका प्रारंभ हो चुका है कि 'मृत्यु' आवश्यक नहीं है। परन्तु सारी मानवजाति 'मृत्यु'में दृढ़तापूर्वक विश्वास करती है; कहा जा सकता है कि यह मनुष्योंमें सर्वसाधारण रूपसे बैठी हुई एक धारणा है जो दीर्घ कालसे अपरिवर्तनशील अनुभवपर स्थापित है। यदि इस विश्वासको पहले तो सचेतन मनसे और फिर प्राण-प्रकृति और अवचेतन भौतिक स्तरोंसे निकाल बाहर किया जाय तो मृत्यु अपरिहार्य नहीं रह जायगी।

परन्तु मृत्युकी यह धारणा केवल मानव-मनमें ही तो नहीं है। पशुजाति इसे मनुष्यके पहलेसे जानती थी।

इस पृथ्वीपर समस्त जीवनके साथ मृत्यु एक तथ्यके रूपमें लगायी गयी है, किन्तु प्रकृतिने इसे जिस मूल अर्थमें रखा था, मनुष्य इसे उससे भिन्न अर्थमें समझते हैं। मनुष्य और मनुष्य-तलके नजदीकवाले पशुओंकी चेतनामें मृत्युकी आवश्यकताका एक विशिष्ट रूप और एक विशिष्ट अर्थ हो गया है। निम्नतर प्रकृतिमें जो अवचेतन ज्ञान है, जो इस अर्थको आश्रय दिये हुए है, वह है फिरसे नया होनेकी, परिवर्तन और रूपान्तरकी आवश्यकताका अनुभव।

पृथ्वीपर जड़-तत्त्वकी अवस्थाओंने ही मृत्युको अनिवार्य बनाया। जड़-तत्त्वके विकासका सारा अर्थ ही है पहलेकी अचेतन अवस्थासे उत्तरोत्तर बढ़ती हुई चेतनामें परिणत होना। और परिणत होनेकी इस प्रक्रियामें, जब यह सब यथार्थमें क्रियान्वित होने लगा तो आकारोंका विनाश आवश्यक हो गया। कारण, संगठित व्यष्टिगत चेतनाको स्थायी सहारा देनेके लिये स्थिर रूपकी आवश्यकता हुई। और आकारकी इस स्थिरताने ही मृत्युको अपरिहार्य बना दिया। क्योंकि जड़-तत्त्वको आकार धारण करने थे, क्योंकि आकार धारण किये बिना जीवन-शक्तियों अथवा चेतनाकी शक्तियों-का व्यष्टिकरण तथा पिंड-रूप असंभव था और इनके बिना पार्थिव भूमिका-पर संगठित अस्तित्वके लिये प्रारंभिक अवस्थाओंका अभाव होता। परन्तु आकारमें बंधी पिंड-रूप रचनाका यह स्वभाव है कि वह तुरन्त कठोर, अनम्य पाषाणवत् बन जानेकी ओर प्रवृत्त होती है। व्यक्तिगत आकार सब ओरसे

बांध रखनेवाले सांचेके रूपमें स्थिर और कायम रहना चाहता है, वह शक्तियोंकी गतियोंका अनुसरण नहीं कर सकता, विश्व लीलाकी गतिशीलतामें जो परिवर्तन होते रहते हैं उनके साथ सामंजस्य रखकर वह अपनेको परिवर्तित नहीं कर सकता, प्रकृतिकी मांगोंको वह लगातार पूरा नहीं कर सकता और वह उसके साथ-साथ नहीं चल सकता, वह प्रवाहके बाहर हो जाता है। आकार और उसपर दबाव डालनेवाली शक्तिके बीच जो उत्तरोत्तर बढ़ती हुई असमानता और असामंजस्य है जब वह एक विशिष्ट सीमातक पहुंच जाता है तो आकारको पूर्ण रूपसे नष्ट कर देना अनिवार्य हो जाता है। तब एक नये आकारकी सृष्टि करनी पड़ती है, एक नवीन सामंजस्य और समानताको संभावित करना पड़ता है। मृत्युका सच्चा अर्थ यही है और प्रकृतिमें इसका यही उपयोग है। परन्तु आकार यदि अधिक फुर्तीला और नमनशील बन सके और शरीरके अणुओंको बदलती हुई चेतनाके अनुसार जाग्रत किया जा सके तो ऐसे उग्र-विनाशकी आवश्यकता नहीं होगी, मृत्यु अपरिहार्य नहीं रह जायगी।

> **किसीने कहा है कि प्रकृतिमें जो दुर्घटनाएं होती हैं और भूकम्प, भयंकर बाढ़ और महाद्वीपोंके जलमग्न होनेके जैसी मुसीबतें आती हैं, वे बेसुरी और पापपूर्ण मानवजातिके कारण ही हैं और मानवजातिकी उन्नति और विकासके साथ-साथ भौतिक प्रकृतिमें भी तदनुरूप परिवर्तन हो जायगा — यह बात कहांतक सत्य है?**

इस विषयका सत्य शायद यह है कि विपत्तियों और मुसीबतोंसे ग्रस्त प्रकृतिमें तथा असामंजस्यपूर्ण मानवजातिमें, दोनोंमें, चेतनाकी एक और अभिन्न गति ही अभिव्यक्त होती है। इन दोनोंमें कार्य-कारण संबंध नहीं है, बल्कि ये दोनों एक ही भूमिकापर स्थित हैं। इन दोनोंके ऊपर एक चेतना विद्यमान है जो पृथ्वीपर अभिव्यक्त और मूर्तिमान होनेकी चेष्टा कर रही है। और पृथ्वीकी ओर अवतरण करते हुए मनुष्यों और भौतिक प्रकृतिमें सर्वत्र उसे समान रूपसे प्रतिरोध ही मिलता है। हम पृथ्वीपर जो अव्यवस्था और असामंजस्य देखते हैं वह इस प्रतिरोधका ही फल है। विपत्ति और विपर्यय, संघर्ष और हिंसा, अंधकार और अज्ञान — ये समस्त दोष इस एक ही स्रोतसे निकलते हैं। बाह्य प्रकृतिका कारण मनुष्य नहीं है, और न मनुष्यका कारण बाह्य प्रकृति है। बल्कि दोनों उस एक वस्तुपर

निर्भर हैं जो इनके पीछे है और इनसे महान् है। और दोनों उस वस्तु-को अभिव्यक्त करनेके लिये जड़प्राकृतिक जगत्‌की शाश्वत और प्रगतिशील गतिके अंश हैं।

अब, यदि पृथ्वीपर कहीं ऐसी ग्रहणशीलता जाग्रत हो जाय, एक ऐसा उन्मीलन हो जाय जो अपनी पवित्रतामें भागवत चेतनाकी किसी चीजको उतार लानेके लिये पर्याप्त हो तो जड़ जगत्‌में जो अवतरण या अभिव्यक्ति होगी वह केवल आन्तरिक जीवनका ही रूपान्तर नहीं करेगी, बल्कि जड़-प्राकृतिक अवस्थाओंका भी, मनुष्य और प्रकृतिमें जो भौतिक अभिव्यक्ति हो रही है, उसका भी रूपान्तर कर सकेगी। यह अवतरण मानवजातिकी सामूहिक अवस्थापर निर्भर नहीं है। यदि हमें मानवसमूहकी सामंजस्य, एकता और अभीप्साकी उस अवस्थातक पहुंचनेकी प्रतीक्षा करनी पड़े जो दिव्य प्रकाशको उतार लाने और जड़प्राकृतिक अवस्थाओंका रूपान्तर करने-के लिये काफी बलवान् हो, तब तो बहुत आशा नहीं की जा सकती। परन्तु ऐसी संभावना है कि कोई एक व्यक्ति अथवा कोई छोटा-सा संघ या कुछ थोड़े-से लोग इस अवतरणको प्राप्त कर सकें। इस विषयमें संख्या अथवा विस्तारका महत्त्व नहीं है। भागवत चेतनाका एक बिन्दु भी यदि पार्थिव चेतनामें प्रवेश कर जाय तो वह यहां की हर एक वस्तुका रूपान्तर कर सकेगा।

चेतनाकी उच्चतर और निम्नतर भूमिकाओंमें परस्पर-सम्बन्ध स्थापित होने और इनका एक-दूसरेमें मिल जानेका रहस्य ही महान् रहस्य है, गुप्त कुंजी है। इसमें रूपान्तर करनेकी शक्ति सदा ही रहती है; यहां वह शक्ति अधिक परिमाणमें होगी और उच्चतर अवस्थाको प्राप्त करायेगी। यदि पृथ्वीपर कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसमें उस भूमिकाके साथ, जिसकी अभीतक यहां अभिव्यक्ति नहीं हुई है, सचेतन सम्बन्ध स्थापित करनेकी क्षमता हो और उस भूमिकामें ऊपर उठनेके द्वारा वह अपनी चेतनामें उस भूमिका और पार्थिव भूमिकाको मिलाकर उनमें समस्वरता ला सके, तो प्रकृतिके रूपान्तरकी निर्णायक गति शुरू हो सकती है जो अभीतक नहीं हो पायी है। एक नयी शक्तिका अवतरण होगा और पृथ्वीके जीवनकी अवस्थाओंको बदल देगा।

फिर भी, इतना तो है ही कि जब-जब किसी महान् आत्माका आविर्भाव हुआ है और उन्होंने सत्यकी किसी ज्योतिको प्रकट किया अथवा पृथ्वीपर किसी नयी शक्तिका अवतरण कराया तब-तब पृथ्वीकी अवस्थाओंमें फेर-फार हुआ है, यद्यपि परिवर्तन बिलकुल उस प्रकारसे नहीं हुआ जिस प्रकार की आशा और प्रतीक्षा की गयी थी। उदाहरणार्थ, कोई व्यक्ति, जिसने

ज्ञान, चेतना और आध्यात्मिक अनुभूतिकी अमुक भूमिकाको प्राप्त किया है, आया और बोला : "मैं तुम्हारे लिये मुक्ति ला रहा हूं," या "मैं तुम्हारे लिये शान्ति ला रहा हूं।" जो लोग उसके इर्द-गिर्द थे उन्होंने शायद यह समझा कि वह उस वस्तुको स्थूल रूपमें ला रहा है, किन्तु जब उन्होंने देखा कि उन्होंने जैसा सोचा था वैसा कुछ भी नहीं हुआ, तो वे यह न समझ सके कि उसने क्या किया। उसने जो कुछ किया था वह तो चेतनाका एक परिवर्तन था, एक ऐसी शान्ति थी जिसे लोग अभीतक नहीं जानते थे, अथवा मुक्तिलाभ करनेकी ऐसी क्षमता थी जो लोगोंमें पहले नहीं थी। परन्तु ये क्रियाएं आन्तर जीवनसे सम्बन्ध रखती थीं और इनसे जगत्के बाह्य रूपमें कोई दृश्य परिवर्तन नहीं हुआ। संभव है कि जगत्के बाह्य स्वरूपका परिवर्तन करनेकी उसकी इच्छा ही न रही हो, हो सकता है कि इसके लिये उसके पास आवश्यक ज्ञान न हो, फिर भी ऐसे पथ-प्रदर्शक जगत्में कुछ कर गये हैं।

सब कुछ उल्टा दिखायी देनेके बावजूद, यह जरूर हो सकता है कि पृथ्वी किसी सिद्धि-विशेषके लिये एक-एक पग, एक-एक चरण तैयार हो रही है। मानवसभ्यतामें और प्रकृतिमें कुछ परिवर्तन हुआ है। यदि यह प्रत्यक्ष रूपसे दिखायी नहीं देता तो इसका कारण यह है कि हम इस विषयको केवल बाह्य दृष्टिकोणसे ही देखते हैं और यह कि अभीतक जड़-तत्त्व और उसकी कठिनाइयोंका सामना गंभीरतापूर्वक और सम्यक् रूपसे नहीं किया गया है। फिर भी आन्तरिक प्रगति हुई है, आन्तर चेतनामें दिव्य ज्योतिके अवतरण हुए हैं। परन्तु जड़-तत्त्वमें किसी उपलब्धिके बारेमें कुछ कहना कठिन है, कारण वहां जो कुछ हो चुका होगा उसे हम ठीक-ठीक नहीं जानते।

अति प्राचीन कालमें महान् और सुन्दर सभ्यताएं हो चुकी हैं, जिनकी भौतिक अवस्था संभवतः वर्तमान कालके जितनी ही उन्नत थी। एक विशिष्ट दृष्टिकोणसे देखनेपर ऐसा प्रतीत हो सकता है कि अत्यन्त आधुनिक सभ्यता अत्यन्त प्राचीन सभ्यताकी पुनरावृत्ति मात्र है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि कहींपर कोई प्रगति हुई ही नहीं है। कम-से-कम हमारी आन्तरिक प्रगति तो हुई है और हमारे जड़ अंगोंमें उच्चतर चेतनाके आवाहनका प्रत्युत्तर देनेकी तत्परता अधिक परिमाणमें जाग्रत हो गयी है। बार-बार एक ही क्रियाको इसलिये दोहराना पड़ा है कि जिस बातका प्रयास किया गया था वह कभी पर्याप्त रूपमें नहीं हुआ। परन्तु प्रत्येक बार वह पर्याप्त रूपमें किये जानेके समीप पहुंचता रहा है। जब हम किसी कसरतको बारंबार करते हैं तो यह मालूम होता है कि हम सदा

एक ही चीज दुहरा रहे हैं, किन्तु यह होते हुए भी उसके संचित परिणाम-स्वरूप कुछ सफल परिवर्तन होता है।

भूल यह होती है कि हम इन बातोंको मानवचेतनाके सीमित आयामोंमेंसे देखते हैं। और इस तरह देखनेपर ये गहन और विशाल गतियां समझमें नहीं आतीं। मर्यादित मानव बुद्धिद्वारा इन्हें समझने या इनकी व्याख्या करनेका प्रयत्न करना खतरनाक है। यही कारण है कि दर्शन-शास्त्र जगत्के रहस्यका उद्‌घाटन करनेमें सदा असफल रहा है। क्योंकि उसने इस विश्वको मानवमनके छोटे-से ढांचेके अन्दर बैठा देनेकी चेष्टा की है।

हममेंसे कितनोंको अपने पूर्व जन्मोंकी याद है ?

हम सभीमें, चेतनाके एक भागमें, यह स्मृति रहती है। परन्तु यह एक खतरनाक विषय है, मानवमनको अतिरजंनाका बहुत शौक होता है। जैसे ही उसको पुनर्जन्मके सत्यके बारेमें कुछ ज्ञात होता है, वैसे ही वह इसके चारों ओर एक सुन्दर कहानी गढ़ डालना चाहता है। तुम्हें बहुत-से लोग इस बारेमें अद्‌भुत कहानियां सुनायेंगे कि इस सृष्टिकी रचना कैसे हुई, भविष्य-में इसकी क्या गति होगी, तुम पहले कैसे और कहां जन्मे थे और आगे क्या होओगे, कैसे-कैसे जीवन तुमने बिताये हैं और अब कैसे-कैसे जीवन बिताओगे। परन्तु इन सबसे आध्यात्मिक जीवनका कुछ सम्बन्ध नहीं। पूर्वजन्मोंकी सच्ची स्मृति पूर्ण ज्ञानका एक अंग अवश्य हो सकती है, किन्तु इसकी प्राप्ति इस प्रकारकी सुन्दर-सुन्दर कल्पना-तरंगोंद्वारा संभव नहीं है। एक ओरसे यह ज्ञान वस्तुनिष्ठ है तो दूसरी ओरसे बहुत कुछ व्यक्ति-गत और आत्मनिष्ठ अनुभूतिपर निर्भर है और यहीं बनावट और विकार पैदा करने तथा असत्य रचनाओंको गढ़ डालनेकी संभावना रहती है। इन बातोंके सत्यतक पहुंचनेके लिये आवश्यक है कि अनुभव ग्रहण करने वाली चेतना शुद्ध और निर्मल हो, किसी भी मनोमय या प्राणमय हस्त-क्षेपोंसे मुक्त हो और तुम्हारी व्यक्तिगत धारणाओं और भावुकताओंसे तथा मनकी अपने ही तरीकेसे समझाने या व्याख्या करनेकी आदतसे मुक्त हो। पूर्व जन्मोंका अनुभव सत्य हो सकता है, किन्तु तुमने जो देखा और तुम्हारे मनने उसकी जो कुछ व्याख्या की अथवा उसका जो रूप गढ़ा, इन दोनोंके बीचमें एक बड़ी भारी खाई होती है। जब तुम मानव भावनाओंसे ऊपर उठ सको और अपने मनसे अलग हो सको तभी इस सत्यतक पहुंच सकोगे।

१२ मई, १९२९

कुछ मनुष्य पिशाचों जैसे लगते हैं, वे क्या हैं और वे इस तरहके क्यों हैं ?

वे मनुष्य नहीं होते, उनका रूप या दिखावा ही मनुष्यके जैसा होता है। ये लोग भौतिक जगत्‌के बाद ही जो अगला लोक है, जिसे हम प्राण-लोक कहते हैं, वहांकी सत्ताओंके मूर्त रूप होते हैं। वही जगत् समस्त इच्छाओं, आवेगों और आवेशोंका तथा हिंसा, लालच और धूर्तता एवं हर प्रकारके अज्ञानकी गतियोंका निवास है, किन्तु समस्त गतिशीलता समस्त जीवन-शक्तियां और सामर्थ्य भी यहींपर हैं। स्वभावतः इस जगत्‌की सत्ताओंकी हमारे इस जड़प्राकृतिक जगत्‌पर विचित्र-सी पकड़ होती है, और वे इसपर अपना दुष्ट प्रभाव डाल सकती हैं। इनमेंसे कुछ सत्ताएं मनुष्यकी सत्ताके उन अवशेषोंसे बनी होती हैं जो उनके मर जानेके बाद भी पार्थिव भूमिकाके समीप प्राणमय वातावरणमें बने रहते हैं। मनुष्यकी इच्छाएं और लालसाएं मृत्युके बाद भी प्राणमय भूमिकापर तैरती रहती हैं और शरीरके नष्ट हो जानेके बाद भी इनका एक रूप बना रहता है। बहुधा ये अभिव्यक्त होने और अपनेको संतुष्ट करनेके लिये प्रवृत्त होती हैं और इस प्रवृत्तिका ही परिणाम है प्राणमय जगत्‌के इन जंतुओंका जन्म। परन्तु ये मामूली प्राणी हैं और यद्यपि ये अत्यंत दुःखदायी हो सकते हैं, फिर भी इनका मुकाबला करना असंभव नहीं होता। इनके अतिरिक्त अन्य अधिक भयंकर सत्ताएं हैं जो कभी मानव-रूपमें प्रकट नहीं हुईं। वे कभी पृथ्वीपर मनुष्य-शरीरमें नहीं जन्मीं और बहुधा इस प्रकारका जन्म ग्रहण करनेसे इनकार करती हैं, क्योंकि यह जीवन जड़-तत्त्वकी गुलामी है और वे अपने ही जगत्‌में — जहां वे बलवान् हैं और दूसरोंको सता सकती हैं — रहना और वहींसे पार्थिव सत्ताओंपर अधिकार करना अधिक पसंद करती हैं। यद्यपि वे पृथ्वीपर जन्म लेना नहीं चाहतीं तथापि यह अवश्य चाहती हैं कि उनका भौतिक प्रकृतिसे, उसके बन्धनमें आये बिना ही, संबंध बना रहे। उनका तरीका यह है कि पहले तो वे किसी मनुष्यपर अपना प्रभाव जमानेका प्रयत्न करती हैं, फिर धीमे-धीमे उस वातावरणमें घुस आती हैं और अन्तमें उसकी वास्तविक मानव आत्मा और व्यक्तित्वको एकदम बाहर निकालकर उसे पूर्ण रूपसे अपने अधिकारमें कर सकती हैं। ये सत्ताएं जब किसी मनुष्य-शरीरपर अधि-

कार किये हुए हों तो उनका रूप तो मनुष्यों जैसा हो सकता है, पर उनका स्वभाव मनुष्यों जैसा नहीं होता। मनुष्योंकी प्राण-शक्तियोंको चूसते रहना उनकी आदत होती है। जहां कहीं संभव हो वे मनुष्यकी प्राण-शक्तिपर हमला करके उसे अपने कब्जेमें करके उसके द्वारा अपना जीवन निर्वाह करती हैं। यदि ये सत्ताएं तुम्हारे वातावरणमें आ जायं तो तुम एकाएक उदास और क्लान्त हो जाओगे, यदि कुछ कालतक तुम उनके समीप रहो तो बीमार पड़ जाओगे और यदि उनमेंसे किसीके साथ तुम रहने लगो तो संभव है कि वह तुम्हें मार डाले।

परंतु ये सत्ताएं यदि किसीके वातावरणमें घुस चुकी हों तो वहांसे इन्हें कैसे निकाल बाहर किया जाय?

इन सत्ताओंमें मूर्त रूप लेनेवाली प्राण-शक्ति बिलकुल स्थूल भौतिक प्रकारकी होती है और उसका असर थोड़ी दूरतक ही पड़ता है। साधारणतया, यदि तुम उनके साथ एक ही मकानमें न रहो या उनकी संगतिमें न रहो, तो तुम उनके प्रभावोंमें नहीं आ सकते। पर यदि तुम उनके साथ किसी प्रकारका सम्बन्ध या संसर्ग स्थापित करनेके लिये कोई रास्ता खोल दो, उदाहरणार्थ, उनसे पत्र-व्यवहार करो तो तुम इन शक्तियोंके साथ आदान-प्रदान संभव बना देते हो, और तब बहुत दूरसे भी तुमपर प्रभाव पड़ सकता है। अधिक बुद्धिमानी इसीमें है कि इन सत्ताओंसे सम्बन्ध काट दिया जाय और इनसे किसी तरहका सरोकार न रखा जाय — हां, यदि तुम्हारे अन्दर बहुत अधिक गुह्य ज्ञान या प्रचण्ड शक्ति हो और तुमने अपनी रक्षा और बचाव करना सीख लिया हो तो दूसरी बात है — किन्तु तब भी इनके साथ मिलना-जुलना सदा खतरनाक होता है। इन्हें रूपान्तरित करनेकी आशा रखना, जैसा कि कुछ लोग रखते हैं, एक निष्फल मोह है, क्योंकि ये रूपान्तरित होना नहीं चाहतीं। वे किसी प्रकारके रूपान्तरके लिये सहमत नहीं होना चाहतीं और इस दिशामें सारे प्रयास व्यर्थ हैं।

जब ये सत्ताएं मनुष्य-शरीरमें होती हैं तो बहुधा उन्हें इस बातकी चेतना नहीं होती कि वे वास्तवमें कौन हैं। हां, कभी-कभी उन्हें एक धुंधली-सी प्रतीति होती है कि वे साधारण अर्थमें मनुष्य नहीं हैं। फिर भी ऐसे उदाहरण हैं जहां वे सचेतन, बहुत अधिक सचेतन होती हैं। वे केवल इतना ही नहीं जानतीं कि वे मनुष्य नहीं हैं, बल्कि यह भी जानती हैं कि वे कौन हैं, अपने इस ज्ञानके अनुसार ही कार्य करती हैं और समझ-बूझकर अपने

उद्देश्यको पूरा करनेमें लगी रहती हैं। प्राणमय जगत्‌की सत्ताएं स्वभावत: बड़ी बलवान् होती हैं और इस बलके साथ जब कुछ ज्ञान जुड़ जाता है तो वे दूनी भयंकर हो जाती हैं। इन प्राणियोंके साथ कोई संबंध नहीं रखना चाहिये और यदि तुम्हारे अंदर उन्हें कुचल डालने और नष्ट कर देनेकी शक्ति न हो तो इनसे किसी भी प्रकारका संपर्क रखनेसे बचो। यदि तुम्हें जबरदस्ती इनके संपर्कमें आना ही पड़े तो इनके जादूसे सावधान रहो। प्राणमय जगत्‌की ये सत्ताएं जब भौतिक भूमिकापर प्रकट होती हैं तो इनमें सदा वशीकरणकी बहुत बड़ी शक्ति होती है, कारण इनकी चेतनाका केंद्र प्राण-मय जगत्‌में होता है, भौतिक जगत्‌में नहीं और ये मनुष्यकी तरह भौतिक चेतनाद्वारा ढकी नहीं रहतीं और छोटी नहीं बन जातीं।

क्या यह ठीक नहीं है कि ये सत्ताएं आध्यात्मिक जीवनकी ओर एक विचित्र प्रकारका आकर्षण रखती हैं?

हां, क्योंकि वे अनुभव करती हैं कि वे इस जगत्‌की नहीं हैं, बल्कि किसी दूसरे स्थानसे आयी हैं, वे यह भी अनुभव करती हैं कि उनमें शक्तियां हैं जिन्हें उन्होंने लगभग गंवा दिया है और वे उसे पुन: प्राप्त करनेके लिये उत्सुक होती हैं। इसलिये जब कभी वे किसी ऐसे व्यक्तिसे मिलती हैं जो उन्हें अदृश्य जगत्‌का कुछ ज्ञान दे सके तो वे उसकी ओर दौड़ पड़ती हैं। परंतु वे प्राणमय जगत्‌को ही भूलसे आध्यात्मिक जगत् समझ लेती हैं और उनकी खोजका हेतु भी आध्यात्मिक नहीं, प्राणमय होता है। या शायद वे जान-बूझकर आध्यात्मिकताको भ्रष्ट करके अपने स्वभावके सांचे-में ढली हुई आध्यात्मिक सृष्टिकी एक नकल खड़ी करना चाहती हैं। परंतु अपने इस प्रयासमें भी वे अपने ढंगसे आध्यात्मिक जीवनको एक प्रकार-की श्रद्धांजलि भेंट करती हैं अथवा हरजाना चुकाती हैं। उनमें एक प्रकारका आकर्षण भी होता है जो उन्हें विवश करता है। उन्होंने भग-वान्‌के शासनके प्रति विद्रोह किया है, किंतु विद्रोहके होते हुए भी, या संभवत: इस विद्रोहके कारण ही, वे भगवान्‌के साथ अपने-आपको किसी-न-किसी रूपमें बंधा हुआ अनुभव करती हैं और उनके प्रति प्रबल रूपसे आकृष्ट होती हैं।

यही कारण है कि तुम कभी-कभी देखते हो कि जिन लोगोंको पृथ्वीपर आध्यात्मिक जीवन सिद्ध करना है उनमें आपसमें संबंध स्थापित करनेके लिये ये सत्ताएं यंत्र रूपसे उपयोगमें लायी जाती हैं। यह काम वे स्वेच्छासे नहीं करती, उन्हें बाध्य होकर करना पड़ता है। यह एक प्रकारका ऋण

परिशोधन है जिसको वे पूरा करती हैं। जो दिव्य ज्योति अवतरित हो रही है वे उसका दबाव 'अनुभव' करती हैं, उन्हें इस बातका आभास मिलता है कि अब समय आ गया है, अथवा शीघ्र ही आनेवाला है, जब उन्हें रूपांतर या लय, इन दोनोंमेंसे एकको चुन लेना होगा, उन्हें यह चुनाव करना होगा कि भागवत संकल्पके प्रति अपने-आपको समर्पण करके इस महान् योजनामें अपनी भूमिका पूरी करें अथवा अचेतनामें डूबकर अपना अस्तित्व खो दें। सत्यके जिज्ञासुके साथ संपर्क इस प्रकारकी सत्ता-को परिवर्तित होनेका अवसर देता है। सब कुछ इस बातपर निर्भर है कि वह इस अवसरका किस प्रकार उपयोग करती है। यदि इसे ठीक ढंगसे लिया जाय तो वह मिथ्यात्व, अंधकार और क्लेशसे छुटकारा पानेका रास्ता खोल देता है और पुनरुद्धार तथा 'जीवन' की ओर ले जाता है — ये ही वे तत्त्व हैं जिनसे ये प्राणमय सत्ताएं बनती हैं।

क्या इन सत्ताओंका धन-शक्तिपर बहुत बड़ा अधिकार नहीं है?

हां, इस समय धन-शक्ति प्राण-जगत्‌की शक्ति और सत्ताके प्रभाव या कब्जेमें है। इसी प्रभावके कारण तुम धनको 'सत्य' की सेवाके लिये प्रचुर परिमाणमें जाते हुए कभी नहीं देखते। वह हमेशा भटकता रहता है, क्योंकि वह विरोधी शक्तियोंके पंजेमें है, और जिन साधनोंके द्वारा प्राणमय जगत्‌की ये शक्तियां पृथ्वीपर अपना कब्जा रखती हैं उनमेंसे यह एक प्रमुख साधन है। धन-शक्तिपर विरोधी शक्तियोंका अधिकार मजबूतीसे पूरे तौरपर सुसंगठित है और इस संहत संगठनसे कुछ भी निकाल लाना अत्यंत कठिन कार्य है। प्रत्येक बार जब तुम इस धनका कुछ थोड़ा-सा भाग भी इसके वर्तमान संरक्षकोंके हाथमेंसे निकालकर ले आना चाहते हो तो तुम्हें भीषण युद्ध करना पड़ता है।

फिर भी, जिन विरोधी शक्तियोंका धन-शक्तिपर कब्जा है उनपर यदि कहीं भी कोई विजय प्राप्त हो जाय तो साथ-ही-साथ अन्य क्षेत्रोंमें भी अपने-आप और विजय प्राप्त करना संभव हो जायगा। यदि किसी एक स्थानपर ये झुक जायं तो वे सभी जो आज 'सत्य'की सेवाके लिये धन देनेमें असमर्थता अनुभव करते हैं धन देनेके लिये हठात् एक महान् और तीव्र इच्छाका अनुभव करेंगे। यह बात नहीं है कि जो अमीर कमोबेश प्राण-शक्तियोंकी कठपुतली या यंत्र बने हुए हैं वे धन खर्च करनेके अनिच्छुक हों, असलमें उनकी लोभ-वृत्ति तभीतक जागती है जबतक उनकी प्राणमय वासनाओं या तृष्णाओंको नहीं छुआ जाता। जिस

वासनाको वे अपनी समझते हैं उसकी तृप्तिके लिये तो वे खुशीसे खर्च करते हैं, किन्तु जब उन्हें अपने आराम और धनके लाभमें दूसरोंको साझा देनेके लिये कहा जाता है तो उनके लिये धनसे अलग होना कठिन हो जाता है। धनपर नियंत्रण रखनेवाली प्राण-शक्ति एक ऐसे अभिभावककी तरह है जो अपने धनको सदा एक बड़ी भारी तिजोरीमें अच्छी तरह बन्द किये रहता है। जो लोग इस शक्तिके पंजेमें हैं उनसे जब कभी कुछ धन देनेके लिये कहा जाता है तो वे अपनी थैलीका मुंह थोड़ा-सा खोलनेके लिये राजी होनेसे पहले खोज-खोजकर नाना प्रकारके प्रश्न पूछते हैं, किन्तु यदि स्वयं उनके अन्दर किसी प्राणमय तृष्णाकी मांग उठ खड़ी हो तो ये अभिभावक अपने धनागारको बड़ी खुशीके साथ खोल देते हैं, और इस कामके लिये उनका धन स्वच्छन्द रूपसे पानीकी तरह बहने लगता है। साधारणतया, जिन प्राणगत वासनाओंकी आज्ञाओंका वह पालन करता है उनका सम्बन्ध काम-वासनासे रहता है, किन्तु बहुधा वह ख्याति और मान-मर्यादाकी वासना, आहारकी वासना अथवा प्राणमय भूमिकाकी इस प्रकारकी किसी भी वासनाकी आज्ञाओंका भी पालन करता है। जो कुछ उपर्युक्त श्रेणीका नहीं होता उसके बारेमें बारीकीके साथ खोज-खोजकर सवाल किये जाते हैं, उसकी अच्छी तरह छान-बीन की जाती है और उसकी उपयोगिताको बड़ी आनाकानीके साथ स्वीकार किया जाता है, किन्तु फिर भी अन्तमें प्रायः सहायता करनेसे इनकार कर दिया जाता है। जो लोग प्राणमय सत्ताओंके गुलाम हैं उनमें सत्य, प्रकाश और आध्यात्मिक प्राप्तिकी इच्छाका यदि कभी स्पर्श होता भी है तो उनकी वह इच्छा धनकी इच्छाकी बराबरी नहीं कर पाती। उनके हाथोंसे धनको भगवान्के लिये जीत लानेका अर्थ है उनके अन्दर जो राक्षस घुसा हुआ है उसे मार भगाना। पहले तुम्हें उनके उस प्राणमय स्वामीको, जिसकी वे गुलामी करते हैं, जीतना या बदलना होगा, और यह काम सहज नहीं है। जो लोग प्राणमय सत्ताओंके कब्जेमें हैं वे अपने आरामतलबीके जीवनको बदल सकते हैं, भोगोंको त्याग कर बिलकुल कठोर वैरागी बनकर भी पहले जैसे दुष्ट बने रह सकते हैं, यहांतक भी हो सकता है कि इस परिवर्तनके कारण पहलेसे अधिक बुरे बन जायं।

किसी व्यक्तिको दूसरेपर अपनी संकल्प-शक्तिका प्रयोग क्यों करने दिया जाता है?

ऐसी बात नहीं है कि किसीको किसी और पर संकल्प-शक्तिका प्रयोग करने दिया

जाता है, बात यह है कि एक विश्वव्यापक संकल्प-शक्ति है और जो लोग इस शक्तिको थोड़ा-बहुत अभिव्यक्त करनेमें समर्थ होते हैं उनकी संकल्प-शक्ति कम या अधिक बलवान् होती है। यह बात प्राण-शक्ति, प्रकाश, बिजली या प्रकृतिकी अन्य किसी भी शक्तिके जैसी है, कुछ इन शक्तियोंको व्यक्त करनेके अच्छे वाहन या करण होते हैं तो दूसरे अत्यंत मामूली। यहां नैतिकताका कोई प्रश्न नहीं है। यह प्रकृतिका तथ्य है, इस महान् लीलाका विधान है।

क्या कोई प्राणमय जगत्की सत्ताओंसे, उनके अपने देशमें भेंट कर सकता है ?

प्राणमय सत्ताएं उस अतिभौतिक जगत्में भ्रमण करती हैं जहां यदि मानव प्राणी संयोगवश जा पहुंचे तो अपनेको निराधार, असहाय और रक्षाविहीन अनुभव करता है। मनुष्य तो स्थूल शरीरमें ही अपने घरकी तरह सुरक्षित रहता है; शरीर उसका रक्षा-कवच है। कुछ लोग ऐसे हैं जो अपने शरीरके लिये तिरस्कारसे भरे होते हैं और समझते हैं कि मृत्युके बाद जब स्थूल शरीर नहीं रह जायगा तब उनकी दशा बहुत कुछ सुधर जायगी। परन्तु, वास्तवमें, स्थूल शरीर तुम्हारा किला और तुम्हारा आश्रय-स्थान है। जबतक तुम इस किलेके अन्दर हो तबतक विरोधी जगत्की शक्तियोंको तुम्हारे ऊपर किसी तरहका कब्जा करनेमें कठिनाई होती है। दुःस्वप्न क्या हैं? प्राणमय जगत्में तुम्हारा भ्रमण। और इस दुःस्वप्नकी पकड़में आते ही सबसे पहले क्या करनेकी कोशिश करते हो? तुम अपने स्थूल शरीरमें दौड़ जाते हो और अपनी साधारण भौतिक चेतनामें समाकर होश संभालते हो। परन्तु प्राणमय शक्तियोंके जगत्में तुम एक अजनबी हो, यह एक अज्ञात समुद्र है और तुम्हारे पास न तो दिग्दर्शक यंत्र है न पतवार। तुम नहीं जानते कि इनमें कैसे चलना चाहिये, न यह जानते हो कि किधर चलना चाहिये और पग-पगपर वही करते हो जो नहीं करना चाहिये। जैसे ही तुम इस जगत्के किसी भी राज्यमें प्रवेश करते हो वैसे ही वहांकी सत्ताएं तुम्हारे चारों ओर जमा हो जाती हैं और तुम्हें घेरकर जो कुछ तुम्हारे पास हो उसे हथिया लेना, जो कुछ चूस सकें उसे चूस लेना और तुम्हारी संपत्तिको अपना आहार और शिकार बना लेना चाहती हैं। यदि तुम्हारे अन्दर कोई तीव्र ज्योति और शक्ति प्रसारित न हो रही हो तो स्थूल शरीरके बिना तुम इस जगतमें इस तरह फिरते रहोगे मानों अत्यंत सर्द और ठिठुरा देनेवाले वातावरणसे अपनेको बचाने-

के लिये तुम्हारे पास एक कोट भी नहीं, एक मकानतक नहीं जो तुम्हें आश्रय दे सके, यहां तक कि तुम्हें ढांकनेके लिये त्वचातक न हो, तुम्हारी स्नायुएं खुली हुई और नंगी हों। कुछ लोग कहते हैं: "मैं इस शरीरमें कितना दुःखी हूं," और वे मृत्युको दुःखसे छुटकारा पानेका साधन मानते हैं! किन्तु मृत्युके बाद तुम्हें वे ही प्राणमय परिस्थितियां मिलती हैं और उन्हीं शक्तियोंका खतरा रहता है जिनके कारण तुम इस जीवनमें क्लेश पाते थे। स्थूल शरीरका विघटन तुम्हें प्राणमय जगत्के खुले मैदानमें जानेके लिये बाध्य कर देता है और तुम्हारे पास अपनी रक्षाके लिये कोई साधन नहीं रहता, स्थूल शरीर नहीं होता कि तुम सुरक्षाके लिये दौड़ जाओ।

यहीं, इसी पृथ्वीपर और इसी शरीरमें तुम्हें पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति करनी चाहिये तथा भरपूर और संपूर्ण शक्तिका प्रयोग करना सीखना चाहिये। यह कर चुकनेपर ही तुम समस्त लोकोंमें कुशल-क्षेमके साथ स्वतंत्रतापूर्वक घूम सकोगे। जब तुमपर भयका लेशमात्र भी असर न हो सके, उदाहरणार्थ, जब तुम बुरे-से-बुरे डरावने स्वप्नोंके बीच भी अविचलित रह सको, तभी तुम कह सकते हो: अब मैं प्राणमय जगत्में जानेके लिये तैयार हूं।" परन्तु इसका अर्थ है उस ज्ञान और शक्तिको पाना जो प्राण-प्रकृतिके आवेगों और कामनाओंपर पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो जानेपर ही मिलते हैं। तुम्हें उन सभी चीजोंसे पूर्ण रूपसे मुक्त होना चाहिये जो अज्ञान-अंधकारकी सत्ताओंको ला सकती हों अथवा तुम्हारे ऊपर उनके शासनको संभव बनाती हों। यदि तुम इनसे मुक्त नहीं हो तो सावधान!

कोई आसक्ति न हो, कोई कामना न हो, कोई आवेग न हो, कोई पसन्द न हो; पूर्ण समता हो, अचल शान्ति हो और भागवत संरक्षणमें अटल श्रद्धा हो: ये सब हों तो तुम सुरक्षित हो और न हो तो तुम जोखिममें हो। और जबतक तुम सुरक्षित नहीं हो तबतक मुरगीके उन छोटे बच्चों-की तरह रहना ही ठीक है जो अपनी मांके डैनोंके नीचे आश्रय लेते हैं।

स्थूल भौतिक शरीर हमारे संरक्षणका कार्य कैसे करता है?

स्थूल शरीर अपनी स्थूलताके कारण ही, जिस चीजके लिये हम उसको दोष देते हैं उसी चीजके द्वारा, हमारे संरक्षणका कार्य करता है। यह मन्द, जड़, स्थूल, कठिन और कठोर है, एक किलेकी तरह है, मजबूत और ठोस दीवारोंवाले किलेकी तरह है। प्राणमय जगत् तरल प्रवाहकी तरह है, वहां वस्तुएं स्वच्छन्द रूपसे घूमती-फिरती, परस्पर मिलती-जुलती

और एक-दूसरेमें प्रविष्ट होती रहती हैं; उसी तरह जिस तरह समुद्रकी लहरें आपसमें अनवरत प्रवाहित, परिवर्तित और एक-दूसरेमें ओत-प्रोत होती रहती हैं। यदि तुम्हारे अन्दर इस प्राणमय जगत्की तरलताका सामना करनेके लिये आन्तरिक प्रबल ज्योति या शक्ति न हो तो तुम निःसहाय रहोगे, और यह प्रवाह तुम्हारे अन्दर आ घुसेगा और उसके आक्रामक प्रभाव-को रोकनेके लिये तुम्हारे पास कुछ न होगा। परन्तु स्थूल शरीर बीचमें पड़कर तुम्हारी रक्षा करता है, यह तुम्हें प्राणमय जगत्से अलग कर देता है और उस जगत्की शक्तियोंकी बाढ़के सामने बांधका काम देता है।

परंतु प्राणमय जगत् यदि इतना तरल है तो क्या वहांके रूपों-में कोई व्यक्तित्व होता है?

वहां व्यक्तित्व तो है, किन्तु उसके रूप स्थूल देहधारी सत्ताओंके जितने निश्चित और कठोर नहीं होते। व्यक्तित्वका अर्थ अनमनीय कठोरता नहीं है। पत्थरका रूप बहुत ही सख्त है, शायद हमारी जानी-पहचानी चीजोंमें सबसे अधिक सख्त, किन्तु उसमें व्यक्तित्व बहुत कम होता है। दस-बीस पत्थरोंको इकट्ठा कर लो और फिर यदि उनमें भेद करना चाहो तो तुम्हें बहुत ही सावधान होना होगा। परन्तु प्राणमय सत्ताओंको पहली नजरमें ही एक-दूसरेसे पृथक् जाना जा सकता है। उनके आकारकी बना-वटसे, वे जो वातावरण अपने साथ लिये रहती हैं उसके द्वारा और प्रत्येक सत्ता जिस ढंगसे चलती-फिरती, बातें करती तथा क्रिया करती है उसके द्वारा तुम उन्हें पृथक्-पृथक् जान सकते हो। जैसे प्रसन्नता या क्रोधकी अवस्थामें मनुष्यके चेहरेका भाव बदल जाता है, वैसे ही इनमें भी परिवर्तन आते हैं, किन्तु प्राणमय जगत्में परिवर्तन अधिक तीव्र होते हैं। केवल उनके मुखका भाव ही नहीं, उनके चेहरेका आकार ही बदल जाता है।

१९ मई, १९२०

विचारकी शक्ति किस प्रकारकी है? मैं किस हदतक और कैसे अपने जगत्का कर्ता हूं?

बौद्धमतके अनुसार, प्रत्येक मनुष्य अपने ही जगत्‌में रहता और बिचरण करता है, उसका यह जगत् दूसरे मनुष्यके जगत्‌से सर्वथा स्वतंत्र होता है; जब इन विभिन्न जगतोंमें एक प्रकारका सामंजस्य हो जाता है तभी ये एक-दूसरेमें अन्तःप्रविष्ट हो सकते हैं और तभी मनुष्य परस्पर संपर्कमें आते और एक-दूसरेके विचारोंको समझ सकते हैं। जहांतक मनका संबंध है यह बात ठीक है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने ही विचारोंद्वारा बनाये गये मानसिक जगत्‌में विचरण करता रहता है। यह बात यहांतक सच है कि सदा ही जब कोई बात कही जाती है तो प्रत्येक व्यक्ति उसे अलग रूपमें समझता है, श्रोता जो कुछ कहा गया है उसे ग्रहण नहीं करता, बल्कि किसी ऐसी चीजको ग्रहण करता है जो उसके मस्तिष्कमें पहलेसे भरी हो। परन्तु यह सत्य मनोमय भूमिकाकी गतियोंसे ही संबंध रखता है और उसी भूमिकापर लागू होता है।

मन कर्म करने और आकार देनेका करण है, ज्ञानका करण नहीं। यह प्रत्येक क्षण आकारोंकी रचना करता रहता है। विचार आकारमय होते हैं और इनका अपना व्यक्तिगत जीवन स्रष्टासे सर्वथा स्वतंत्र होता है। स्रष्टा जब इन विचारमय आकारोंको जगत्‌में भेज देता है तो ये अपने अस्तित्वके प्रयोजनको पूरा करनेके लिये जगत्‌में विचरण करने लगते हैं। जब तुम किसी व्यक्तिके विषयमें विचार करते हो तो तुम्हारा विचार एक आकार धारण करके उसे खोजनेके लिये निकल पड़ता है, और यदि तुम्हारे विचारके पीछे कोई संकल्प लगा हो तो तुम्हारे अन्दरसे निकला हुआ यह विचारमय आकार अपने-आपको चरितार्थ करनेकी चेष्टा करता है। उदाहरणके लिये, मान लो कि तुम्हारी यह तीव्र इच्छा है कि अमुक व्यक्ति तुम्हारे पास आये, और इच्छाके इस प्राणमय आवेगके साथ-साथ यदि तुम्हारे बनाये हुए मनोमय आकारके साथ एक जोरदार कल्पना भी जुड़ी हो तो तुम कल्पना करोगे: "यदि वह आये तो ऐसा होगा या वैसा होगा।" कुछ कालके बाद तुम इस विचारको सर्वथा त्याग देते हो, लेकिन तुम नहीं जानते कि तुम्हारे भूल जानेके बाद भी तुम्हारे विचारका अस्तित्व बना हुआ है। वास्तवमें, अब भी उसका अस्तित्व है और वह तुमसे सर्वथा स्वतंत्र रहकर अपना काम कर रहा है, और उसे अपने कामसे वापस बुलानेके लिये एक महान् शक्तिकी आवश्यकता होगी। वह उस विचारसे संबंध रखनेवाले व्यक्तिके वातावरणमें प्रविष्ट होकर अपना काम करने लगता है और उसमें तुम्हारे पास आनेकी इच्छा उत्पन्न करता है। और यदि तुम्हारे विचारमय आकारमें कार्य-सिद्धिके लिये पर्याप्त इच्छा-शक्ति है, यदि उस आकारका गठन भली-भांति हुआ है तो वह अपना काम

पूरा करेगा। परन्तु इस आकार-रचना और उसकी सिद्धिके बीच कुछ समय लगता है और यदि इस बीच तुम्हारा मन और ही चीजमें लगा हो, तो जब तक तुम्हारा यह भूला हुआ विचार कार्यमें परिणत होगा तबतक हो सकता है कि तुम्हें यह याद भी न रहे कि एक दिन तुमने ही इसे आश्रय दिया था, संभव है तुम्हें यह पता ही न हो कि तुम्हींने इसे क्रियान्वित होनेके लिये प्रेरित किया था और आज जो परिणाम आया है वह तुम्हारे ही कारण है। और बहुधा यह भी होता है कि जब इन विचारमय आकारोंका फल प्राप्त होता है तब तुम उस विषयकी इच्छा या परवाह भी नहीं करते। कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनमें इस प्रकारकी रचना-शक्ति बहुत ही बलवान् होती है और उनकी मनोरचनाएं सदा कार्यान्वित होती हैं, लेकिन चूंकि उनकी मनोमय और प्राणमय सत्ता अच्छी तरह सधी हुई नहीं होती, इसलिये वे कभी इस चीजकी इच्छा करते हैं तो कभी उस चीजकी, अतः उनकी ये भिन्न-भिन्न अथवा विरोधी रचनाएं और उनके परिणाम, एक-दूसरेसे टकराते और भिड़ते रहते हैं। और इन लोगोंको आश्चर्य होता है कि उनके जीवनमें इतनी अधिक अव्यवस्था और असामंजस्य क्यों है! वे इस बातका अनुभव नहीं करते कि उनके अपने विचारों और इच्छाओंने ही उनके इर्द-गिर्द ऐसी परिस्थिति बनायी है जो उन्हें इतनी बेमेल और परस्पर-विरोधी जान पड़ती है और उनके जीवनको प्रायः असह्य-सा बना देती है।

यह ज्ञान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, पर तभी जब सदुपयोग करनेके रहस्यके साथ-साथ दिया जाय। आत्म-संयम और आत्म-शासन ही इसके रहस्य हैं। सत्यके मूलको तथा भागवत संकल्पके सतत शासनको अपने अन्दर खोज निकालना ही यह रहस्य है — केवल भागवत संकल्पका अनवरत शासन ही प्रत्येक विचारमय आकारको उसकी पूर्ण शक्ति तथा उसकी संपूर्ण और सामंजस्यमय सिद्धि प्रदान कर सकता है — साधारणतया, मनुष्य यह जाने बिना ही कि उनकी विचार-रचनाएं किस प्रकार गति और क्रिया करती हैं, विचारोंको रचा करते हैं। इस प्रकारकी अज्ञानमय और विशृंखल अवस्थामें गढ़े हुए विचार परस्पर टकराते रहते हैं और तुमपर भार, श्रम और थकामका प्रभाव डालते हैं और तुम्हें लगता है मानों तुम असंख्य बाधाओंके बीचसे अपना मार्ग बना रहे हो। अज्ञान और असंगतिकी ये अवस्थाएं एक विशृंखल संघर्ष शुरू कर देती हैं और सबसे अधिक बल और सहनशीलतावाले विचारमय आकार विजयी होते हैं।

मन और उसके कार्यके विषयमें एक बात निश्चित है; और वह यह कि तुम केवल उसी बातको समझ सकते हो जिसका तुम्हें अपनी अन्तरात्मा-

में पहलेसे ही ज्ञान है। किसी पुस्तककी वही बात तुमपर विशेष असर करती है जिसे तुम अपने अन्दरकी गहराईमें पहले ही अनुभव कर चुके हो। मनुष्य, किसी पुस्तक या उपदेशको अत्यन्त अद्‌भुत पाते हैं और बहुधा तुम उन्हें यह कहते हुए पाते हो : "यहां जो कुछ कहा गया है ठीक वही मैं स्वयं अनुभव करता और जानता हूं, किन्तु मैं इसे इतनी अच्छी तरह व्यक्त नहीं कर सकता था जैसे यहां किया गया है।" जब मनुष्य किसी सच्चे ज्ञानकी पुस्तकका पारायण करते हैं तो उसमें प्रत्येक पाठक अपने-आपको पाता है, और प्रत्येक पारायणमें उसे कुछ ऐसी बातें मिलती हैं जिन्हें वह पहले न देख सका था, प्रत्येक आवृत्तिमें यह ग्रंथ उसके सामने ज्ञानके एक नवीन क्षेत्रको, जिसे वह अभीतक उसमें न पा सका था, खोलकर दिखा देता है। परन्तु यह इसलिये होता है कि उस मनुष्यकी अवचेतनामें ज्ञानके जो स्तर अभिव्यक्त होनेकी प्रतीक्षा कर रहे थे, यह पारायण उनका स्पर्श करता है और वह देखता है कि उस ज्ञानकी अभिव्यक्ति किसी दूसरे व्यक्तिने की है और वह भी, वह स्वयं करता उससे कहीं अधिक सुन्दर रीतिसे। परंतु एक बार यह अभिव्यक्ति होते ही वह उसे तुरंत पहचान लेता है और अनुभव करता है कि यह सत्य है। जो ज्ञान बाहरसे आता हुआ दिखायी देता है वह तुम्हारे अंदरके ज्ञानको बाहर ले आनेका एक अवसरमात्र है।

यह एक साधारण अनुभव है कि हम जो कुछ कहते हैं उसे प्रायः और ही रूपमें समझा या प्रदर्शित किया जाता है, इसका कारण भी उप-र्युक्त प्रकारका ही है। हम जो कुछ कहते हैं वह सर्वथा स्पष्ट हो तो भी लोग उसे जिस प्रकार समझते हैं उसे देखकर आदमी चकरा जाता है। प्रत्येक व्यक्ति उसमें कुछ ऐसी बात देखता है जो कहनेवालेके अभि-प्रायसे अलग होती है, यहांतक कि वह उसमें कोई ऐसी चीज जोड़ देता है जो उसके आशयसे बिलकुल उलटी होती है। यदि तुम सच्चे रूपमें समझना और इस प्रकारके भ्रमसे बचना चाहते हो तो तुम्हें शब्दोंकी ध्वनि और गतिके पीछे जाकर नीरवतामें सुनना सीखना चाहिये। यदि तुम नीरवतामें सुनोगे तभी तुम ठीक-ठीक सुनोगे, ठीक-ठीक समझोगे। परंतु जबतक तुम्हारे मस्तिष्कमें कोई चीज घूम रही हो और कोलाहल मचा रही हो, तबतक तुम केवल वही समझोगे जो तुम्हारे सिरमें घूम रहा है, न कि वह जो तुमसे कहा गया है।

योगसे प्रथम परिचय होते ही विरोधी अवस्थाओंकी एक फौज-सी क्यों पीछे पड़ जाती है? किसीने कहा है कि योग-साधना-

का द्वार खोलते ही अनगिनत बाधाएं सामने आ खड़ी होती हैं, क्या यह ठीक है ?

यह कोई सार्वभौम नियम नहीं है; और बहुत कुछ व्यक्तिपर निर्भर है। बहुतोंके पास विरोधी अवस्थाएं इसलिये आती हैं कि उनकी प्रकृतिके कमजोर स्थानोंकी परीक्षा हो जाय। योग-मार्गपर स्वतंत्रतापूर्वक चल सकनेसे पहले जिस वस्तुकी तुम्हारे अंदर अच्छी तरह स्थापना हो जानी चाहिये जो योगके लिये अनिवार्य आधार है, वह है समता या समचित्तता। स्वभावतः, इस दृष्टिसे, सभी विघ्न ऐसी परीक्षाके रूप होते हैं जिनमें तुम्हें सफल होना ही चाहिये। इसके अतिरिक्त, तुम्हारी मानसिक रचनाओंने जो सीमाएं तुम्हारे चारों ओर बना ली हैं उन्हें तोड़नेके लिये भी इनकी आवश्यकता है, ये सीमाएं दिव्य ज्योति और सत्यके प्रति तुम्हारे उद्घाटनको रोकती हैं। सारा मनोमय जगत्, जिसमें तुम रहते हो, सीमित है, तुम्हें उसकी सीमाओंका ज्ञान या अनुभव भले न हो, और यह आवश्यक है कि कोई चीज आये और इस भवनको, जिसके अंदर तुम्हारे मनने अपने-आपको बंद कर रखा है, तोड़ डाले और उसे बंधनमुक्त कर दे। उदाहरणार्थ, तुम्हारे कुछ बंधे हुए नियम, विचार या सिद्धांत होते हैं, जिन्हें तुम सर्वोपरि महत्त्व देते हो। अधिकतर, ये किन्हीं नैतिक सिद्धांतों अथवा उपदेश-वचनोंके आधारपर होते हैं, जैसे "अपने माता-पिताका आदर कर" (मातृ-देवो भव — पितृ-देवो भव) या "तुझे हिंसा नहीं करनी चाहिये" (अहिंसा परमो धर्मः) इत्यादि। प्रत्येक मनुष्यकी अपनी धुन होती है अथवा वह कोई दकियानूसी विश्वास होता है। प्रत्येक मनुष्य समझता है कि दूसरे लोग जिन पूर्वाग्रहोंसे बंधे हुए हैं उनसे वह सर्वथा मुक्त है और वह इस प्रकारके सांप्रदायिक मताग्रहोंको बिलकुल मिथ्या समझनेके लिये भी तैयार रहता है। परंतु वह सोचता है कि उसका अपना मतवाद दूसरोंकी तरह नहीं है, वह तो बिलकुल सत्य ही है, वास्तविक सत्य। मनके बनाये हुए किन्हीं नियमोंमें आसक्ति होना इस बातका सूचक है कि अब भी कहींपर अंधापन छिपा हुआ है। उदाहरणके लिये, उस सार्वजनिक अंध-विश्वासको ले लो जो समस्त जगत्में फैला हुआ है कि वैरागी-जीवन और योग एक ही है। यदि तुम किसीको योगी अथवा योगिनी कहकर वर्णन करो तो तुरत उस व्यक्तिके बारेमें लोग यही कल्पना करने लगेंगे कि वह व्यक्ति कोई ऐसा होगा जो खाता नहीं अथवा सारे दिन एक आसनपर बिना हिले-डुले बैठा रहता है, किसी कुटियामें अत्यंत दरिद्रतापूर्वक रहता है, जिसने अपना सब कुछ दे दिया है और

अपने लिये कुछ भी नहीं रखा। जब किसी आध्यात्मिक मनुष्यके संबंधमें किसीसे कुछ कहा जाता है तो सौमें निन्यानवे आदमियोंके मनमें उस व्यक्तिके संबंधमें इसी प्रकारका चित्र खिंच जाता है, इसके लिये आध्यात्मिकताका एकमात्र सबूत है दरिद्रता तथा सुखद या आरामदेह चीजोंसे परहेज। यह एक मानसिक रचना है और यदि तुम आध्यात्मिक सत्यका साक्षात्कार और अनुसरण करनेके लिये स्वतंत्र होना चाहते हो तो इसे नष्ट करना होगा। कारण, आध्यात्मिक जीवनमें तुम सच्ची अभीप्साके साथ प्रवेश करते हो और चाहते हो कि तुम अपनी चेतना और जीवनमें भगवान्‌से भेंट करो तथा उनका साक्षात्कार करो; तब तुम एक ऐसे स्थानपर जा पहुंचते हो जिसे किसी तरह भी कुटिया नहीं कहा जा सकता और वहां तुम्हारी एक ऐसे आध्यात्मिक पुरुषसे भेंट होती है जो सुखमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं, सब कुछ खाते हैं, उनके चारों ओर सुन्दर या अमीरी चीजोंका ठाठ है, जो कुछ उनके पास है उसे वे गरीबोंको बांट नहीं देते, बल्कि जो लोग भेंट चढ़ाते हैं उसे स्वीकार करते और उसका उपभोग करते हैं। यह देखकर तुम अपने बंधे हुए मानसिक नियमके अनुसार तुरत घबड़ा जाते और चिल्ला उठते हो: "क्यों, यह सब क्या है? मैंने तो सोचा था कि मेरी भेंट किसी योगीसे होगी!" इस मिथ्या धारणाको तोड़कर गायब कर देना चाहिये। यह धारणा चली जाय तो तुम्हें कुछ ऐसी चीज प्राप्त होगी जो तुम्हारे वैराग्यके संकीर्ण-सिद्धांतसे बहुत श्रेष्ठ है, तुम्हारा पूर्ण आत्मोद्‌घाटन हो सकेगा जिसके फलस्वरूप तुम्हारी सत्ता मुक्त रहेगी। यदि कोई चीज प्राप्त होती हो तो उसे स्वीकार करो और यदि उसी चीजको छोड़ देना हो तो उसी तत्परताके साथ छोड़ दो। अगर चीजें आयें तो उन्हें स्वीकार करो और अगर चली जायं तो जाने दो और लेते और छोड़ते समय समताकी वही मुस्कान बनी रहे।

या फिर, मान लो कि तुमने "तुझे हिंसा नहीं करनी चाहिये" (अहिंसा परमो धर्मः) को अपना सुनहरा नियम स्वीकार कर लिया है और क्रूरता तथा हत्यासे कांप उठते हो। आश्चर्य मत करो यदि तुम अपने-आपको तुरत ही हत्याके सम्मुख पाओ और वह भी एक बार नहीं, बार-बार, उस समयतक जबतक कि तुम यह न समझ जाओ कि तुम्हारा आदर्श केवल मानसिक सिद्धांत है और कुछ नहीं और यह कि आध्यात्मिक सत्यके जिज्ञासुको किसी भी मानसिक नियममें आसक्त या बंधा हुआ न रहना चाहिये। और एक बार इस आसक्ति या बन्धनसे मुक्त होनेपर संभवतः तुम देखोगे कि ये हिंसामय दृश्य जो तुम्हें दुःख देते थे — और वास्तवमें तुम्हें दुःख देकर मानों मनो-निर्मित भवनसे निकालनेके लिये ही भेजे गये

थे — अब तुम्हारे सामने नहीं आते, ये आश्चर्यजनक रीतिसे बन्द हो गये हैं।

जब तुम भगवान्‌के पास जाते हो तो तुम्हें समस्त मानसिक धारणाओंको त्याग देना चाहिये; किन्तु; इसके बदले, तुम अपनी धारणाओंको भगवान्‌पर लादना चाहते हो और चाहते हो कि वे उनका अनुसरण करें। योगीके लिये सच्चा भाव तो केवल यही है कि वह नमनशील हो और भगवान्‌की ओरसे जो भी आदेश मिले उसका पालन करनेके लिये तैयार रहे; उसके लिये कुछ भी अनिवार्य न हो और कोई चीज भार नहीं लगे। अक्सर जो लोग आध्यात्मिक जीवन बिताना चाहते हैं उनका पहला आवेश यही होता है कि उनके पास जो कुछ हो उसे फेंक दें; किन्तु अपना सब कुछ भगवान्‌के अर्पण करनेके लिये नहीं, एक बोझसे छुटकारा पा जानेके लिये। जिनके पास धन है तथा जिनके इर्द-गिर्द अमीरी और भोगकी सामग्रियां हैं, वे जब भगवान्‌की ओर मुड़ते हैं तो तुरत उनकी प्रवृत्ति इन सब चीजों से दूर भागनेकी ओर होती है, — अथवा, जैसा कि वे कहते हैं: "इनके बंधनसे बच निकलने" की होती है। परन्तु यह गलत प्रवृत्ति है, तुम्हें यह कभी नहीं सोचना चाहिये कि जो चीजें तुम्हारे पास हैं वे तुम्हारी हैं — वे तो भगवान्‌की हैं। यदि भगवान् चाहते हैं कि तुम किसी चीजका भोग करो तो भोग कर लो; किन्तु दूसरे ही क्षण, यदि उसे छोड़ना पड़े तो उसके लिये भी प्रसन्न चित्तसे तैयार रहो।

शारीरिक व्याधियां क्या हैं? क्या ये विरोधी शक्तियोंके आक्रमण हैं जो बाहरसे आते हैं?

इस विषयमें दो बातोंपर विचार करना चाहिये। एक वह चीज जो बाहरसे आती है और दूसरी वह जो तुम्हारी आन्तरिक अवस्थासे आती है। तुम्हारी आन्तरिक अवस्था रोगका कारण तब बनती है जब उसमें कोई प्रतिरोध या विद्रोह हो अथवा जब तुम्हारे अन्दर कोई ऐसा भाग हो जो भागवत संरक्षणका प्रत्युत्तर नहीं देता; अथवा उसमें कोई ऐसी चीज भी हो सकती है जो इच्छापूर्वक, जान-बूझकर विरोधी शक्तियोंको अन्दर बुलाती है। तुम्हारे अन्दर इस प्रकारकी कोई मामूली-सी गति हो तो वह भी पर्याप्त है; विरोधी शक्तियां तुरत तुमपर चढ़ आती हैं और उनका आक्रमण बहुधा रोगका रूप धारण करता है।

परंतु क्या यह ठीक नहीं है कि कभी-कभी रोगजनक कीटाणुओंके कारण ही रोग होते हैं, योग-साधनाके कारण नहीं?

योगका आरंभ कहां होता है और अन्त कहां? क्या तुम्हारा सारा जीवन ही योग नहीं है? तुम्हारे शरीरमें और तुम्हारे चारों ओर रोगकी संभावनाएं सदा बनी रहती हैं, तुम्हारे अन्दर या तुम्हारे चारों तरफ सब प्रकारकी बीमारियोंके कीटाणु या रोग-जन्तु रहते हैं, वे तुम्हारे चारों ओर मंडराते रहते हैं। तुम्हें जो रोग वर्षोंसे नहीं हुआ उसके तुम एकाएक शिकार क्यों हो जाते हो? तुम कहोगे कि इसका कारण "प्राण-शक्तिका मन्द पड़ जाना" है। परन्तु यह मन्दता कहांसे आती है? यह सत्तामें किसी प्रकारका असामंजस्य होनेसे भागवत शक्तियोंके प्रति ग्रहणशीलताका अभाव होनेसे आती है। जब तुम उस शक्ति और ज्योतिसे, जो तुम्हारा धारण-पोषण करती है, अपने-आपको जुदा कर लेते हो तब यह मन्दता आती है। तब जिसको चिकित्सा-शास्त्र "रोगके लिये अनुकूल क्षेत्र" कहते हैं वह तैयार हो जाता है और कोई चीज इसका फायदा उठा लेती है। सन्देह, निरुत्साह, विश्वासका अभाव, स्वार्थके साथ अपनी ओर ही मुड़ना —ये चीजें हैं जो ज्योति और दिव्य शक्तिसे तुम्हें अलग कर देती हैं और आक्रमणके लिये लाभकर होती हैं। तुम्हारे बीमार पड़नेका असली कारण यही है, न कि रोगके कीटाणु।

परंतु क्या यह सिद्ध नहीं हो चुका है कि स्वच्छता और सफाई आदिमें सुधार करनेसे औसत नागरिकका स्वास्थ्य सुधरता है?

औषध और सफाई साधारण जीवनके लिये अपरिहार्य हैं, किन्तु इस समय मैं औसत नागरिकोंके संबंधमें नहीं कह रही हूं, मैं तो उनके बारेमें कह रही हूं जो योग-साधना करते हैं। फिर भी सफाई आदिसे यह घाटा होता है कि जहां तुम रोगकी पकड़में आनेकी संभावनामें कमी ले आते हो वहां रोगका प्रतिरोध करनेकी अपनी स्वाभाविक शक्तिको भी क्षीण कर देते हो। अस्पतालमें काम करनेवालोंके हाथ, जो सदा अपने हाथ रोगाणुनाशक औषधियोंसे धोते रहते हैं, औरोंकी अपेक्षा सहजमें संक्रामक जंतुओंके शिकार हो जानेवाले और कहीं अधिक संवेदनशील हो जाते हैं। इसके विपरीत, ऐसे लोग हैं जो स्वास्थ्य विज्ञान आदिके बारेमें कुछ भी नहीं जानते और अत्यंत अस्वास्थ्यकर काम करते हैं, फिर भी संक्रामक रोगोंसे मुक्त रहते हैं। उनका अज्ञान ही उनकी सहायता करता है क्योंकि वह आरोग्यशास्त्र जाननेके कारण आनेवाले विचारोंके लिये दरवाजा बन्द रखता है। दूसरी ओर, स्वास्थ्य-संबंधी सावधानीमें तुम्हारा विश्वास इन

विचारोंको कार्य करनेमें सहायता पहुंचाता है। कारण, तुम सोचते हो : "अब मैंने रोग-नाशक औषधका प्रयोग कर लिया और मैं सुरक्षित हूं," तो उस हदतक यह विचार तुम्हें सुरक्षित रखता है।

तब हमें स्वास्थ्य-संबंधी सावधानी — जैसे कि छना हुआ पानी पीना — क्यों रखनी चाहिये ?

क्या तुममेंसे कोई भी इतना शुद्ध और बलवान् है जिसपर सुझावोंका असर न होता हो? यदि तुम बिना छना पानी पीओ और सोचो : "अब मैं अस्वच्छ जल पी रहा हूं," तो तुम्हारे बीमार पड़नेकी संभावना बढ़ जाती है। और इस प्रकारके सुझाव सचेतन मनके द्वारा भले न पहुंचें, तुम्हारी समग्र अवचेतना तो है ही जो किसी भी सुझावको ग्रहण करनेके लिये असहाय रूपसे खुली रहती है। जीवनमें अवचेतनाके कार्यका भाग अधिक होता है और सचेतन भागोंकी अपेक्षा अवचेतना सौ गुनी शक्तिके साथ कार्य करती है। साधारण मानव-अवस्था भय और आशंकाओंसे भरी होती है। यदि तुम अपने मनको दस मिनटतक गहराईसे देखो तो तुम्हें पता लगेगा कि दसमेंसे नौ विचार भयसे भरे हुए हैं, उसमें छोटे-बड़े, दूर और नजदीकके, देखी हुई और बिना देखी हुई अनेक चीजोंके भय भरे रहते हैं, और यद्यपि यह बात साधारणतया तुम्हारी सचेतन दृष्टिमें नहीं आती, फिर भी ये भय तुम्हारे अन्दर होते अवश्य हैं। समस्त भयसे मुक्ति अनवरत प्रयास और साधनाद्वारा ही संभव है।

साधना और प्रयासके द्वारा यदि तुमने अपने मन और प्राणको आशंका तथा भयसे मुक्त कर भी लिया तो भी शरीरको मना लेना अधिक कठिन होता है। परन्तु यह करना भी जरूरी है। एक बार तुम योग-मार्गमें प्रवेश करो तो तुम्हें समस्त भयोंसे मुक्त हो जाना चाहिये — अपने मनके भयोंसे, अपने प्राणके भयोंसे, एक-एक कोषाणुमें भरे शरीरके भयोंसे मुक्त होना चाहिये। योग-मार्गमें तुम्हें जो ठोकरें खानी पड़ती हैं और आघात सहने पड़ते हैं उनका एक उपयोग यह भी है कि वे तुम्हें समस्त भयोंसे मुक्त कर दें। भयके कारण उस समयतक तुमपर बारंबार हमला करते रहते हैं जबतक तुम इस योग्य न हो जाओ कि उनके सामने स्वतंत्र, उदासीन, अनासक्त और शुद्ध होकर खड़े रह सको। किसीको समुद्रका भय होता है, कोई आगसे डरता है। हो सकता है कि जो व्यक्ति अग्निसे डरता है उसे एकके बाद एक अनेकों भीषण अग्निकाण्डोंका सामना करना पड़े, यहांतक कि वह इतना अभ्यस्त हो जाय कि इस काण्डसे उसके शरीर-

का एक कोषाणुतक न कांपे। जिस चीजसे तुम्हारे अन्दर त्रास पैदा होता हो वह उस समयतक बारंबार आती रहती है जबतक कि त्रास बिलकुल बन्द न हो जाय। जो रूपान्तरित होना चाहता है और जो इस योग-मार्गका साधक है उसे पूरी तरहसे भयमुक्त होना ही पड़ेगा, उसे ऐसा बनना पड़ेगा कि कोई, किसी प्रकारकी चीज उसे प्रकृतिके किसी भी भागमें छू या हिला न सके।

२६ मई, १९२९

यदि हमारा संकल्प विश्व संकल्पकी अभिव्यक्ति या प्रतिध्वनिमात्र है तो फिर वैयक्तिक आरंभके लिये स्थान ही कहां है? क्या व्यक्ति विश्व गतियोंको अंकित करनेके लिये केवल एक यंत्रमात्र है? क्या उसमें सृजन अथवा मौलिक रचना करनेकी कोई शक्ति है ही नहीं?

सब कुछ इसपर निर्भर है कि तुम चेतनाकी किस भूमिकासे वस्तुओंको देखते और उनके संबंधमें बोलते हो या सत्ताके किस भागसे उनपर क्रिया करते हो।

चेतनाकी एक भूमिकासे देखनेपर तुमको ऐसा लगेगा मानों व्यक्ति निरा यंत्र या केवल अंकित करनेवाला न होकर स्रष्टा है। चेतनाकी दूसरी एवं विशालतर दृष्टिवाली ऊंची भूमिकासे देखो तो तुम्हें लगेगा कि यह केवल आभास है। विश्वगतिक्रममें जो भी घटना घटती है वह जो कुछ पहले घट चुका है उसके परिणामस्वरूप होती है। अभिव्यक्तिकी समग्र लीलामेंसे किसी एक सत्ताको अथवा क्रियाओंकी समग्रतामेंसे किसी एक क्रियाको पृथक् करनेका तुम्हारे पास क्या उपाय है? तुम किसी वस्तुका मूल अथवा आरंभ कहांसे मानोगे? समग्र लीला एक मजबूत जुड़ी हुई सांकल है, इसकी एक कड़ी दूसरी कड़ीमें अगोचर रूपसे गुंथी हुई है। इस सांकलमेंसे किसी चीजको अलग करके उसका इस तरह वर्णन नहीं किया जा सकता मानों वह स्वयं ही अपना मूल और आरंभ हो।

और जब तुम कहते हो कि व्यक्ति किसी गतिकी उत्पत्ति या सृष्टि करता है तो तुम्हारा क्या अभिप्राय होता है? क्या वह उसे अपने-आपमेंसे

अथवा यूं कहें, शून्यमेंसे उत्पन्न करता है? यदि कोई सत्ता इस प्रकार किसी विचार, भाव, क्रिया या और किसी चीजकी सृष्टि कर सके तो वह सारे जगत्का सृजन करनेवाली होगी। यदि कोई व्यक्ति अपनी चेतनाको उस महत्तर 'चेतना'में वापस ले जा सके जहांसे वस्तुएं उत्पन्न होती हैं, तभी वह स्रष्टा बन सकता है; समस्त गतियोंके आदिकारण-स्वरूप एकमात्र सचेतन 'शक्ति'के साथ तदाकार होकर ही वह किसी क्रिया-विशेषका आरंभ करनेवाला या प्रवर्त्तक हो सकता है।

चेतनाकी कई भूमिकाएं हैं; और एक भूमिकाकी नियति दूसरी भूमिकाकी नियति जैसी नहीं होती। इसलिये, तुम जब सर्जक व्यक्तिकी बात कहते हो तो उसके किस भागका विचार करते हो? कारण, व्यक्ति अनेक तत्त्वोंसे बनी हुई मिश्र सत्ता है। क्या तुम उसके चैत्य पुरुषके विषयमें कहते हो या उसकी मनोमय, प्राणमय या अन्नमय सत्ताके विषयमें? किसी गतिके अदृश्य मूल और उसके प्रकटीकरण, व्यक्तिद्वारा उसकी बाह्य अभिव्यक्तिके बीचमें ये सब तथा दूसरी बहुत-सी भूमिकाएं और बहुत-से क्रम हैं और प्रत्येक क्रमपर उस गतिमें बहुतेरे हेर-फेर, बहुत-से विकार, बहुत-से विरूपण आते हैं। इन परिवर्तनोंके कारण ही यह भ्रम हो जाता है कि इस गतिका मूल अमुक स्थानपर है, यह एक नयी सृष्टि अथवा एक नया आरंभ है। यह ऐसा ही है जैसे जब तुम एक छड़ीको पानीमें डाल देते हो तो वह अपनी असली सीधी रेखामें न दिखायी देकर एक कोणपर मुड़ी हुई दिखायी देती है। परन्तु यह एक भ्रम है, दृष्टिविकार है; वह वास्तविक कोण नहीं होता।

प्रत्येक वैयक्तिक चेतना विश्व गतिमें कोई ऐसी चीज ले आती है जिसे एक दृष्टि-बिन्दुसे विश्वगतिमें उसका अपना विकार और दूसरे दृष्टि-बिन्दुसे विश्वगतिमें उसका अपना विशिष्ट गुण कहा जा सकता है। ये वैयक्तिक गतियां भागवत गतिकी लीलाका एक अंग ही हैं; ये अपने-आपमें आरंभ नहीं हैं, ये उन चीजोंके परिवर्तित रूप हैं जिनके प्रारंभको तुम्हें विश्वके समष्टि-रूपमें खोजना चाहिये।

पृथक्ताका भाव सब जगह फैला हुआ है, किन्तु यह एक भ्रम ही है। अगर हम सत्य चेतनामें प्रवेश करना चाहें तो जिन मिथ्या भावोंसे छुटकारा पाना जरूरी है: यह उन्हींमेंसे एक है। मन जगत्को छोटे-छोटे टुकड़ोंमें बांट लेता है: वह कहता है: यहांपर इसका अंत है, वहां यह चीज शुरू होती है, और इस तरह टुकड़े करके वह विश्वगतिको विकृत करनेमें सफल होता है। एक विश्वव्यापी, सर्वग्राही चेतनाका महान् प्रवाह इस नित्य-निरंतर विकसित होते हुए विश्वमें अभिव्यक्त होता रहता

है। यही वह सत्य है जो यहांकी प्रत्येक वस्तुके पीछे स्थित है, पर साथ-साथ यहां वह भ्रम भी है जो सत्यको छिपाये रहता है, यह भ्रम कि ये गतियां अनेक हैं, एक-दूसरेसे पृथक्, अपने-आपमें स्थित हैं, अपने-आपमें अपने-आपके लिये हैं तथा इनमें प्रत्येक बाकीसे अलग है। ये समझती हैं कि उनकी एक-दूसरेपर क्रिया-प्रतिक्रिया एक बाहरी चीज है, मानों वे विभिन्न पृथक्-पृथक् जगतोंकी तरह हैं जो एक-दूसरेके सम्मुख खड़े हों, पर उनमें किसी दूरके बाहरी संबंधके अतिरिक्त और कोई परस्पर संपर्क-बिन्दु नहीं है। हर एक अपनेको इस प्रकार देखता है मानों उसका एक पृथक् व्यक्तित्व है जो उसे अपने अधिकारसे प्राप्त है। पृथकत्वके भानको, इस भ्रमको विश्वलीलाके एक अंगके रूपमें होने दिया गया है, क्योंकि यह आवश्यक था कि एकमेव चेतना अपने-आपको बाहर प्रकट कर सके और अपने रूपोंको स्थिर कर सके। परन्तु चूंकि भूतकालमें यह होने दिया गया है, इसका यह अर्थ नहीं है कि पार्थक्यका यह भ्रम सदा बना ही रहना चाहिये।

विश्वलीलामें भाग लेनेवाले अधिकांश व्यक्ति अनजान यंत्र हैं, वे ऐसे अभिनेता होते हैं जो बिना समझे-बूझे कठपुतलियोंकी तरह नाचते रहते हैं। दूसरे ऐसे हैं जो सचेतन हैं और वे इस बातका ज्ञान रखते हुए अपना अभिनय करते हैं कि यह एक लीला है। और कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन्हें विश्वगतिका पूर्ण ज्ञान होता है और जो इस विश्वगतिके साथ तथा अखंड भागवत चेतनाके साथ एक होते हैं, फिर भी वे इस प्रकारका अभिनय करना स्वीकार करते हैं मानों वे कोई अलग वस्तु हों, समग्रताका एक खंड हों। उस अज्ञान और पूर्ण ज्ञानके बीचमें कई मध्यवर्ती अवस्थाएं हैं, इस लीलामें सम्मिलित होनेके कई रूप हैं। एक अज्ञानकी अवस्था है जिसमें तुम किसी कामको इस विश्वासके साथ करते हो कि तुम्हींने उसे करनेका निश्चय किया था। दूसरी इससे कम अज्ञानपूर्ण अवस्था है और इस अवस्थामें तुम किसी कामको यह जानते हुए करते हो कि तुम्हें वह काम करना पड़ा है, किंतु तुम्हें इस बातका पता नहीं कि तुम्हें वह क्यों और कैसे करना पड़ा। और फिर चेतनाकी एक ऐसी अवस्था भी होती है जिसमें तुम्हें पूर्ण ज्ञान रहता है,— कारण, इस अवस्थामें तुम्हें इस बातका पूरी तरह पता होता है कि वह कौन-सी शक्ति है जो तुम्हारे द्वारा कार्य कर रही है, तुम जानते हो कि तुम एक यंत्र हो, तुम्हें इसका ज्ञान होता है कि तुम्हारे कर्म कैसे और क्यों होते हैं, उनकी प्रक्रिया और उनका प्रयोजन क्या है। अज्ञानकी वह अवस्था, जिसमें तुम यह मानते हो कि तुम्हीं अपने कर्मोंके कर्ता हो, उस समयतक बनी रहती है जबतक कि तुम्हारे विकासके लिये उसकी आवश्यकता रहे, किंतु

ज्यों ही तुम किसी उच्चतर अवस्थामें जानेके योग्य हो जाते हो, त्यों ही तुम्हें दिखायी देने लगता है कि तुम उस एक चेतनाके यंत्रमात्र हो, अब तुम ऊपरकी ओर एक कदम बढ़ाते हो और एक ऐसी भूमिकामें उठ जाते हो जो उससे भी अधिक सचेतन है।

विरोधी शक्तियां जिस प्रकार प्राणमय जगत्में आक्रमण करती हैं उसी प्रकार क्या मनोमय भूमिकापर भी उनका आक्रमण होता है ?

इस प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर देनेके लिये ऐसी बहुत-सी बातोंके विस्तारमें जाना होगा जिसमें हम अभी नहीं जा सकते।

मन एक गति है। परंतु इस गतिके भी कई प्रकार हैं, कई स्तर हैं एक-दूसरेका जो स्पर्श करते और आपसमें ओत-प्रोत होते रहते हैं। साथ ही जिस गतिको हम मन कहते हैं वह अन्य भूमिकाओंमें भी प्रविष्ट होती रहती है। स्वयं मनोमय जगत्में कई स्तर हैं। ये सभी मनोमय भूमिकाएं और मनोमय शक्तियां यद्यपि अन्योन्याश्रित हैं फिर भी उनकी गतियोंके गुणमें भेद होता है और उनके वर्णनकी सरलताके लिये हमें उनको एक-दूसरेसे अलग करना पड़ता है। इस प्रकार हम उच्चतर मन, मध्यवर्ती मन, भौतिक मन और अत्यंत स्थूल मनके बारेमें कह सकते हैं; इनके अतिरिक्त और भी बहुतेरे भेद किये जा सकते हैं।

कुछ मनोमय भूमिकाएं ऐसी हैं जो प्राणमय जगत्से बहुत ऊपर स्थित हैं और वे प्राणमय जगत्के प्रभावसे बच जाती हैं; वहां विरोधी शक्तियां या सत्ताएं हैं ही नहीं। परंतु दूसरी मनोमय भूमिकाएं हैं — और ये अनेक हैं — जहां प्राणमय शक्तियां पहुंच सकती हैं और उनमें ओत-प्रोत हो सकती हैं। जो मनोमय भूमिका भौतिक जगत्से संबंध रखती है, जिसे हम साधारणतया भौतिक मन कहते हैं, उसकी बनावट और गति असली मनकी अपेक्षा अधिक स्थूल और जड़ होती है और यह भौतिक मन प्राणमय असत् और विरोधी शक्तियोंके बहुत अधिक प्रभावमें रहता है। भौतिक मन साधारणतया निम्न प्राणकी चेतना और इसकी गतियोंके साथ एक प्रकारकी मित्रताका संबंध रखता है। निम्नतर प्राण जब किन्हीं इच्छाओं और आवेगोंको प्रकट करता है तब यह अधिक स्थूल मन उसकी सहायताके लिये पहुंच जाता है, उसके लिये लंबी-चौड़ी व्याख्याएं, तर्क और बहाने निकाल-निकालकर उसके औचित्यको सिद्ध करने और उनका समर्थन करनेकी कोशिश करता है। मनका यही स्तर प्राणमय जगत्के सुझावोंके लिये

बहुत अधिक खुला रहता है और अधिकतर इसीपर प्राणमय जगत्‌की शक्तियां आक्रमण किया करती हैं। परन्तु हममें एक उच्चतर मन भी है जो निःस्वार्थ भावनाओं और प्रकाशमय चिन्तनोंके क्षेत्रमें विचरण करता रहता है, यही मन आकारोंका जन्मदाता है, और भावोंका एक मन है, ऐसे भावोंका जिन्हें अभी आकार नहीं दिया गया है; ये महत्तर मनके लोक प्राणमय गतियों और विरोधी शक्तियोंसे सर्वथा मुक्त हैं, क्योंकि यह उनकी पहुंचके बहुत ऊपर स्थित है। वहां परस्पर प्रतिकूल गतियां हो सकती हैं, ऐसी गतियां और रचनाएं हो सकती हैं जो 'सत्य'के साथ टकराती हों, जो एक-दूसरेकी विरोधी हों; किन्तु वहां प्राणमय विघ्न नहीं है, ऐसी कोई चीज नहीं है जिसे प्रतिकूल या शत्रु कहा जा सके। सच्चा दार्शनिक मन, चिंतन करनेवाला, आविष्कारक तथा आकार निर्माण करनेवाला मन और जिन्हें अभीतक आकार नहीं प्राप्त हुआ है ऐसी विशुद्ध भावनाओंवाला मन, इस हीनतर आक्रमण और प्रभावकी पहुंचके परे है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि जिन विकृत या विरोधी सत्ताओंके विषयमें मैंने अभीतक कहा है उनसे अधिक शक्तिशाली तथा उच्चतर स्रोतवाली सत्ताओंके द्वारा इन मनोंकी गतियोंकी नकल नहीं की जा सकती अथवा इनकी सृष्टिका दुरुपयोग नहीं किया जा सकता।

चैत्य जगत्‌की अवस्थाएं कैसी हैं? वहां विरोधी शक्तियोंके बारेमें उसकी क्या स्थिति है?

चैत्य जगत् अथवा उसकी चेतनाकी भूमिका जगत्‌का वह भाग है, चैत्य पुरुष हमारी सत्ताका वह भाग है जो सदा भागवत चेतनाके प्रभावमें रहता है, विरोधी शक्तियां इसपर किसी प्रकारकी जरा-सी क्रिया भी नहीं कर सकतीं। यह सामंजस्यका जगत् है और इसमें प्रत्येक वस्तु एक प्रकाशसे दूसरे प्रकाशकी ओर तथा एक प्रगतिसे दूसरी प्रगतिकी ओर गति करती है। यह भागवत चेतनाका, व्यक्तिमें रहनेवाली दिव्य आत्माका निवास-स्थान है। यह प्रकाशका, सत्यका, ज्ञानका, सौंदर्यका और सामंजस्यका केंद्र है जिसे दिव्य आत्मा अपनी उपस्थितिके द्वारा हममेंसे हर एकके अंदर थोड़ा-थोड़ा करके बनाती रहती है। यह भागवत चेतनाका एक अभिन्न अंग है और उसीके द्वारा प्रभावित, गठित और परिचालित होता है। यही तुममेंसे हर एकके अंदर वह गभीर आंतर सत्ता है जिसे अपने अंदर रहनेवाले भगवान्‌के संपर्कमें आनेके लिये तुम्हें ढूंढना होगा। यह भागवत चेतना और तुम्हारी बाह्य चेतनाके बीच संबंध जोड़ती है, आंतर जीवनको बनाती

है, और बाह्य प्रकृतिमें भागवत संकल्पके अनुसार व्यवस्था और नियमकी अभिव्यक्ति करती है। यदि तुम अपने अंदर रहनेवाले चैत्य पुरुषसे अपनी बाह्य चेतनामें अवगत होकर उसके साथ एक हो जाओ तो तुम शुद्ध शाश्वत चेतनाको पा सकोगे और उसमें रह सकोगे; और साधारण मनुष्य-की तरह सदा अज्ञानद्वारा कर्ममें प्रवृत्त होनेके बदले, तुम अपने अंदर एक शाश्वत ज्योति और ज्ञानकी उपस्थितिका अनुभव करोगे, और तुम इसीको आत्म-समर्पण करोगे और उसीको पूर्ण रूपसे आत्म-निवेदन करके इसीके द्वारा प्रत्येक कर्ममें चालित होते रहोगे।

क्योंकि, चैत्य पुरुष तुम्हारा वह भाग है जो भगवान्को अर्पित हो चुका है। इसका जो प्रभाव तुम्हारी चेतनाकी अत्यंत बाह्य और स्थूल सीमाओं पर क्रमशः फैल रहा है, वही तुम्हारी संपूर्ण प्रकृतिका रूपांतर करेगा। यहां किसी प्रकारके अंधकारको स्थान नहीं है, यह तुम्हारा ज्योतिर्मय भाग है। अधिकतर मनुष्य अपने अंदर रहनेवाले इस भागसे अनिभज्ञ हैं। योग-साधना तुम्हें इस भागके प्रति सचेतन बनानेके लिये है, ताकि तुम्हारे रूपांतरकी प्रक्रिया, शताब्दियोंमें पूर्ण होनेवाले एक मंद और लंबे प्रयासके बदले एक ही जीवन अथवा कुछ ही वर्षोंमें पूरी होनेवाली बन जाय।

चैत्य पुरुष वह है जो मृत्युके बाद भी बना रहता है, क्योंकि यह तुम्हारा शाश्वत व्यक्तित्व है और यही चेतनाको जन्म-जन्मांतरमें आगे बढ़ाता रहता है।

चैत्य पुरुष तुम्हारे अंदर स्थित सत्य, भागवत व्यक्तिका वास्तविक व्यक्तित्व है। कारण, तुम्हारे व्यक्तित्वका अर्थ है अभिव्यक्तिका एक विशेष प्रकार, और तुम्हारा चैत्य पुरुष उस भागवत चेतनाका — जिसने तुम्हारे अंदर रूप ग्रहण किया है — एक पहलू है। परंतु व्यष्टि-चेतना और विश्वचेतनाके बीच जो भेद-भाव तुम्हारी प्रकृतिके अन्य भागोंमें है वह चैत्यपुरुषकी चेतनामें नहीं है। वहां तुम्हें इस बातका ज्ञान रहता है कि तुम्हारा व्यक्तित्व तुम्हारी अभिव्यक्तिका विशिष्ट प्रकार है, पर साथ-साथ तुम जानते हो कि वह अखंड विश्व-चेतनाकी ही बहिर्गत अभि-व्यक्ति है। यह ऐसा है मानों तुमने अपने एक अंगको अपने-आपमेंसे निकालकर बाहर कर अपने सामने रख लिया हो और अब दोनों आपसमें एक-दूसरेको देख रहे हों और दोनोंके बीच क्रियाओंकी लीला हो रही हो। अपने बहिर्गत रूपके साथ संबंध बनाने और स्थापित करने और उसे भोग सकनेके लिये यह द्वैत भाव जरूरी था। किंतु चैत्य-चेतनामें यह भेद-भाव, जो द्वैत-भावको तेज करता है केवल भ्रम-रूप, एक आभासमात्र अनुभव होता है, इससे अधिक कुछ नहीं।

क्या "अध्यात्म" भूमिका और "चैत्य भूमिकामें" कोई भेद है? क्या ये अलग-अलग हैं?

हां, चैत्य भूमिका व्यक्तिगत अभिव्यक्तिसे संबंध रखती है, तुममें जो दिव्य है, जो लीलामें गतिशील होनेके लिये आविर्भूत हुआ है, वह है चैत्य पुरुष। परंतु जब हम आध्यात्मके विषयमें बोलते हैं तो हमारे ध्यानमें कोई ऐसी चीज होती है जो बाह्य अभिव्यक्तिमें नहीं, भगवानमें केंद्रित है। आध्यात्मिक भूमिका बाहरी लीलाके पीछे और ऊपर स्थितशील रूपमें विद्यमान है। यह प्रकृतिके उपकरणोंको सहारा देती है, किंतु यहांकी बाह्य अभिव्यक्तिमें यह अपने-आपको सम्मिलित या लीन नहीं करती।

परंतु इन विषयोंकी चर्चा करते हुए हमें यह सावधानी रखनी चाहिये कि हम जिन शब्दोंका उपयोग करते हैं, उनके बंदी न बन जायं। मैं जब चैत्य पुरुष अथवा अध्यात्मके विषयमें कुछ कहती हूं तो मेरा अभिप्राय उन वस्तुओंसे होता है जो शब्दोंके नीरव तलके पीछे अत्यंत गंभीर और वास्तविक हैं, और अपनी पृथक्तामें भी अंतरंग संबंध रखती हैं। बौद्धिक व्याख्याएं और विवेचन इतने अधिक बाह्य और कठोर होते हैं कि वे वस्तुओंके वास्तविक सत्यको नहीं पकड़ सकते। फिर भी, यदि तुम्हें आपसमें बातचीत करनेका काफी अभ्यास न हो तो एक-दूसरेकी बात समझनेके लिये अपने शब्दोंके भावकी व्याख्या जरूरी होती है। किसी वार्तालापके लिये आदर्श अवस्था वह होती है जब मन परस्पर इतनी अच्छी तरह मिले हुए हों कि शब्द उनके अनायास होनेवाले पारस्परिक बोधके लिये केवल सहारामात्र हों और तुम्हें अपने शब्दोंकी पद-पदपर व्याख्या करनेकी आवश्यकता न पड़े। जब तुम हर बार उन्हीं लोगोंसे बातचीत करते हो तो यह लाभ रहता है, उनके मनोंमें एक समस्वर सामंजस्यकी स्थापना हो जाती है और कही हुई बातका मर्म उनके अन्दर तुरन्त पैठ जाता है।

आकारहीन भावोंका एक जगत् है और अगर तुम यह जानना चाहो कि शब्दोंके पीछे क्या है तो तुम्हें इसमें प्रवेश करना होगा। जबतक तुम्हारी समझ शब्दोंके बाह्य रूपोंपर आश्रित है तबतक तुम्हें सत्य-भावको समझनेके लिये बड़ी उलझनमें पड़ना पड़ सकता है। परन्तु यदि तुम अपने मनकी नीरवतामें उस जगत्में उठ सको जहांसे भाव रूप ग्रहण करनेके लिये उतरते हैं तो तुम्हें तुरत सत्य बोध हो जायगा। यदि तुम असंदिग्ध रूपसे एक-दूसरेको समझना चाहो तो तुम्हें नीरवतामें समझना चाहिये। एक ऐसी अवस्था होती है जिसमें तुम्हारे मन इतने अधिक समस्वर और सामंजस्यमय हो जाते हैं कि शब्दोंकी आवश्यकता नहीं रह

जाती और एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिके विचारको अनुभव कर लेता है। परन्तु यह समस्वरता न हो तो तुम्हारे अभिप्रायमें सदा कुछ-न-कुछ विकार आ ही जायगा, तुम जो कुछ कहोगे उसमें दूसरेका मन अपना ही कुछ अभिप्राय जोड़ देगा। मैं एक शब्दका प्रयोग उसके किसी विशिष्ट अर्थमें या उस अर्थकी किसी विशिष्ट छटामें करती हूं, तुम उस शब्दको दूसरे ही अर्थ या छटामें लेनेके अभ्यासी हो। अब यह स्पष्ट है कि उस शब्द-में मेरा ठीक अभिप्राय नहीं, बल्कि अपना ही अर्थ समझोगे। यह बात केवल वाणीके बारेमें ही नहीं, किन्तु पढ़नेके सम्बन्धमें भी सच्ची है। यदि तुम किसी गभीर शिक्षाकी पुस्तकको समझना चाहते हो तो तुम्हें उसे मन-की नीरवतामें पढ़ सकना चाहिये। तुम्हें प्रतीक्षा करनी चाहिये, उस पुस्तकके कथनको अपने अन्दरकी गहराईमें उतरकर उस क्षेत्रतक पहुंच जाने देना चाहिये जहां शब्द नहीं होते। और फिर वहांसे शनैः-शनैः अपनी बाह्य चेतना और उसकी ऊपरी तलतक वापस लौट आने देना चाहिये। परन्तु यदि शब्दोंको अपने बाह्य मनतक एक ही छलांगमें पहुंचने दोगे और इन दोनोंको परस्पर जोड़ने और इनका मेल मिलानेकी चेष्टा करोगे तो तुम शब्दोंके वास्तविक अभिप्राय और शक्तिको पूरी तरह गंवा दोगे। जबतक तुम अपने अव्यक्त मनके साथ, जो अभिव्यक्ति-केन्द्रके पीछे रहता है, एकता प्राप्त न कर लो तबतक समझको निर्भ्रांत नहीं कहा जा सकता।

एक बार हम वैयक्तिक मनकी इस तरह चर्चा कर चुके हैं मानों प्रत्येक मन एक स्पष्ट रूपसे अलग जगत् है; हर एक अपने-आपमें बन्द है, उनमें एक-दूसरेके साथ किसी प्रकारका कोई सीधा सम्बन्ध नहींके बराबर है। परन्तु यह अवस्था मनके हीनतर क्षेत्रमें ही है, वहां तुम्हारी अपनी रचनाएं ही तुम्हें बन्द कर लेती हैं और तुम इनमेंसे या अपने-आपसे बाहर नहीं निकल सकते। तुम अपने-आपको ही अथवा वस्तुओंमें अपने प्रति-बिम्बको ही समझ सकते हो। परन्तु यहां अनभिव्यक्त मनके उच्चतर क्षेत्रों और उसकी पवित्रतर ऊंचाइयोंमें तुम स्वतंत्र हो। इसमें घुसते ही तुम अपने-आपमेंसे बाहर निकल जाते हो और एक ऐसे विश्वव्यापी मनोमय लोकमें प्रवेश करते हो जिसमें प्रत्येक व्यष्टिगत मनोमय जगत् इस प्रकार निमग्न हो जाता है मानों किसी विशाल समुद्रमें समा गया हो। वहां, दूसरेके अन्दर जो कुछ हो रहा हो उसे तुम पूरी तरह समझ सकते हो तथा उसके मनको इस प्रकार पढ़ सकते हो मानों वह तुम्हारा अपना मन हो, क्योंकि वहां कोई पृथक्ता एक मनको दूसरे मनसे अलग नहीं करती। इस क्षेत्रमें पहुंचकर जब तुम दूसरोंके साथ एक हो जाते हो, तभी उन्हें

समझ सकते हो, अन्यथा तुम उनके साथ एकस्वर नहीं हो पाते, तुम उन्हें स्पर्श नहीं कर पाते, तुम्हारे पास ऐसा कोई साधन नहीं होता जिसके द्वारा तुम अपने मनके अतिरिक्त किसी और मनमें जो कुछ हो रहा है उसे ठीक-ठीक जान सको। प्रायः जब तुम किसी दूसरेके सामने होते हो तो तुम्हें इस बातका कोई ज्ञान नहीं होता कि वह क्या सोच या अनुभव कर रहा है। किन्तु यदि तुम अभिव्यक्तिकी इस बाह्य भूमिकाके परे और ऊपर जा सको, यदि तुम उस भूमिकामें प्रवेश कर सको जहां नीरव संपर्क संभव है तो तुम दूसरेके मनको अपने मनकी तरह जान सकोगे। तब अपने-आपको व्यक्त करनेके लिये शब्दोंका महत्त्व बहुत कम हो जायगा, क्योंकि समझ तो शब्दोंके परे किसी दूसरी ही वस्तुमें रहती है और कम-से-कम शब्द तुम्हारे प्रयोजनके लिये पर्याप्त होते हैं। वहां लम्बी-लम्बी व्याख्याओंकी आवश्यकता नहीं रहती, विचारको पूरे विस्तारसे व्यक्त करनेकी आवश्यकता नहीं होती. क्योंकि वहां आशयका तुम्हें प्रत्यक्ष दर्शन होता है।

क्या ऐसा समय भी आयेगा जब विरोधी शक्तियां रहेंगी ही नहीं?

जब जगत्‌में उनकी उपस्थितिका कोई उपयोग न रह जायगा तो वे लुप्त हो जायंगी। उनकी क्रिया हमारी जांचकी प्रक्रियाके तौरपर उपयोगमें लायी जाती है, ताकि कोई भी त्रुटि छूट न जाय, रूपान्तरके कार्यमें कोई भी चीज बाकी न बच जाय। वे किसी भूलको न रहने देंगी। अगर तुमने अपनी सत्ताके किसी मामूली-से ब्योरेकी भी अवहेलना की तो वे झट आ पहुंचेंगी और उस उपेक्षित स्थानको छूकर रखेंगी और उसे तुम्हारे लिये इतने दुःखद रूपमें स्पष्ट बना देंगी कि तुम परिवर्तन करनेके लिये बाध्य हो जाओगे। जब इस प्रक्रियाके लिये उनकी आवश्यकता न रहेगी तब उनका रहना निरर्थक हो जायगा और वे लुप्त हो जायंगी। उन्हें यहां रहने दिया गया है क्योंकि भगवान्‌के महान् कार्यमें उनकी आवश्यकता है; जब वे अनिवार्य न रहेंगी तब या तो वे बदल जायंगी या चली जायंगी।

क्या इसमें बहुत समय लगेगा?

सब कुछ तुम्हारे दृष्टिकोणपर निर्भर है। काल सापेक्षिक है, तुम उसके बारेमें साधारण बाह्य मानव दृष्टिकोणसे, आन्तर चेतनाके गभीरतर दृष्टि-

कौनसे या भगवान्‌की दृष्टिसे चर्चा कर सकते हो।

यदि तुम भागवत चेतनाके साथ एक हो तो फिर किसी कार्यमें चाहे मनुष्यकी कालगणनाके हिसाबसे एक हजार वर्ष लगें या केवल एक वर्ष लगे, इसका कुछ भी महत्त्व नहीं रहता; क्योंकि, उस अवस्थामें तुम मानव प्रकृतिकी अवस्थाओंका अतिक्रमण कर भागवत प्रकृतिकी अनन्तता और शाश्वततामें प्रवेश कर जाते हो। तब तुम जल्दबाजीकी व्याकुलतासे बच जाते हो जिससे मनुष्य जकड़े रहते हैं क्योंकि, वे कामको पूरा होते हुए देखना चाहते हैं। उद्वेग, उतावलेपन और बेचैनीसे कुछ नहीं बनता। यह समुद्रपर फेन है, यह एक महान् उपद्रव है जो अपने-आपमें समाप्त हो जाता है। मनुष्योंको लगता है कि निरंतर दौड़-धूप और कूद-फांद किये बिना, कर्मण्यताके आवेशमें उन्मत्त होकर कुछ-न-कुछ जोड़-तोड़ लगाये बिना वे कुछ कर ही नहीं सकते। परंतु यह समझना एक भ्रम है कि इन तथाकथित हलचलोंसे चीजें बदल सकती हैं। यह एक ऐसी बात है जैसे कोई एक कटोरेको हाथमें उठाकर उसमें जलको थपेड़ता रहे। इस क्रियासे जल इधर-उधर अवश्य हिलेगा, किंतु तुम्हारे इतने थपेड़े खाकर भी वह नहीं बदलेगा। कर्मका यह भ्रम मानव प्रकृतिके सबसे बड़े भ्रमों-मेंसे है। इससे प्रगतिमें बाधा पहुंचती है, क्योंकि इस भ्रममें पड़कर तुम सदा किसी उत्तेजित गतिसे दौड़ पड़नेकी आवश्यकताका अनुभव करने लगते हो। काश, तुम इस भ्रमको जान जाओ, और यह देख सको कि यह सब कितना निरर्थक है, कि इससे कुछ भी नहीं बदलता! इसके द्वारा तुम्हें कहीं कुछ नहीं प्राप्त हो सकता। जो इस प्रकार दौड़-धूप करते हैं वे ऐसी शक्तियोंके खिलौने होते हैं जो उन्हें अपने आमोदके लिये नचाया करती हैं। और ये शक्तियां भी उत्तम कोटिकी नहीं होतीं।

जगत्‌में जो कुछ भी किया गया है वह उन थोड़े-से लोगोंके द्वारा ही किया गया है जो क्रियाओंके परे नीरवतामें स्थित रह सके हैं, ऐसे लोग भागवत शक्तिके उपकरण होते हैं। ये गतिशील प्रतिनिधि और सचेतन उपकरण हैं जो उन शक्तियोंको उतार लाते हैं जो जगत्‌का परिवर्तन करती हैं। कार्य इसी प्रकार किया जा सकता है, न कि चंचल कर्मण्यताद्वारा। शांति, स्थिरता और नीरवताकी अवस्थामें ही जगत्‌का निर्माण हुआ था और जब कभी किसी सच्ची चीजकी रचना करनी होगी तो उसे शांति, नीरवता और स्थिरताकी अवस्थामें ही करना होगा। यह समझना अज्ञान है कि जगत्‌के लिये कुछ कर सकनेके लिये तरह-तरहकी निरर्थक बातोंके लिये परिश्रम करना और सुबहसे शामतक दौड़-धूप करना आवश्यक है।

एक बार तुम इन चक्कर खाती हुई शक्तियोंसे पीछे हटकर शांत क्षेत्रों-

में पहुंच जाओ तो देखोगे कि यह कितना बड़ा भ्रम है। तब तुम्हें मानव-जाति अंधे प्राणियोंके समूह-सी लगेगी जो यह जाने बिना कि वे क्या कर रहे हैं और क्यों कर रहे हैं, इधर-उधर दौड़-धूप करते फिरते हैं और एक-दूसरेके साथ केवल टकराते और ठोकरें खाते रहते हैं। और लोग इसीको कर्म और जीवन कहते हैं! यह थोथी हलचल है, कर्म नहीं, सत्य जीवन भी नहीं।

मैंने एक बार कहा था कि दस मिनटतक सार्थक रूपसे बोलनेके लिये तुम्हें दस दिनतक मौन रहना चाहिये। मैं यह और जोड़ सकती हूं कि एक दिन सार्थक रूपसे कार्य करनेके लिये एक वर्षतक शांत रहना चाहिये। अवश्य ही, यह बात मैं साधारण बाह्य जीवनके लिये आवश्यक नित्यकी दिनचर्या-संबंधी सामान्य कार्योंके विषयमें नहीं कह रही, बल्कि उनके लिये कह रही हूं जिन्हें संसारमें कुछ करना है अथवा जिनका यह विश्वास है कि उन्हें कुछ करना है। और नीरवतासे मेरा अभिप्राय आंतरिक शक्तिसे है और यह उन्हींको प्राप्त हो सकती है जो अपने कर्मोंसे अपने-आपको तदाकार किये बिना, उनमें सराबोर हुए बिना तथा अपनी ही प्रवृत्तियोंके कोलाहल और रूपसे अंधे और बहरे हुए बिना कर्म कर सकते हों। अपने कर्मोंसे अपने-आपको अलग कर लो और इन सांसारिक प्रवृत्तियोंके परे जो दृष्टि है उसमें ऊपर उठो; 'शाश्वत' की चेतनामें प्रवेश करो। तभी तुम जान पाओगे कि सच्चा कर्म क्या है।

२ जून, १९२९

मानवप्रेमका भागवत प्रेमके साथ क्या सम्बन्ध है? क्या मानव-प्रेम भागवत प्रेममें बाधक है? क्या यह ठीक नहीं है कि मानवप्रेमको धारण करनेकी योग्यता भागवत प्रेमको धारण करनेके सामर्थ्यका सूचक है? क्या ईसा मसीह, रामकृष्ण और विवेकानन्द जैसे महान् आध्यात्मिक व्यक्ति स्वभावतः अत्यन्त प्रेमी और स्नेही नहीं थे?

प्रेम विश्वव्यापी महान् शक्तियोंमेंसे एक है। यह अपने-आपमें स्थित है और जिन पदार्थोंमें यह प्रकट होता है अथवा जिनके द्वारा अपने-आपको

प्रकट करता है उनसे पूरी तरह स्वतंत्र रहता है। इसे जहां कहीं अभिव्यक्त होनेकी संभावना दीखती है, जहां कहीं ग्रहणशीलता होती है जहां कहीं द्वार खुला होता है, वहीं यह अभिव्यक्त हो जाता है। तुम जिसे प्रेम कहते हो, जिसे तुम निजी या व्यक्तिगत वस्तु समझते हो वह इस विश्वव्यापी शक्तिको ग्रहण करने और अभिव्यक्त करनेकी तुम्हारी क्षमतामात्र है। परन्तु विश्वव्यापी होनेके नाते यह कोई अचेतन शक्ति नहीं है, यह एक परम सचेतन दिव्य शक्ति है। यह सचेतन रूपमें धरतीपर अपनी अभिव्यक्ति और सिद्धिके लिये प्रयत्न करती है, सचेतन होकर अपने उपकरण चुनती है, जो लोग इसके आवाहनका उत्तर दे सकते हैं उन्हें यह अपनी तरंगोंके प्रति जाग्रत करती है और अपने शाश्वत लक्ष्यको उनके अन्दर सिद्ध करनेका प्रयास करती है, और जब कोई उपकरण अनुपयुक्त होता है तो उसे छोड़कर दूसरोंको ढूंढती है। मनुष्य सोचते हैं कि वे एकाएक प्रेम-पाशमें बंध गये हैं, वे अपने प्रेमको उत्पन्न होते, बढ़ते और फिर मुरझाते देखते हैं — अथवा, हो सकता है कि कुछ लोगोंमें, जो उसकी अधिक स्थायी क्रियाके लिये विशेष रूपसे उपयुक्त हैं, यह कुछ अधिक टिके। परन्तु यह समझना भ्रम है कि यह उनका अपना व्यक्तिगत अनुभव था। वह तो विश्वव्यापी प्रेमके सनातन समुद्रकी एक लहरमात्र थी।

प्रेम विश्वव्यापी और सनातन है; यह अपने-आपको सदा अभिव्यक्त करता रहता है और अपने सार-रूपमें सदा समरूप रहता है। यह एक भागवत शक्ति है; इसकी बाह्य क्रियाओंमें जो विकार दिखायी देते हैं वे इसके उपकरणोंके होते हैं। प्रेम केवल मानवप्राणियोंमें ही अभिव्यक्त नहीं होता; यह सर्वत्र है। इसकी गति वनस्पतियोंमें भी है, शायद पत्थरोंतकमें भी है। पशु-पक्षियोंमें इसकी उपस्थितिका पता लगाना सरल है। इस महान् और दिव्य शक्तिके विकार इसके परिमित उपकरणकी मलिनता, अज्ञान और स्वार्थसे आते हैं। प्रेममें, इस शाश्वत शक्तिमें कोई चिपटनेकी वृत्ति नहीं होती, न कोई इच्छा, न स्वत्वकी भूख और न स्वार्थ-भरी आसक्ति होती है। अपनी विशुद्ध गतिमें वह परमात्माके साथ एक होनेके लिये आत्माकी खोज है, यह एक ऐसी खोज है जो अन्य समस्त वस्तुओंसे निरपेक्ष और निर्लिप्त रहती है। भागवत प्रेम अपने-आपको देता है, कोई मांग नहीं करता। मनुष्योंने इसको क्या बना डाला है यह कहनेकी आवश्यकता नहीं। उन्होंने इसे एक भद्दी और वीभत्स वस्तु बना दिया है। फिर भी, मनुष्योंमें भी, प्रेमका प्रथम संस्पर्श अपने पवित्रतर सारका कुछ अंश ले आता है। क्षण-भरके लिये वे अपने-आपको भुला देनेमें समर्थ हो जाते हैं, क्षण-भरके लिये इसका दिव्य स्पर्श, सभी सुन्दर और

मनोहर चीजोंको जगाता है और बढ़ाता है। परन्तु बादमें अपनी अपवित्र मांगोंसे भरी, बदलेमें किसी चीजकी याचना करती, जो कुछ देती है उसके बदलेमें कुछ चाहती, अपनी निकृष्ट तृप्तियोंके लिये शोर मचाती और जो दिव्य था उसे विकृत और कलुषित करती हुई मानव प्रकृति ऊपरी तलपर उठ आती है।

भागवत प्रेमको अभिव्यक्त करनेके लिये तुम्हें उसे ग्रहण करने योग्य होना चाहिये। क्योंकि, उसे वे ही अभिव्यक्त कर सकते हैं जो इसकी नैसर्गिक प्रवृत्तिके लिये स्वभावतः खुले होते हैं। उनमें यह उद्घाटन जितना विशाल और अबाध होगा उतना ही वे दिव्य प्रेमको उसकी मौलिक पवित्रताके साथ अभिव्यक्त कर सकेंगे और जितना ही यह निम्नतर मानव भावोंसे मिश्रित होता है, उतना ही अधिक विकार इसकी अभिव्यक्तिमें आ जाता है। जो प्रेमको उसके असली और सत्य रूपमें ग्रहण करनेके लिये खुला हुआ नहीं है वह भगवान्‌के समीप नहीं पहुंच सकता। ज्ञान-मार्गके अनुयायी भी एक समय ऐसे स्थलपर जा पहुंचते हैं, जहांसे यदि वे आगे बढ़ना चाहें तो वे अपने-आपको ज्ञानके साथ प्रेममें प्रवेश करते हुए पाते हैं और अनुभव करते हैं कि दोनों एक ही हैं। ज्ञान भगवत्-मिलनकी ज्योति है और प्रेम ज्ञानका हृदय। आत्माकी प्रगतिमें एक ऐसा स्थान आता है जहां ये दोनों मिल जाते हैं और तुम एकको दूसरेसे अलग नहीं कर सकते। आरंभमें इन दोनोंके बीच तुम जो विभाजन करते हो वह मनकी रचना है : उच्चतर भूमिकापर उठते ही ये भेद गायब हो जाते हैं।

जो लोग इस जगत्‌में भगवान्‌को प्रकट करने और पार्थिव जीवनको रूपान्तरित करनेके लिये आये हैं उनमें कुछने दिव्य प्रेमको अधिक पूर्णताके साथ अभिव्यक्त किया है। कुछमें इस अभिव्यक्तिकी पवित्रता इतनी अधिक थी कि समस्त मानवजातिने उन्हें गलत समझा। यहांतक कि उन-पर कठोर और प्रेमशून्य होनेका दोष लगाया गया है, यद्यपि उनमें दिव्य प्रेम विद्यमान है। परन्तु उनमें इसका रूप भी इसके तत्त्वकी तरह मानव नहीं, दिव्य होता है। मनुष्य जब प्रेमकी बात करता है तो वह इसे भावा-वेश और भावुकतापूर्ण दुर्बलताके साथ जोड़ देता है। परन्तु मनुष्य आत्म-विस्मृतिकी दिव्य प्रगाढ़तासे, बिना संकोच अपने लिये कुछ भी बचा-कर रखे बिना, बदलेमें कुछ भी मांगे बिना, भेंटके तौरपर अपने-आपको पूर्ण रूपसे न्योछावर कर देनेकी शक्तिसे अपरिचित-सा है। और जब यह भागवत प्रेम दुर्बल भावुकता-भरे भावावेशोंके बिना, अपने सत्य स्व-रूपमें आता है तो लोग इसे निष्ठुर और नीरस पाते हैं; वे इसमें प्रेमकी उच्चतम और तीव्रतम शक्तिको नहीं पहचान पाते।

जगत्‌में भगवान्‌के प्रेमकी अभिव्यक्ति उनकी महान् आहुति थी, उनका परम आत्म-दान था। 'पूर्ण चेतना'ने जड़-प्रकृतिकी अचेतनामें निमग्न और विलीन होना स्वीकार किया ताकि अंधकारकी गहराइयोंमें भी चेतना जाग्रत की जा सके और उनमें शनैः-शनैः दिव्य शक्ति उदित हो सके तथा सारे अभिव्यक्त विश्वको दिव्य चेतना और भागवत प्रेमकी सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति बनाया जा सके। अपनी परम दिव्यपूर्ण अवस्थाको, उसकी निरपेक्ष चेतनाको, उसके अनन्त ज्ञानको खोना स्वीकार करके, अचेतनाके साथ एक होकर अज्ञान और अन्धकारसे भरे जगत्‌में वास करना ही परम प्रेम था। फिर भी शायद कोई भी इसे प्रेम नहीं कहेगा; क्योंकि यह अपने-आपको ऊपरी भावनाओंसे नहीं मढ़ता, इसने जो कुछ किया है उसके बदलेमें कोई मांग नहीं रखता, अपने बलिदानका प्रदर्शन नहीं करता। जगत्‌में प्रेम-शक्ति उन चेतनाओंकी खोजमें है जो इस भागवत गतिको उसके विशुद्ध रूपमें ग्रहण करने और उसे अभिव्यक्त करनेके योग्य हों। समस्त जीवोंकी प्रेमके लिये यह दौड़, समस्त जीवोंके तथा जगत्‌के हृदयमें प्रेमके लिये अदम्य आवेग, उस भागवत प्रेमकी प्रेरणाके कारण ही है जो मनुष्यकी समस्त कामना और चाहके पीछे वर्तमान है। प्रेम-शक्ति करोड़ों उपकरणोंका स्पर्श करती है, सदा परीक्षण करती है, सदा असफल होती है; किन्तु इसका यह बार-बारका स्पर्श उपकरणोंको तैयार कर रहा है और एक दिन आयेगा जब सहसा उनमें आत्म-दान और प्रेमकी शक्ति जाग उठेगी।

प्रेमकी गति मनुष्योंतक ही परिमित नहीं है और संभवतः मानवजातिकी अपेक्षा अन्य सृष्टियोंमें कम विकृत है। पुष्पों और वृक्षोंको देखो। जब सूर्य अस्त होता और सब कुछ नीरव हो जाता है, तब क्षण-भरके लिये शान्त होकर बैठो और अपने-आपको प्रकृतिके साथ एक कर दो : तुम अनुभव करोगे कि पृथ्वीसे, वृक्षोंकी जड़के नीचेसे प्रगाढ़ प्रेम और कामनासे पूर्ण एक अभीप्सा ऊपर उठ रही है और यह अभीप्सा ऊपरकी ओर बढ़ती हुई तथा वृक्षोंके तंतुओंमेंसे संचार करती हुई उनकी उच्चतम शाखाओंतकमें उठ रही है — उस वस्तुके लिये कामना जो प्रकाश लाती और सुख फैलाती है, उस प्रकाशके लिये जो चला गया है, जिसे वे वापस चाहते हैं। उनमें यह चाह इतनी पवित्र और तीव्र होती है कि यदि तुम वृक्षोंमें होनेवाली गतिको अनुभव कर सको तो तुम्हारी अपनी सत्ता भी उस शांति, उस प्रकाश और प्रेमके लिये हार्दिक प्रार्थना करने लगेगी जो अभीतक यहां अभिव्यक्त नहीं है। एक बार भी यदि तुम इस विशाल, विशुद्ध और सत्य दिव्य प्रेमके संस्पर्शमें आ जाओ, यदि तुम थोड़ी देरके लिये भी

इसके लघुतम रूपका ही अनुभव कर पाओ, तो तुम यह अनुभव कर लोगे कि मनुष्यकी वासनाने इसके स्वरूपको कितना नीच बना डाला है। मानवप्रकृतिमें यह क्षुद्र, पाशविक, स्वार्थमय, हिंसात्मक और कुरूप हो गया है, या फिर यह दुर्बल और भावुक, अत्यन्त तुच्छ भावोंसे भरा हुआ, क्षण-भंगुर, बाहरी और शोषक बन गया है। और इस नीचता और पशुताको अथवा इस स्वार्थसे भरी हुई दुर्बलताको लोग प्रेम कहते हैं!

क्या हमारी प्राणमय सत्ताको दिव्य प्रेमके आविर्भावमें भाग लेना है? यदि हां, तो इसके सहयोगका उचित और ठीक रूप क्या है?

क्या भागवत प्रेमकी अभिव्यक्तिका कहीं रुक जाना अभीष्ट है? क्या उसे किन्हीं अमूर्त या अपार्थिव क्षेत्रोंतक ही सीमित रहना होगा? भागवत प्रेम पृथ्वीपर अपनी अभिव्यक्तिको अत्यन्त जड़प्राकृतिक पदार्थतकमें प्रवाहित करता है। यह ठीक है कि मानव चेतनाके स्वार्थमय विकारोंमें उसका पता नहीं चलता; किन्तु अपने-आपमें प्राण तत्त्व दिव्य प्रेमके लिये वैसा ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जैसा कि समग्र अभिव्यक्त जगत्के लिये। प्राणके माध्यमके बिना गति और प्रगतिकी कोई संभावना नहीं रहती; किन्तु प्रकृति-की यह 'शक्ति' इतनी बुरी तरहसे विकृत की जा चुकी है कि कुछ लोग यह मानना पसन्द करते हैं कि इसे जड़से उखाड़कर फेंक देना चाहिये। परन्तु 'आत्मा'की रूपान्तर करनेवाली शक्ति प्राणके द्वारा ही जड़-प्रकृतिका स्पर्श करती है। यदि प्राण अपनी गतिशीलता और जीवन्त शक्तिको जड़-प्रकृतिमें संचारित करनेके लिये न हो तो जड़-प्रकृति मुर्दा बनी रहेगी, क्योंकि सत्ताके उच्चतर भाग पृथ्वीके साथ सम्बन्ध स्थापित न कर पायंगे, वे जीवन-में मूर्त रूप न ले सकेंगे, और असन्तुष्ट लौटकर अन्तर्द्धान हो जायंगे।

जिस भागवत प्रेमके सम्बन्धमें मैं कह रही हूं वह ऐसा 'प्रेम' है जो यहां इस भौतिक पृथ्वीपर, जड़प्रकृतिमें अभिव्यक्त हो रहा है, किन्तु यदि उसे अवतरित होना है तो उसे मानवविकृतियोंसे सर्वथा मुक्त रहना चाहिये। अन्य सभी अभिव्यक्तियोंकी तरह इसके लिये भी प्राण एक अनिवार्य साधन है। परन्तु जैसा कि हमेशा हुआ है, इस अमूल्य वस्तुपर विरोधी शक्तियोंने अपना अधिकार जमा लिया है। प्राणकी शक्ति ही इस मन्द और संवेदनशून्य जड़-प्रकृतिमें प्रविष्ट होकर उसे संवेदनक्षम तथा सजीव बनाती है। परन्तु विरोधी शक्तियोंने इसे विकृत कर दिया है; उन्होंने इसे हिंसा, स्वार्थ, कामना तथा हर प्रकारके भद्देपनका क्षेत्र बना

दिया है, इसे भागवत कर्ममें भाग लेनेसे रोक दिया है। बस, करने लायक काम यही है कि हम इसे रूपान्तरित करें, इसकी गतिका निग्रह अथवा नाश न करें, इसके बिना कहीं तीव्रता संभव नहीं है। हमारे अन्दर प्राण ही वह चीज है जो स्वभावसे ही अपने-आपको दे सकता है। प्राण ही वह तत्त्व है जिसमें हमेशा किसी चीजको लेनेका आवेग तथा बल रहता है, इसी कारण जो वस्तु अपने-आपको संपूर्ण रूपसे उत्सर्ग कर सकती है, वह भी प्राण ही है; चूंकि वह अधिकार जमाना जानता है, इसलिये वह यह भी जानता है कि बिना कुछ बचाये हुए अपने-आपको कैसे दिया जाय। प्राणकी सत्य गति अन्य सभी गतियोंसे अधिक सुन्दर और अत्यन्त उत्कृष्ट है किन्तु इसे तोड़-मरोड़कर अत्यन्त भद्दा, अत्यन्त विरूप और अत्यन्त घृणास्पद बना दिया गया है। प्रेम-संबन्धी मानव कथाओंमें जहां कहीं शुद्ध प्रेमका अणुमात्र भी प्रवेश हो पाया है और उसे बहुत अधिक विकारके बिना अभिव्यक्त होने दिया है, वहीं हमें एक सत्य और सुन्दर वस्तु दीख पड़ती है। और यदि यह गति अधिक देरतक नहीं ठहरती तो इसका कारण यह है कि यह अपने उद्देश्य और खोजसे सचेतन नहीं है; इसे यह ज्ञान नहीं है कि इसकी खोजका विषय एक जीवकी दूसरे जीवके साथ एकता नहीं, बल्कि समस्त जीवोंकी भगवान्‌के साथ एकता है।

प्रेम एक परम शक्ति है जिसे 'शाश्वत चेतना'ने अपने-आपमेंसे निकालकर धुंधले और अन्धकारग्रस्त जगत्‌में नीचे भेजा है, ताकि वह इस जगत्‌को और इसके जीवोंको भगवान्‌के पास लौटा लाये। अज्ञान और अन्धकारमें डूबा हुआ जड़प्राकृतिक जगत् भगवान्‌को भूल चुका था। प्रेम उस अन्धकारमें आया; जो सोये पड़े थे उन्हें जगाया; जो कान बन्द थे उन्हें खोलकर उनमें यह सन्देश फूंका : "एक वस्तु है जो इस योग्य है कि उसके लिये जागा जाय और उसके लिये जिया जाय, और वह है प्रेम!" और प्रेमके प्रति इस जाग्रतिके साथ-साथ भगवान्‌के पास लौट चलनेकी संभावना भी इस जगत्‌में प्रविष्ट हुई। प्रेमके द्वारा सृष्टि भगवान्‌की ओर उठती है और प्रत्युत्तरमें भागवत प्रेम और भागवत कृपा सृष्टिसे मिलनेके लिये नीचेकी ओर झुकते हैं। जबतक यह आदान-प्रदान न हो, परमात्मा और पृथ्वीका यह पारस्परिक मिलन न हो, भगवान्‌की ओरसे सृष्टिके प्रति और सृष्टिकी ओरसे भगवान्‌के प्रति 'प्रेम'की यह गति न हो तबतक प्रेम अपने शुद्ध सौन्दर्यमें नहीं रह सकता, अपनी नैसर्गिक शक्तिका और अपनी पूर्णताके प्रगाढ़ आनन्दका संचार नहीं कर सकता। यह संसार मृत जड़-प्रकृतिका जगत् था। फिर इसमें प्रेमका अवतरण हुआ जिसने इसे जीवनके प्रति जगा दिया। तभीसे यह जगत् जीवनके इस दिव्य आदि-स्रोतकी खोज-

में लगा है, किन्तु अपनी इस खोजमें इसने हर प्रकारके गलत मोड़ लिये हैं, बारंबार उलटे रास्तोंपर पड़ता और अंधेरेमें इधर-से-उधर भटकता रहा है। यह समूची सृष्टि किसी अज्ञातको खोजनेवाले एक अन्धेकी तरह अपने मार्गपर चली है, इसमें खोज तो है, पर वह यह नहीं जानती कि वह क्या खोज रही है। इसने जो अधिक-से-अधिक प्राप्त किया है, जो मानव प्राणियोंको प्रेमका उच्चतम स्वरूप दिखायी देता है, जो उनकी समझमें शुद्धतम और निःस्वार्थतम प्रकारका प्रेम है, वह है माताका अपने बच्चेके प्रति प्रेम। प्रेमकी यह मानव गति अबतक जो पा सकी है उससे इतर किसी वस्तुको गुप्त रूपसे ढूंढ रही है; किन्तु उसे नहीं मालूम कि वह वस्तु कहां मिलेगी, वह यह भी नहीं जानती कि वह है क्या। ज्यों ही मनुष्यकी चेतना दिव्य प्रेमके प्रति जाग्रत होती है, उस प्रेमके प्रति जो शुद्ध है, जो मानवरूपोंमें हुई सभी अभिव्यक्तियोंसे स्वतंत्र है, त्यों ही वह उसे जान जाती है जिसके लिये वास्तवमें उसका हृदय इतने समयसे तरस रहा था। यही है 'आत्मा'की अभीप्साका आरंभ, जिसके फलस्वरूप चेतनामें जाग्रति आती है और भगवान्‌के साथ एकताके लिये उत्कंठा उत्पन्न होती है। इसके साथ ही अज्ञानसे उत्पन्न रूप और उसके लादे हुए विकार मुरझाकर लुप्त हो जाते हैं और इन सबके स्थानपर सृष्टिकी एक ही प्रकारकी गति होती है जो भागवत प्रेमकी पुकारका उत्तर भगवान्‌के प्रति अपने प्रेमके द्वारा देती है। ज्यों ही सृष्टि भागवत प्रेमके लिये उन्मुख, सचेतन और जाग्रत होती है त्यों ही भागवत प्रेम सृष्टिमें फिरसे अपनी असीम वर्षा करने लगता है। गतिचक्र अन्तर्मुख हो जाता है और इसके दोनों छोर आपसमें मिल जाते हैं, चरम तत्त्व, अर्थात्, परम 'आत्मा' और विकासोन्मुख 'जड़-प्रकृति' एक हो जाते हैं तथा इनका दिव्य मिलन पूर्ण और स्थायी हो जाता है।

दिव्य प्रेमकी परम पवित्रता और शक्तिके कुछ अंशको यहां उतार लानेके लिये महान् आत्माओंने इस संसारमें जन्म लिया है। इस संसारमें अपनी सिद्धिको एक ही साथ सहजतर और पूर्णतर करनेके लिये भागवत प्रेमने इन लोगोंके द्वारा अपने-आपको व्यक्तिगत रूपमें प्रकट किया है। भागवत प्रेम जब किसी शरीरधारी व्यक्तिमें प्रकट होता है तो उसे अनुभव करना अधिक सुगम होता है; किन्तु इसकी अप्रकट या निर्वैयक्तिक गतिको अनुभव करना अधिक कठिन होता है। जो मनुष्य इस व्यक्तिगत स्पर्शके कारण, इस व्यक्तिगत प्रगाढ़ताके साथ भागवत प्रेमकी चेतनाकी ओर जाग्रत होगा वह अनुभव करेगा कि उसका कार्य और उसका रूपान्तर अधिक सुगम बन गया है; जिस ऐक्यको वह खोज रहा है वह उसके

लिये अधिक स्वाभाविक और अधिक निकट हो जाता है। और यह ऐक्य, यह आत्म-साक्षात्कार उसके लिये पूर्णतर और सिद्धतर हो जायगा; क्योंकि उसमें एक विराट् तथा निर्वैयक्तिक 'प्रेम'की विशाल एकरूपता प्रकाशमान हो जायगी और वह भगवान्‌से जितने प्रकारके सम्बन्ध संभव हैं उन सबके रूप-रंगोंसे अनुप्राणित और प्रकाशित हो जायगी

९ जून, १९२९

धर्मका यथार्थ स्वरूप क्या है? क्या वह आध्यात्मिक जीवनके मार्गमें बाधक है?

धर्म मानवजातिके उच्चतर मनकी चीज है। वह मनुष्यके उच्चतर मनकी चेष्टा है जिसके द्वारा वह यथाशक्ति अपनेसे परेकी किसी वस्तुतक पहुंचना चाहता है, उस वस्तुको, जिसे मानवजाति 'ईश्वर', 'परमात्मा', 'सत्य', 'श्रद्धा', 'ज्ञान' या 'अनन्त', किसी प्रकारकी 'निरपेक्ष' सत्ताका नाम दे देती है। वह सत्ता मानव मनकी पहुंचसे बाहर है, फिर भी मन वहां पहुंचनेकी चेष्टा करता है। धर्मका मूल स्रोत भले ही दिव्य हो; किन्तु इसका प्रकट रूप तो दिव्य नहीं, मानव ही है। वास्तवमें, हमें धर्मकी जगह धर्मोंकी बात कहनी चाहिये; क्योंकि मनुष्यके बनाये हुए धर्म अनेक हैं। इन विभिन्न धर्मोंका स्रोत भले ही एक न हो, पर उनकी रचना प्रायः एक ही प्रकारसे हुई है। हमें ज्ञात है कि ईसाई-धर्मकी स्थापना किस प्रकार हुई। जो धर्म ईसाईयतके नामसे विख्यात है निःसन्देह उसकी रचना ईसा मसीहने नहीं की थी, कतिपय विद्वान और अत्यन्त चतुर मनुष्योंने मिलकर इस धर्मको वर्तमान रूप दिया था। जिस प्रकार इसकी रचना की गयी उसमें कहीं भी दिव्यता-का लेशमात्र तक नहीं था, और जिस रूपमें यह कार्य कर रहा है उसमें भी दिव्यताका कोई नाम-निशान नहीं है। और फिर भी जिस बहाने या जिस अवसरपर इस धर्मकी स्थापना की गयी वह असंदिग्ध रूपसे कोई अन्तःप्रकाश था जो एक ऐसे पुरुषके द्वारा आया था जिसे 'दिव्य पुरुष' कहा जा सकता है। वह पुरुष जो किसी दूसरे लोकसे यहां आया था तथा अपने साथ किसी उच्चतर भूमिकाके 'ज्ञान' और 'सत्य'को इस पृथ्वीके लिये लाया था। वह आया और उसने अपने 'सत्यके' लिये कष्ट

झेले; किंतु बहुत कम लोग उसकी वाणीको ठीक-ठीक समझ पाये, किसी विरलेने ही 'सत्य' को, जिसके लिये इस दिव्य पुरुषने कष्ट झेले थे, पाने और उसपर दृढ़ रहनेकी परवा की। गौतम बुद्ध संसारसे अलग हो गये, ध्यान लगाकर बैठे और संसारके कष्टों और दुःखोंसे बाहर निकलनेका, रोग और मृत्यु, इच्छा, पाप और क्षुधासे त्राण पानेका मार्ग ढूंढ निकाला। उन्होंने एक 'सत्य'का दर्शन किया और इस बातकी कोशिश की कि इस सत्यको अपने इर्द-गिर्द जमा अनुयायियों और शिष्यों-को बताये और दें। परंतु उनके देह-त्यागसे पहले ही उनकी शिक्षाकी तोड़-मरोड़ शुरू हो गयी थी। बुद्धके प्रयाणके बाद ही बौद्ध-धर्मने एक ऐसे सुव्यवस्थित धर्मके रूपमें सिर उठाया, जिसकी स्थापना बुद्धके तथा-कथित वचनोंके कल्पित अर्थोंके आधारपर हुई। परंतु शीघ्र ही, चूंकि उनके शिष्य तथा शिष्योंके शिष्य, इस बातपर सहमत न हो सके कि उनके गुरुने क्या कहा था और उनके कथनका क्या अर्थ था, इसलिये मूल बौद्ध-धर्मकी अनेक शाखा-प्रशाखाएं हो गयीं—हीनयान, महायान तथा सुदूरपूर्व एशियाके बौद्धपंथ आदि, कई मत हो गये जिनमेंसे प्रत्येकका दावा है कि उसके मतमें ही बुद्धकी मूल और निर्मल शिक्षा विद्यमान है। ईसा मसीहकी शिक्षाकी भी यही दशा हुई; इसको भी उपर्युक्त प्रकारसे ही एक नियमबद्ध और संगठित धर्मका रूप दिया गया। बहुधा कहा जाता है कि ईसा मसीह लौटकर आयें तो अपनी शिक्षाको उसपर लादे गये रूपों-में न पहचान सकेंगे, और यदि बुद्ध यहां वापिस आयें और उनकी शिक्षा-की जो दशा कर दी गयी है उसको देखें तो वे निरुत्साहित होकर तुरत निर्वाणकी ओर लौट जायंगे! सभी धर्मोंकी कथा इसी प्रकारकी है। सभी धर्मोंका जन्म किसी महान् 'जगद्गुरु'के आविर्भावको लेकर होता है। ये आते हैं, किसी भागवत सत्यको प्रकाशित करते हैं और स्वयं उसके मूर्ति-मान् अवतार होते हैं। परंतु मनुष्य इस सत्यपर कब्जा जमा लेते हैं, इसका सौदा करते हैं, एक राजनीतिक संगठन-सा बना लेते हैं। ये लोग धर्मके साथ किसी शासनतंत्रको, किसी नीतिको तथा कुछ कायदे-कानूनोंको जोड़ देते हैं, जिनके अपने सिद्धांत और नियम, विधि-विधान, शास्त्रोक्त कर्म और उत्सव होते हैं, जिनका अनुसरण और पालन उस धर्मके अनुयायियोंके लिये अलंघ्य और अनिवार्य होता है। शासनकी तरह, इसमें भी सच्चे भक्तोंको पुरस्कार दिया जाता है और विद्रोह करनेवालों तथा उन्मार्गगामियोंको, धर्म-विरोधियों और धर्म-त्यागियोंको सजा।

नियमित रूपसे स्थापित इन धर्मोंकी ओरसे जो पहली और मुख्य बात

हमेशा कही जाती है वह है: "मेरा धर्म सर्वोत्तम है, सत्य केवल इसी धर्ममें है, बाकीके सभी धर्म या तो मिथ्या हैं या निम्नकोटिके हैं।" इस प्रकारके सिद्धांतको आधार बनाये बिना ये व्यवस्थित विश्वासपरक धर्म टिक ही नहीं सकते। यदि तुम्हें इस बातपर विश्वास न हो और तुम घोषणा न करो कि अद्वितीय या उच्चत्तम सत्य तुम्हारे ही पास है तो तुम दूसरोंपर प्रभाव नहीं डाल सकोगे और अपने इर्द-गिर्द उनकी मंडली न जुटा सकोगे।

इस प्रकारका भाव धार्मिक मनके लिये स्वाभाविक है; किंतु यही भाव धर्मको आध्यात्मिक जीवनके मार्गमें बाधक बना देता है। धर्मके सिद्धांत और नियम मनके बनाये हुए हैं और, यदि तुम इनसे चिपके रहो तथा जीवनचर्याके लिये दी गयी इनकी व्यवस्थामें अपने-आपको बंद रखो तो तुम उस आत्माके सत्यको, जो समस्त नियमों और सिद्धांतोंके परे, विशाल, महत् और स्वतंत्र है, नहीं जानोगे, नहीं जान सकोगे। जब तुम किसी धार्मिक मतवादमें, केवल उसीको संसारका एकमात्र सत्य मानते हो, रुक जाते हो और उसके साथ अपने-आपको बांध लेते हो तो तुम अपनी अंतरात्माकी उन्नति और विस्तारको रोक देते हो। परंतु यदि तुम धर्मको एक और दृष्टिकोणसे देखो तो यह जरूरी नहीं है कि वह सभी मनुष्योंके लिये सदा बाधक ही हो। यदि तुम धर्मको मानवजातिकी उच्चतर प्रवृत्तियोंमेंसे एक मानो, यदि तुम मनुष्यकी अभीप्साओंको देख सको, पर यह न भूलो कि मनुष्यकी बनायी हुई सभी चीजें आखिर अपूर्ण हैं; तो यह तुम्हें आध्यात्मिक जीवनतक पहुंचानेमें सहायक ही सिद्ध होगा। धर्मको गंभीर और सच्ची लगनके साथ स्वीकार करके तुम उसके अंदर यह खोजनेका प्रयास कर सकते हो कि उसमें सत्य क्या है, उसके अंदर कौन-सी अभीप्सा छिपी है, मनुष्यके मन और मनुष्यके संगठनद्वारा भगवान्‌की कौन-सी दिव्य प्रेरणाको वहां परिवर्तित और विकृत होना पड़ा है, और यदि तुम उपर्युक्त बौद्धिक दृष्टिकोण लेकर आगे बढ़ो तो अपने वर्तमान विकृत रूपमें भी धर्म तुम्हारे मार्गपर कुछ प्रकाश डालेगा और तुम्हारे आध्यात्मिक प्रयासमें कुछ-न-कुछ सहायता करेगा।

सभी धर्मोंमें हमें ऐसे लोग मिलते हैं जिनमें भावपूर्ण होनेकी बड़ी क्षमता होती है और जो सच्ची और ज्वलंत अभीप्सासे भरे होते हैं। परंतु उनका मन बहुत सरल होता है और वे ज्ञानके द्वारा भगवान्‌तक पहुंचनेकी आवश्यकता अनुभव नहीं करते। इस प्रकारकी प्रकृतिवालोंके लिये धर्मका उपयोग है, इतना ही नहीं, बल्कि उनके लिये यह एक आवश्यक वस्तु है, कारण, मंदिरोंमें उत्सव आदि बाह्य पदार्थोंके द्वारा यह उनकी आंतरिक

आध्यात्मिक अभीप्साको एक प्रकारका सहारा देता और मदद पहुंचाता है। सभी धर्मोंमें कुछ लोग ऐसे हैं जिन्होंने अपने उच्च आध्यात्मिक जीवनका विकास किया है। परंतु उनकी आध्यात्मिकता धर्मकी दी हुई नहीं है, बल्कि उन्होंने ही अपने धर्ममें अपनी आध्यात्मिकताका समावेश किया है। ये लोग जहां कहीं रहते, जिस किसी संप्रदायमें पैदा होते, वहीं वही आध्यात्मिक जीवन जीते। वे जो कुछ हैं अपनी सामर्थ्य और अन्तःसत्ताकी किसी शक्तिके द्वारा बने हैं, न कि स्वीकार किये हुए धर्मके द्वारा। उनकी प्रकृतिमें यह शक्ति ऐसी है कि धर्म उनके लिये गुलामी या बंधन नहीं बन सकता। परन्तु उनका मन बलवान्, स्पष्ट और क्रियाशील नहीं होता, इसलिये उन्हें इस बातकी आवश्यकता होती है कि वे विश्वास करें कि इस या उस संप्रदायमें ही निरपेक्ष सत्य है और किसी विचलित करनेवाली शंका या संदेहके बिना वे अपने-आपको उसपर न्योछावर कर दें। मैंने सभी धर्मोंमें इस तरहके लोगोंको देखा है और इन लोगोंकी श्रद्धाको डिगाना एक अपराध होगा। इस तरहके लोगोंके लिये धर्म बाधक नहीं है। धर्म उनके लिये बाधक है जो और आगे बढ़ सकते हैं, किन्तु जो आगे तो नहीं बढ़ सकते, पर 'आत्मा'के मार्गपर कुछ दूरतक चल सकते हैं, उनके लिये सहायक हो सकता है। धर्मके कारण निकृष्टतम और उत्कृष्टतम दोनों प्रकारकी प्रवृत्तियोंको प्रोत्साहन मिला है। एक ओर यदि इसके नामपर अत्यन्त भयानक युद्ध लड़े गये हैं और भयंकर अत्याचार किये गये हैं तो दूसरी ओर इसने धर्मकार्यके निमित्त परम शौर्य और आत्म-बलिदानके भावोंको भी जगाया है। मनुष्यके मनने अपनी उच्चतम कर्मण्यताओंके द्वारा जो कुछ प्राप्त किया है, दर्शन-शास्त्रके समान धर्म भी उसकी सीमा दिखाता है। यदि तुम धर्मके बाह्य रूपके गुलाम हो जाओ तो यह बाधा है, एक बन्धन है; किन्तु यदि तुम इसके अन्दरके सारका उपयोग करना जानते हो तो यह आध्यात्मिक भूमिकामें कूद सकनेके लिये सहायता देनेवाला तखता बन सकता है।

जो किसी विशेष मतमें विश्वास रखता है अथवा जिसने सत्यके कुछ अंशको प्राप्त किया है, वह सोचने लगता है कि 'सत्य'को, समग्र और पूर्ण सत्यको, केवल उसीने पाया है। मानव स्वभाव ही ऐसा है। मानव प्राणियोंको अपने पैरपर खड़े होनेके लिये और अपने मार्गपर चलनेके लिये मिथ्याकी मिलावट आवश्यक-सी प्रतीत होती है। यदि उन्हें अचानक 'सत्य'का दर्शन करा दिया जाय तो वे बोझके नीचे कुचल जायेंगे।

हर बार जब भागवत सत्य एवं भागवत शक्तिका कुछ अंश पृथ्वीपर प्रकट होनेके लिये उतरता है तो पार्थिव वातावरणमें कुछ परिवर्तन आता

है। जो ग्रहणशील हैं वे इस अवतरणके फलस्वरूप किसी दिव्य प्रेरणा, किसी स्पर्शकी ओर उन्मुख हो जाते हैं, उनमें दिव्य दृष्टि खुलने लगती है। यदि वे जो कुछ प्राप्त हो उसे धारण करके यथार्थ रूपमें अभिव्यक्त कर सकें तो वे कहेंगे : "एक महान् शक्तिका अवतरण हुआ है; मैं उसके संस्पर्शमें हूं और उसके बारेमें मैंने जो कुछ समझा है वह तुमसे कहूंगा।" परन्तु अधिकांश व्यक्ति, ऐसा नहीं कर पाते क्योंकि उनके मन संकुचित होते हैं। उन्हें एक प्रकाश मिलता है और वे उससे अभिभूत हो जाते तथा सहसा चिल्ला उठते हैं : "भागवत सत्य मेरे पास है, मेरा उसपर समग्र और संपूर्ण रूपसे अधिकार है।" आज इस धरतीपर कम-से-कम दो दर्जन ईसा मसीह हैं, और शायद इतने ही बुद्ध भी हों; अकेले भारतमें ही तुम जितने चाहो उतने अवतार पा सकते हो, छोटी-छोटी विभूतियोंका तो कहना ही क्या है! इस तरह तो यह सब कुछ बेढंगा-सा दिखायी पड़ेगा; लेकिन यदि तुम इसके पीछे देखो तो पहली दृष्टिमें यह जितना मूर्खतापूर्ण दिखायी देता है, उतना ही नहीं रहेगा। सत्य यह है कि मानव व्यक्तित्वको किसी दिव्य सत्ता या दिव्य शक्तिका संस्पर्श मिला है और वह अपनी शिक्षा और परंपराके प्रभावके कारण उसे बुद्ध, ईसा मसीह या और किसी परिचित नामसे पुकारता है। यह कहना बड़ा कठिन है कि उस व्यक्तिके संस्पर्शमें आनेवाली सत्ता या शक्ति स्वयं बुद्ध या ईसा मसीहकी थी, किन्तु यह भी कोई नहीं कह सकता कि इस सत्ता या शक्तिसे प्राप्त होनेवाली प्रेरणाका मूल्य वही नहीं था जहांसे ईसा मसीह या बुद्धको प्रेरणा मिलती थी। यह सर्वथा शक्य है कि इन मानव पात्रोंमें ऐसे किसी उद्गमसे प्रेरणा आयी हो। यदि वे विनीत और सरल होते तो इतना ही कहकर संतोष मानते और इससे आगे न बढ़ते, वे कहते : "अमुक महान् आत्मासे मुझे यह प्रेरणा मिली है," किन्तु इसकी जगह वे घोषणा कर बैठते हैं : "मैं ही वह महान् आत्मा हूं।" मैं एक ऐसे व्यक्तिको जानती थी जो इस बातका दावा करता था कि वह खुद ईसा मसीह और बुद्ध, दोनों है! उसने कुछ प्राप्त किया था, किसी सत्यका अनुभव किया था, अपनेमें और दूसरोंमें भगवान्की उपस्थितिका दर्शन किया था। परन्तु उसके लिये यह अनुभव बहुत ही उग्र था, यह सत्य उसके बसका न था। वह पागल-सा हो गया और दूसरे ही दिन गलियोंमें यह कहता हुआ फिरने लगा कि उसके अन्दर ईसा मसीह और बुद्ध, दोनों एक हो गये हैं।

एक भागवत चेतना यहां उपस्थित है जो इन समस्त अभिव्यक्तियोंके अन्दर अपना मार्ग तैयार करती हुई इन सब लोगोंके द्वारा काम कर रही है। आज इस पार्थिव भूमिकापर वह जितनी अधिक शक्तिके साथ काम

कर रही है उतनी शक्तिसे उसने पहले कभी नहीं किया था। कुछ लोग ऐसे हैं जिन्हें किसी रूपमें या कुछ परिमाणमें इस चेतनाका स्पर्श प्राप्त होता है; किन्तु जो कुछ उन्हें प्राप्त होता है उसे वे विकृत कर डालते हैं, उसके अन्दरसे अपनी ही कोई चीज खड़ी कर लेते हैं। दूसरे ऐसे होते हैं जो इस स्पर्शका अनुभव तो करते हैं, किन्तु उसकी शक्तिको नहीं सह सकते और उसके दबावसे पागल हो जाते हैं। परन्तु कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनमें इस शक्तिको ग्रहण करनेकी क्षमता और इसे सहनेकी ताकत होती है और यही लोग पूर्ण ज्ञानके पात्र, प्रभुके चुने हुए यंत्र और प्रतिनिधि होंगे।

यदि तुम्हें, जिस धर्ममें तुम पैदा हुए या पले हो उसका वास्तविक मूल्य आंकना हो अथवा अपने देश या समाजको उसके यथार्थ रूपमें देखना हो, यदि तुम्हें यह जानना हो कि जिस परिस्थितिमें तुम जा पड़े हो या घिरे हुए-से हो वह कितनी सापेक्ष है तो केवल पृथ्वी-पर्यटन करके यह देख लो कि जिस चीजको तुम अच्छा समझते हो वही चीज दूसरी जगह बुरी समझी जाती है, और जो कुछ एक स्थानमें बुरा समझा जाता है उसीका दूसरे स्थानपर अच्छा कहकर स्वागत किया जाता है। सभी देशोंका और सभी धर्मोंका जन्म अनेकविध परंपराओं और रूढ़ियोंके समूहमेंसे हुआ है। इन सभीमें तुम्हें सन्त, शूर-वीर, महान् और शक्तिशाली पुरुष मिलेंगे, साथ-ही-साथ क्षुद्र और दुष्ट पुरुष भी। तब तुम यह अनुभव करोगे कि यह कहना कितना हास्यास्पद है: "चूंकि मैं इस धर्ममें पला हूं, इसलिये यही धर्म सच्चा है; चूंकि मैं इस देशमें पैदा हुआ हूं, इसलिये यही देश सब देशोंमें उत्तम है।" इसी तरहका दावा अपने परिवारके विषयमें भी किया जा सकता है और कहा जा सकता है: "चूंकि मैं एक ऐसे परिवारका हूं जो किसी स्थानमें इतने वर्षों या शताब्दियोंतक रहा है, इसलिये उसकी परंपराओं और रूढ़ियोंसे मैं बंधा हुआ हूं; केवल ये परंपराएं और रूढ़ियां ही आदर्श हैं।"

वस्तुओंका आन्तरिक मूल्य तभी होता है और वे वास्तविक भी तभी होती हैं जब उन्हें अपने स्वतंत्र चुनावके द्वारा प्राप्त किया जाय, तब नहीं जब वे थोपी गयी हों। यदि तुम अपने धर्मके बारेमें निश्चित होना चाहो तो स्वयं तुम्हें उसे चुनना चाहिये; यदि तुम अपने देशके बारेमें निश्चित होना चाहो तो तुम्हें स्वयं उसे चुनना चाहिये; यदि तुम अपने परिवारके बारेमें निश्चित होना चाहो तो उसे स्वयं तुम्हें चुनना चाहिये। 'संयोग-वश' जो कुछ भी मिलता जाय, उसीको यदि तुम बिना छान-बीनके स्वीकार करते चलो तो तुम्हें इस बातका निश्चय कभी नहीं हो सकता कि वह वस्तु

तुम्हारे लिये अच्छी है या बुरी, वह तुम्हारे जीवनके लिये सत्य है या नहीं। उन सभी चीजोंसे जो प्राकृतिक परिस्थितियों अथवा विरासतमें मिली वस्तुओंके रूपमें तुम्हारे इर्द-गिर्द जमा हो गयी हैं, जो प्रकृतिकी अन्ध यांत्रिक प्रक्रियाद्वारा बनी और तुमपर जबरन लाद दी गयी हैं, किनारा करो; अपने अन्तःमें प्रवेश करो और वस्तुओंको शान्त और अनासक्त होकर देखो। उनका मूल्य आंको और स्वतंत्र रूपसे चुनो। तभी तुम अपने आन्तरिक सत्यके साथ यह कह सकोगे : "यह मेरा परिवार है, यह मेरा देश है, यह मेरा धर्म है।"

यदि हम अपने अन्दरकी गहराईमें थोड़ी दूरतक भी उतरें तो हमें पता लगेगा कि हममेंसे हर एकके अन्दर एक ऐसी चेतना है जिसका अस्तित्व अनन्तकालसे चला आ रहा है और जो अपने-आपको अनेक रूपोंमें अभि-व्यक्त करती आयी है। हममेंसे हर एक भिन्न-भिन्न देशोंमें जन्म ले चुका है, हमारे भिन्न-भिन्न राष्ट्र रहे हैं, हमने भिन्न-भिन्न धर्मोंका अनुसरण किया है। तो हमें अन्तिमको ही सर्वोत्तम क्यों मान लेना चाहिये? इन सब जन्मोंमें विभिन्न देशों और विभिन्न धर्मोंद्वारा हमने जिन अनुभवोंका संग्रह किया है वे हमारी चेतनाकी उस आन्तरिक निरवच्छिन्नतामें, जो प्रत्येक जन्ममें हमारे साथ लगी हुई है, जमा रहते हैं। हमारे इन भूतकालके अनुभवोंद्वारा रचे गये अनेक व्यक्तित्व वहां रहते हैं और जब हमें अपने अन्दर रहनेवाले इस समूहका ज्ञान होता है तो सत्यके किसी विशेष रूपको ही एकमात्र सत्य, किसी एक देशको ही अपना एकमात्र देश और किसी एक धर्मको ही एकमात्र सत्य धर्म कहना असंभव हो जाता है। ऐसे लोग हैं जो पैदा तो किसी एक देशमें होते हैं, किन्तु उनकी चेतनाके मुख्य तत्त्व स्पष्ट रूपसे किसी दूसरे देशके होते हैं। यूरोपमें जन्मे हुए कुछ ऐसे लोगोंसे मेरी भेंट हुई है जो अत्यन्त स्पष्ट रूपसे भारतीय थे; ऐसे लोग भी मुझे मिले हैं जो जन्मे तो भारतीय शरीरको लेकर, किन्तु थे स्पष्ट रूपसे यूरोपियन। जापानमें मेरी ऐसे लोगोंसे भेंट हुई है जिनमें कुछ तो भारतीय थे और कुछ यूरोपियन। और ऐसे लोगोंमेंसे यदि कोई किसी ऐसे देशमें चला जाय अथवा किसी ऐसी सभ्यतामें प्रवेश करे जिसके साथ उसका मेल है तो वह यह अनुभव करेगा मानों वह अपने ही घरमें हो।

यदि तुम्हारा लक्ष्य मुक्त होना, 'आत्मा'की मुक्तिको प्राप्त करना है तो तुम्हें उन सब बन्धनोंका त्याग करना चाहिये जो तुम्हारी सत्ताके आन्तरिक सत्य नहीं हैं, बल्कि अवचेतनाकी आदतोंके कारण पैदा होते हैं। यदि तुम अपने-आपको पूर्ण निरपेक्ष और अनन्य भावसे भगवान्‌के अर्पण करना चाहते हो तो संपूर्ण रूपसे करो, अपनी सत्ताके टुकड़ोंको इधर-उधर बंधा न रहने

दो। शायद तुम आपत्ति करो कि अपने बंधनोंको संपूर्ण रूपसे काट डालना सहज नहीं है! परन्तु क्या तुमने अपने भूतकालकी ओर दृष्टिपात नहीं किया और यह नहीं देखा कि इन थोड़े-से वर्षोंमें ही तुम्हारे अन्दर कितने परिवर्तन हुए हैं। इस तरह पीछे देखते समय प्रायः हमेशा तुम अपने-आपसे पूछते हो कि यह कैसे हुआ कि तुमने इस तरह अनुभव किया या अमुक परिस्थितियोंमें इस तरह काम किया। कभी-कभी अपने दस साल पहलेके रूपको तुम पहचान भी नहीं सकते। तो फिर, जो कुछ था या है उसके साथ तुम अपने-आपको बांध कैसे सकते हो अथवा पहलेसे ही यह कैसे नियत कर सकते हो कि भविष्यमें क्या होगा और क्या नहीं?

तुम्हारे सब सम्बन्ध चुनावकी आन्तरिक स्वतंत्रताके आधारपर नये सिरे-से स्थापित होने चाहिये। ये परम्पराएं जिनमें तुम पले हो या रहते हो, वे परिस्थितिके दबावद्वारा या सर्वसाधारण मनद्वारा अथवा दूसरोंकी रुचि द्वारा तुमपर लादी गयी हैं। तुमने एक प्रकारसे बाध्य होकर ही इन्हें स्वीकारा है। स्वयं धर्म भी मनुष्योंपर लादी हुई चीज ही है; इसे प्रायः कोई धार्मिक भय अथवा आध्यात्मिक या अन्य प्रकारकी विभीषिका-का भाव पीछेसे सहारा दिये रहता है। भगवान्‌के साथ तुम्हारे सम्बन्धमें इस प्रकारके आरोपणका कोई स्थान नहीं हो सकता; यह सम्बन्ध सर्वथा स्वतंत्र रूपसे तुम्हारे मन और प्राणकी पसन्दगीके अनुसार उत्साहपूर्ण तथा आनन्दसे भरा होना चाहिये। वह कैसा एकत्व होगा जिसमें एक कांपे और कहे: "मैं बाध्य होकर कर रहा हूं, मेरे पास और उपाय ही नहीं है?" सत्य स्वतःसिद्ध है और उसे जगत्‌पर लादनेकी आवश्यकता नहीं। उसे मनुष्योंके द्वारा स्वीकारे जानेकी आवश्यकता नहीं मालूम होती; वह स्वतःस्थित है, वह अपने बारेमें लोगोंकी राय या उनके समर्थनके कारण नहीं जीता। परन्तु जो धर्मकी स्थापना करता है उसे बहुत-से अनुयायियोंकी आवश्यकता होती है। लोग किसी धर्मकी ताकत और महानताको उसके अनुयायियोंकी संख्याको देखकर नापते हैं, यद्यपि असली महानता उसमें नहीं है। आध्यात्मिक सत्यकी महानता संख्यापर निर्भर नहीं होती। मेरा एक नवीन धर्मके अधिपतिसे, जो उस धर्मके संस्थापकका पुत्र था, परिचय था। मैंने उसे एक बार यह कहते हुए सुना कि अमुक धर्मकी स्थापनामें इतने सौ वर्ष लगे हैं और अमुक धर्मकी स्थापनामें इतने सौ, किन्तु पचास वर्षके अन्दर ही हमारे धर्मके अनुयायी चालीस लाखसे भी अधिक हो गये हैं। "सो आप देखती हैं," उसने कहा, "हमारा धर्म कितना महान् है!" धर्म भले ही अपनी महानताको अनुयायियोंकी संख्याके परिमाणमें कूता करें, किन्तु 'सत्य'का यदि एक भी अनुयायी न

हो तो भी वह 'सत्य' ही रहेगा। औसत मनुष्य बड़े-बड़े दावे करनेवालों-के प्रति आकर्षित हो जाता है। वह उधर नहीं जाता जहां शान्त भावसे 'सत्य'की अभिव्यक्ति हो रही हो। बड़ी-बड़ी बातें बनानेवालोंको ही ढिंढोरा पीटने और विज्ञापन देनेकी आवश्यकता होती है; क्योंकि इसके बिना वे लोगोंको बड़ी संख्यामें आकर्षित नहीं कर सकेंगे। जो इस बातकी परवाह किये बिना किये जाता है कि लोग इसके सम्बन्धमें क्या कहेंगे, वह इतना विख्यात नहीं होता, इतनी आसानीसे जन-समुदायको अपनी ओर आकर्षित नहीं करता। परन्तु 'सत्य'को किसी विज्ञापनकी आवश्यकता नहीं, वह अपने-आपको छिपाता नहीं, पर अपना ढिंढोरा भी नहीं पीटता। वह अपनी अभिव्यक्तिसे ही सन्तुष्ट रहता है, परिणामोंकी ओरसे वह बेपरवाह रहता है, उसे न तो स्तुतिकी खोज होती है, न वह निन्दासे भागता है। संसार उसे स्वीकार करे तो वह आकर्षित नहीं होता, और अस्वीकार किये जानेपर विचलित नहीं होता।

जब तुम योग-मार्गपर आओ तो तुम्हें मनके महल और प्राणकी मचानोंके ढाए जानेके लिये तैयार रहना चाहिये, तुम्हें श्रद्धाके सिवाय किसी भी सहारेके बिना हवामें अधर लटकनेके लिये तैयार रहना चाहिये। तुम्हें अपने भूतकालके व्यक्तित्वको और उसकी आसक्तियोंको एकदम भूल जाना होगा, उसे अपनी चेतनामेंसे निकाल बाहर करना होगा तथा एक ऐसा नया जन्म लेना होगा जो समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो। तुम क्या थे इसकी चिन्ता न करो, जो बननेकी अभीप्सा करते हो केवल उसीका चिन्तन करो; जिस सिद्धिको प्राप्त करना चाहते हो केवल उसीमें तन्मय हो जाओ। मृत भूतकालकी ओरसे मुंह मोड़ लो और सीधे भविष्यकी ओर देखो। तुम्हारा धर्म, देश, परिवार वही है; वह है स्वयं "भगवान्"।

१६ जून, १९२९

क्या समस्त व्याधियोंका मूल कारण मनकी किसी अव्यवस्थामें खोजा जा सकता है? यदि हां, तो घमौरी और गला बैठना जैसे रोग मनकी किस प्रकारकी अव्यवस्थाके कारण पैदा होते हैं?

जितनी संख्या बीमार पड़नेवालोंकी होती है रोगके उतने ही कारण हो

सकते हैं, अतएव प्रत्येक रोगके कारणका हिसाब भिन्न-भिन्न होगा। यदि तुम मुझसे पूछो: "मुझे अमुक रोग क्यों हुआ?" तो मैं देखकर कारण बता सकती हूं, किन्तु इस विषयमें कोई सर्वसाधारण नियम नहीं है।

शारीरिक व्याधियां सदा मनकी अव्यवस्था, असामंजस्य या कुप्रवृत्तियोंके कारण ही नहीं होतीं। हो सकता है कि किसी रोगका मूल कारण मनमें हो, हो सकता है कि वह प्राणमें हो; अथवा यह भी हो सकता है कि वह कम या अधिक मात्रामें निरा भौतिक ही हो, जैसे कि बाह्य संसर्गके द्वारा पैदा होनेवाले रोग। योगकी क्रियाके कारण भी रोग हो सकता है और इस हालतमें भी अनेक कारण संभव हैं।

हम जरा योगके कारण पैदा होनेवाले रोगोंके विषयमें विचार करें; कारण, हमारा सीधा और गाढ़ा संबंध इन्हींसे है। इस क्षेत्रमें, यद्यपि किसी विशेष रोगके संबंधमें कोई एक ही कारण नहीं बताया जा सकता, फिर भी जिन कारणोंसे व्याधियां उभड़ती हैं उनके अनुसार विभिन्न वर्ग बनाए जा सकते हैं।

योग-साधना करनेवाले व्यक्तिके अन्दर जो शक्ति अवतरित होती है और जो उसके रूपान्तरके कार्यमें उसकी सहायता करती है, वह अनेक प्रकारसे कार्य करती है और इस शक्तिकी क्रियाके परिणाम इसे ग्रहण करनेवाले स्वभावपर तथा उसके अन्दर जो कार्य किया जानेवाला है उसपर निर्भर हैं। सबसे पहले, यह शक्ति साधकमें जो कुछ रूपान्तरित होनेके लिये तैयार है उस सबके रूपान्तरमें एक वेग ले आती है। यदि उसका मन खुला हुआ और ग्रहणशील हो तो इस योग-शक्तिका स्पर्श पाकर वह शीघ्रता-पूर्वक परिवर्तित होने और प्रगति करने लगता है। इसी प्रकार यदि उसकी प्राणमय चेतना तैयार हो तो उसका भी, यहांतक कि उसके शरीरका भी, परिवर्तन उसी वेगके साथ होने लगता है। परन्तु योगकी रूपान्तर करने वाली शक्ति शरीरमें एक हद तक ही काम करती है, क्योंकि शरीरकी ग्रहणशीलता सीमित है। विश्वकी अत्यंत जड़प्राकृतिक भूमिकाकी अभीतक यह अवस्था है कि उसमें ग्रहणशीलताके साथ-साथ प्रतिरोध भी बहुत अधिक मात्रामें मिला हुआ है। परन्तु सत्ताके एक भागमें जो तीव्र प्रगति होती है उसका यदि दूसरे भागोंकी तदनुरूप प्रगतिद्वारा अनुसरण न हो तो प्रकृतिमें एक असामंजस्य पैदा हो जाता है, कहींपर शृंखला-भंग हो जाता है। और जहां कहीं या जब कभी यह शृंखला-भंग होता है तो वह किसी-न-किसी व्याधिका रूप धारण कर सकता है। इस शृंखला-भंगके स्वभावपर ही रोगका स्वभाव निर्भर है। एक प्रकारके असामंजस्यका असर मनपर पड़ता है और इससे जो विक्षोभ होता है उसके कारण उन्मादतक हो सकता

है; दूसरा असामंजस्य ऐसा होता है जिसका असर शरीरपर पड़ता है और उसके फलस्वरूप ज्वर, घमोरी तथा दूसरे छोटे-बड़े रोग हो सकते हैं।

एक ओर तो योग-शक्तियोंके कार्यद्वारा सत्ताके उन भागोंमें, जो अपने ऊपर कार्य करनेवाली शक्तिको ग्रहण करने और उसका प्रत्युत्तर देनेके लिये तैयार हैं, रूपान्तरकी गति बढ़ जाती है। और इस प्रकार, योग समयकी बचत करता है। सारा जगत् उत्तरोत्तर रूपान्तरकी प्रक्रियामें है; और यदि तुम योग-साधना करनेका निश्चय करते हो तो अपने अन्दर होती हुई इस प्रक्रियामें एक तेजी ले आते हो। जिस कामको साधारण रीतिसे करनेमें वर्षों लगेंगे वही योगके द्वारा चंद दिनोंमें, यहांतक कि चंद घंटोंमें किया जा सकता है। परन्तु तुम्हारी आन्तर चेतना ही इस शीघ्र-गामी आवेगके अधीन होती है; कारण, तुम्हारे आधारके उच्चतर भाग ही योगकी द्रुत और एकाग्र गतिका तत्परताके साथ अनुसरण करते हैं और इस गतिके कारण उन्हें जो सतत रूपसे उसके साथ एकरस होने और अनु-कूलता स्थापित करनेकी आवश्यकता रहती है उसे अधिक सुगमताके साथ करते रहते हैं। दूसरी ओर शरीर है जो साधारणतया स्थूल, तमोगुणी और शिथिल है। यदि तुम्हारे इस भागमें कोई चीज ऐसी है जो उपर्युक्त गतिका प्रत्युत्तर नहीं देती, यदि वहां कोई प्रतिरोध होता है, तो इसका कारण यह है कि शरीर बाकी सत्ताके साथ तेजीसे नहीं चल सकता। इसे समय लगता है, जिस चालसे यह साधारण जीवनमें चलता है उसी चालसे यौगिक जीवनमें भी चलना चाहता है। और वैसा ही होता है जैसे जवान लोग बच्चोंके साथ तेजीसे चल रहे हों; उन्हें समय-समयपर रुक जाना पड़ता है ताकि लड़के, जो पिछड़ गये हैं, उनसे आ मिलें। आन्तरिक सत्ताकी प्रगति और स्थूल शरीरकी जड़ताका विरोध बहुधा शरीर-में शृंखला-भंग कर देता है और रोगके रूपमें प्रकट होता है। यही कारण है कि योग-साधना करनेवाले आरंभमें अक्सर किसी-न-किसी प्रकारकी भौतिक बेचैनी या गड़बड़का अनुभव करते हैं। यदि ये लोग चौकसी रखें और सावधान रहें तो ऐसा होना जरूरी नहीं है। अथवा यदि शरीर बहुत अधिक और असाधारण रूपसे ग्रहणशील हो तो भी वे बच जाते हैं। परन्तु इतनी निर्मल ग्रहणशीलता पाना बहुत कठिन है जो भौतिक अंगोंको भी आन्तरिक रूपान्तरके वेगके साथ-साथ लगातार चला सके; हां, यदि शरीरको भूतकालमें यौगिक प्रक्रियाके लिये तैयार किया जा चुका हो तो और बात है।

मनुष्यके साधारण जीवनमें इस शृंखला-भंगका उत्तरोत्तर बढ़ते जाना ही नियम है। मनुष्यकी मनोमय सत्ता और प्राणमय सत्ता तो विश्वव्यापी

शक्तियोंकी गतियोंका भरसक अनुसरण करती हैं और जगत्के आन्तरिक रूपान्तर तथा विकासकी धारा उन्हें कुछ दूरतक आगे बढ़ा देती है; किन्तु शरीर, जो जड़प्राकृतिक नियमोंसे बंधा हुआ होता है, बहुत ही सुस्त चालसे चलता है। कुछ वर्षोंके बाद, सत्तर या अस्सी, सौ या दो सौ वर्षों बाद, —और यही शायद अधिक-से-अधिक अवधि है, — यह शृंखला-भंग इतना अधिक बढ़ जाता है कि बाह्य सत्ता टुकड़े-टुकड़े हो जाती है। मांग और उत्तरमें अन्तर होनेके कारण तथा शरीरकी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई असमर्थता और प्रत्युत्तर देनेकी अक्षमताके कारण मृत्युकी घटना आ उपस्थित होती है। योग-साधना करनेसे सृष्टिके आन्तरिक रूपान्तरकी धीमी, पर अनवरत प्रक्रिया अधिक तीव्र और द्रुतगामी हो जाती है, किन्तु बाह्य रूपान्तरकी चाल साधारण जीवन जितनी ही रहती है। फलतः, यदि सावधानी न रखी जाय और ऐसा संरक्षण न प्राप्त कर लिया जाय जिसके द्वारा शरीर-को यथासाध्य आंतरिक प्रगतिके साथ-साथ चलनेमें सहायता मिले, तो योग-साधना करनेवालेकी आन्तरिक और बाह्य सत्ताके बीचका यह असामंजस्य और भी बढ़ जाना चाहता है। फिर भी शरीरका स्वभाव ही ऐसा है कि वह तुम्हें पीछेकी ओर खींचता है। यही कारण है कि बहुतोंको हमें यह कहना पड़ता है: "मत खींचो, जल्दबाजी मत करो; शरीरको अनुसरण करनेके लिये तुम्हें समय देना ही पड़ेगा।" कुछ साधकोंको तो वर्षों रोक रखना और अधिक साधना करनेसे अथवा अधिक आगे बढ़नेसे मना करना आवश्यक हो जाता है। कभी-कभी इस असमतोलतासे बचना असंभव हो जाता है; और तब तुममें गड़बड़ी पैदा होती ही है जिसके भिन्न-भिन्न स्वरूप होते हैं; यह तुम्हारे प्रतिरोधके स्वभावपर और तुमने जितनी सावधानी रखी है या जितनी अवहेलना की है उसके परिमाणपर निर्भर है। यह भी एक कारण है जिससे यह होता है कि जब-जब प्रगतिकी ओर तीव्र गति होती है तब-तब उसके बाद प्रायः निरपवाद रूपसे स्थावरताका काल आता है, और इस कालमें, उन लोगोंको जिन्हें सावधान नहीं कर दिया गया है ऐसा मालूम होता है मानों वह केवल जड़ता, अवरोध और निरुत्साहका काल हो, जिसमें समस्त प्रगति रुक गयी हो और वे व्याकुल होकर सोचने लगते हैं: "अरे! यह क्या हो रहा है? मेरा समय नष्ट तो नहीं हो रहा? कुछ भी उन्नति नहीं हो रही।" परन्तु सच तो यह है कि आत्मसात् करनेका काल होता है; यह विश्राम इसलिये लिया जाता है कि शरीर अपने-आपको अधिक खोल दे और अधिक ग्रहणशील बन जाय तथा आन्तर चेतना जिस भूमिकामें ऊपर उठ चुकी है उसके अधिक समीप पहुंच जाय। मां-बाप बहुत अधिक आगे बढ़े जा रहे थे; उन्हें रुकना पड़ेगा

ताकि पिछड़ा हुआ लड़का दौड़कर उनका हाथ पकड़ सके; इसके बाद ही वे फिरसे एक साथ हो यात्रा आरंभ कर सकेंगे।

शरीरका प्रत्येक स्थान किसी-न-किसी आन्तरिक गतिका प्रतीक होता है; यहां सूक्ष्म अनुकूलता और सादृश्यका एक जगत् ही है। परन्तु यह एक लंबा और जटिल विषय है और हम अभी इसकी ब्योरेवार चर्चामें नहीं उतर सकते। शरीरके जिस विशिष्ट स्थलपर रोगका असर हुआ है वह इस बातका सूचक है कि अन्दरका असामंजस्य किस प्रकारका है। यह व्याधिके उद्गम-स्थलको दिखा देता है, रोग किस कारणसे हुआ है उसका यह एक चिह्न होता है। इसके अतिरिक्त, यह इस बातको भी प्रकट कर देता है कि जो प्रतिरोध हो रहा है, जिसके कारण समग्र सत्ता समान तेज चालसे चलनेमें असमर्थ हो गयी हो वह किस प्रकृतिकी है। यह संकेत करा देता है कि औषधि और उपचार क्या है। यदि कोई ठीक-ठीक समझ जाय कि मूल कहांपर है, इस बातका पता लगा ले कि कौन-सा अंग ग्रहणशील नहीं रहा है, उस अंगको खोल दे और उसमें शक्ति और प्रकाशका प्रवेश कराये तो जो कुछ बेसुरा हो गया है उसे क्षण-भरमें ही फिरसे सुरमें ले आना संभव हो जायगा और रोग तुरन्त भाग जायगा।

किसी रोगका उद्गम मनमें हो सकता है, प्राणमें हो सकता है, सत्ताके किसी भी भागमें हो सकता है। एक ही रोग अनेक कारणोंसे हो सकता है और विभिन्न व्यक्तियोंमें असामंजस्यके विभिन्न स्रोतोंमेंसे उभड़ सकता है। और यह भी हो सकता है कि रोगके-से लक्षण दिखायी देते हों, किन्तु असलमें कोई रोग हो ही नहीं। और इस अवस्थामें, यदि तुम पर्याप्त रूपसे सचेतन हो, तो यह देख पाओगे कि कहींपर कोई रगड़-भर लग गयी है और इस कारण प्रगतिका प्रवाह कहीं भर रुक-सा गया है और यदि तुम इस रगड़को ठीक कर लो तो तुरन्त चंगे हो जाओगे। ऐसे रोगका —जब वह शरीरपर असर करता हुआ-सा दिखायी देता हो तब भी— उसमें कोई सत्य नहीं होता। यह बहुत कुछ कल्पित होता है और जड़-प्रकृतिपर इसका कब्जा वैसा नहीं होता जैसा कि किसी सच्चे रोगका होता है।

संक्षेपमें यों समझो कि रोगके कारण बहुत प्रकारके और पेचीदा होते हैं, प्रत्येक रोगके बहुत-से कारण हो सकते हैं, किन्तु इससे सदा यह पता चल जाता है कि सत्तामें दुर्बल भाग कौन-सा है।

रोग चाहे किसी कारणसे क्यों न हुआ हो, वह चाहे स्थूल भौतिक हो या मानसिक, बाह्य हो या आन्तरिक, उसे भौतिक शरीरपर असर करनेसे पहले सत्ताके उस स्तरमेंसे प्रवेश करना पड़ता है जो शरीरके चारों ओर

लिपटा हुआ है और उसकी रक्षा करता है। इस सूक्ष्मतर स्तरके भिन्न-भिन्न धर्मोंमें भिन्न-भिन्न नाम हैं,— कोई उसे आकाशशरीर कहता है तो कोई नाड़ी-कवच। यह है तो सूक्ष्म शरीर, फिर भी लगभग दृष्टिगम्य है। किसी अत्यन्त उष्ण और उबलते हुए द्रव्यके चारों ओर जो घने कंपन दिखायी देते हैं यह उन्हींके जैसा घना होता है। यह भौतिक शरीरमेंसे ही पैदा होता है और उससे सटा हुआ रहकर उसे चारों ओरसे ढांके रहता है। बाह्य जगत्के साथ समस्त व्यवहार इसीके माध्यमद्वारा होता है और इस कवच-शरीरपर आक्रमण करके इसका भेदन करनेपर ही कोई चीज स्थूल शरीरतक असर पहुंचा सकती है। यदि यह कवच पूर्ण रूपसे सशक्त और अखण्ड हो तो तुम बुरे-से-बुरे रोगोंसे आक्रान्त स्थानोंमें भी, यहांतक कि प्लेग और हैजाके स्थानोंमें जाकर भी सर्वथा रोगमुक्त रह सकते हो। जबतक यह समग्र और पूर्ण रहता है, इसकी बनावट अखण्ड रहती है और इसके तत्त्व पूर्ण संतुलनमें रहते हैं तबतक यह रोगके समस्त संभावित आक्रमणोंसे हमारी संपूर्ण रक्षा करता रहता है। एक ओर तो यह कवच-शरीर जड़-प्रकृतिके आधारपर या यों कहें कि स्थूल-भौतिक द्रव्यके नहीं, बल्कि जड़ प्राकृतिक अवस्थाओंके आधारपर बना है, दूसरी ओर इसके निर्माण-तत्त्व हमारी मनोवैज्ञानिक अवस्थाओंके कंपन हैं। यह दूसरा पार्श्व शान्ति, समचित्तता और विश्वास, स्वस्थतामें श्रद्धा, क्षोभरहित विश्रान्तिकी अवस्था और प्रफुल्लता तथा तेजोमय हर्षके तत्त्वोंद्वारा बना होता है, और ये ही तत्त्व इस कवच-शरीरको शक्ति और द्रव्य प्रदान करते हैं। यह कवच-शरीर अत्यन्त संवेदनशील माध्यम है और इसमें प्रतिक्रियाएं सहज और तुरन्त होती हैं; यह समस्त सुझावोंको तुरन्त अंगीकार कर लेता है और इनके कारण इसकी अवस्थामें द्रुत परिवर्तन हो सकते हैं, इसका ढांचातक बदल सकता है। इसपर किसी बुरे सुझावका बहुत जोरका असर पड़ता है; उसी प्रकार यदि कोई अच्छा सुझाव हो तो वह उसी बलके साथ इसपर अच्छाईकी दिशामें काम करता है। उदासी और निरुत्साहका इसपर बहुत बुरा असर होता है; वे मानों इसमें जगह-जगह छेद कर देते हैं, इसे दुर्बल और प्रतिरोध-शक्तिविहीन बना देते हैं, फलतः विरोधी आक्रमणोंके लिये एक सहज मार्ग खुल जाता है।

कवच-शरीरमें होनेवाली इस क्रियाको समझ लेनेपर अंशतः यह बात भी समझमें आ जाती है कि लोग प्रायः एक-दूसरेके प्रति अनायास और अकारण आकर्षण या अरुचि क्यों अनुभव करते हैं। आकर्षण और अरुचि रूपी ये प्रतिक्रियाएं सबसे पहले इस संरक्षक कवचमें ही होती हैं। जो लोग हमारे इस नाड़ी-कवचकी शक्तिको सुदृढ़ बनाते हैं, इसमें बल

पहुंचाते हैं उनके प्रति हम सहज ही आकर्षित हो जाते हैं; जो इसको क्षुब्ध करते या इसे चोट पहुंचाते हैं उनसे हम दूर हटते हैं। जो कुछ इसे विस्तार, आराम और चैनकी अनुभूति देता है, जो कुछ इसके अन्दर प्रसन्नता और हर्षके भावकी प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है उसके प्रति हमारे अन्दर तुरन्त आकर्षण हो जाता है, और जब किसीका असर विपरीत दिशामें हो तो रक्षाके लिये उस व्यक्तिसे दूर रहनेकी प्रतिक्रिया होती है; जब दो आदमी मिलते हैं तो बहुधा यह क्रिया उन दोनोंमें ही एक-दूसरेके प्रति होती है। अवश्य ही परस्पर संबंध या आकर्षण अनुभव करनेका यह एकमात्र कारण नहीं है, किन्तु यह भी एक कारण और बहुत बार होनेवाला कारण है।

यदि हमारी समग्र सत्ता ही, विश्वकी आन्तरिक प्रगतिके साथ-साथ कदम मिलाती हुई, अपने प्रगतिशील रूपान्तरके कार्यमें एक संग आगे बढ़ सके तो रोग होगा ही नहीं, मृत्यु होगी ही नहीं। परन्तु यह बात सोलहों आने पूरी और समग्र सत्तामें होनी चाहिये, उच्चतम भूमिकाओंके अंगोंसे — जहां ये अधिक नमनशील होते हैं और रूपान्तरकारिणी शक्तियोंके प्रति आवश्यक अनुपातमें अधीन हो जाते हैं — लेकर अत्यन्त जड़प्राकृतिक भूमिका — जो स्वभावसे ही कठोर है, निश्चल है, किसी भी द्रुत रूपान्तरकारी परिवर्तनका विरोध करती है — के अंगोंतकमें समग्र सत्ताकी एक जैसी प्रगति होनी चाहिये, तभी ऐसा होगा।

शरीरके कुछ भाग यौगिक शक्तियोंकी क्रियाका अन्य भागोंकी अपेक्षा अधिक तीव्र प्रतिरोध करते हैं, और इन भागोंमें जो रोग होता है उसे ठीक करना अधिक कठिन होता है। ये आधारकी अत्यन्त जड़प्राकृतिक भूमिकाओंके अंग होते हैं और इनमें होनेवाली व्याधियां भी वैसी ही होती हैं — जैसे कि चर्मरोग या दंतरोग। श्रीअरविन्दने एक बार एक योगीकी चर्चा की थी जो नर्मदाके तीरपर लगभग एक शताब्दीसे रहते थे और इतने वृद्ध होनेपर भी अत्यन्त हट्टे-कट्टे और बहुत ही तंदुरुस्त थे। एक बार उनके किसी शिष्यने दांतके दर्दके लिये उन्हें कोई औषधि दी, योगीने औषध लेनेसे इनकार करते हुए कहा कि उन्हें यह दांत तो प्रायः दो सौ वर्षोंसे कष्ट देता आया है। इन योगीने अपनी स्थूल प्रकृतिपर इतना अधिकार प्राप्त कर लिया था कि वे प्रायः २०० वर्षोंतक जी सके, किन्तु इतने दीर्घकालमें भी इस दांतके दर्दपर विजय प्राप्त न कर सके।

कुछ रोग जो अत्यन्त खतरनाक गिने जाते हैं उन्हें ठीक करना बहुत सहज होता है; कुछ जो अति नगण्य माने जाते हैं बहुत ही हठपूर्वक प्रतिरोध कर सकते हैं।

बीमारीके स्रोत बहुविध और जटिल होते हैं; हर एकके नाना प्रकारके कारण हो सकते हैं; लेकिन वह हमेशा यह सूचित करती है कि सत्तामें कमजोर भाग कहां है।

रोगके खतरेका नव-दशांश भाग भयसे पैदा होता है। भयके कारण किसी रोगके लक्षण प्रकट हो सकते हैं; बल्कि यहांतक हो सकता है कि इसकी वजहसे स्वयं रोगतक हो जाय। हालकी ही बात है, एक सज्जन जो इस आश्रममें बराबर आया-जाया करते हैं, उनकी धर्मपत्नीने, जो स्वयं योग नहीं करतीं, सुना कि उनका ग्वाला जिस घरमें रहता है उस घरमें किसीको हैजा हुआ है। वे भयग्रस्त हो गयीं और दूसरे ही क्षण उनके अन्दर हैजेके लक्षण दिखायी देने लगे। उनको तुरत ही ठीक किया जा सका, क्योंकि उनके अन्दर रोगके-से जो लक्षण दिखायी दिये उन्हें वास्तविक रोगमें परिणत नहीं होने दिया गया।

योगका दबाव बढ़नेके परिणाम-स्वरूप शरीरमें कुछ ऐसी क्रियाएं होती हैं जिनसे कभी-कभी बिलकुल निराधार भय खड़े हो जाते हैं, और यदि इन भयोंका संकल्पपूर्वक त्याग न कर दिया जाय तो इनसे हानि हो सकती है। उदाहरणार्थ, सिरमें एक दबाव होता है (और इसी विषयको लेकर यह चर्चा शुरू हुई है) जिसका बहुतोंको अनुभव होता है — विशेषतः साधनाके शुरू-शुरूमें — जब कि कोई चीज, जो अभी बन्द है, खुलनेको होती है। यह एक ऐसी असुविधा है जो कुछ नहीं बिगाड़ती और सहजमें दूर की जा सकती है, यदि तुम्हें यह मालूम हो कि जिन शक्तियोंके प्रति तुम खुल रहे हो, वे जब अपने कार्यको सफल करनेके लिये और रूपान्तरकी क्रियाको तेज करनेके लिये शरीरपर जोरसे कार्य करती हैं तो उनके दबावसे इस तरहकी क्रिया होती है। यदि इसे शान्त भावसे लिया जाय तो यह एक ऐसे संवेदनमें परिवर्तित हो सकती है जो असुखकर न हो। परन्तु यदि तुम डर जाओ तो अवश्य ही भयानक सिर-दर्द तुम्हें आ घेरेगा, और ज्वरतक आ सकता है। इस तकलीफका कारण है प्रकृतिमें किसी प्रकारका प्रतिरोध; यदि तुम इस प्रतिरोधको दूर करना जानो तो तुम्हारी तकलीफ तुरत दूर हो जायगी। परन्तु डरनेसे यह तकलीफ बहुत अधिक बढ़ सकती है। ये अनुभव किसी प्रकारके क्यों न हों, तुम्हें भयको कभी स्थान न देना चाहिये; तुम्हें यह अटल विश्वास रखना चाहिये और अनुभव करना कि जो कुछ हो रहा है वह वही है जो होनेको था। एक बार तुमने इस मार्गको चुन लिया है तो तुम्हें इस चुनावके समस्त परिणामोंको भी बहादुरीके साथ स्वीकार करना चाहिये। परन्तु यदि तुम पहले तो चुनो और फिर पीछे हटो, और फिर चुनो और फिर मुकरो

पीछे हटो, सदा डगमगाते रहो, सदा सन्देह करते रहो, सदा डरते रहो तो तुम अपनी सत्तामें असामंजस्यकी सृष्टि कर लेते हो, और यह असामंजस्य केवल तुम्हारी प्रगतिको ही नहीं रोकता, बल्कि तुम्हारे मन और प्राणमें नाना प्रकारके क्षोभ और शरीरमें तकलीफ और रोग पैदा कर सकता है।

२३ जून, १९२९

> क्या योगी चेतनाकी किसी ऐसी अवस्थाको प्राप्त हो सकता है जिसमें पहुंचकर वह सब कुछ जान सके, समस्त प्रश्नोंका, यहांतक कि विज्ञानकी कठिन समस्याओंका, जैसा कि सापेक्षता-वादकी परिकल्पनाके विषयमें भी, उत्तर दे सके?

सिद्धान्ततः योगीके लिये सब कुछ जान लेना असंभव नहीं है, पर सब कुछ योगीपर निर्भर है।

ज्ञान-ज्ञानमें भेद होता है। योगी मनके तरीकेसे नहीं जानता। योगी यदि सब कुछ जानता है तो इस अर्थमें नहीं कि वह हर एक संभावित जानकारीमें प्रवेश रखता है, या उसके मनके अन्दर विश्वके समस्त तथ्य भरे पड़े हैं, या उसकी चेतना कोई अद्भुत विश्वकोष है। वह वस्तुओं, व्यक्तियों और शक्तियोंके साथ धारणात्मक रूपसे या सक्रिय रूपसे तादात्म्य स्थापित करनेकी क्षमताके कारण जान सकता है। अथवा इसलिये जान सकता है कि वह चेतनाकी एक ऐसी भूमिकामें रहता या एक ऐसी चेतनाके संस्पर्शमें होता है जिसमें सत्य और ज्ञान स्थित हैं।

यदि तुम सत्य चेतनामें हो तो तुम्हें मिलनेवाला ज्ञान भी सत्यका ज्ञान ही होगा। इस अवस्थामें भी ज्ञेयके साथ अपनेको एक करके ही तुम उसके संबंधमें प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकते हो। यदि तुम्हारे सामने कोई समस्या उपस्थित की जाय, यदि तुमसे पूछा जाय कि अमुक अवसर-विशेष-पर क्या करना चाहिये, तो तुम उस विषयपर पर्याप्त ध्यान देकर और एकाग्र होकर आवश्यक ज्ञान और सच्चे उत्तरको अनायास प्राप्त कर सकते हो। इस ज्ञानको तुम किसी परिकल्पनाका यत्नपूर्वक उपयोग करके अथवा तर्कमय प्रक्रियाद्वारा कार्यान्वित करके प्राप्त नहीं करते। इन पद्धतियोंकी

आवश्यकता तो वैज्ञानिक मनको अपने निर्णयोंतक पहुंचनेके लिये होती है। परन्तु योगीका ज्ञान सीधा और तत्क्षण होता है; वह निगमनात्मक नहीं होता। किसी इंजीनियरको यदि एक मेहराब बनानी हो तो वह उसके ठीक-ठीक स्थानको, उसकी गोलाईकी रेखा और उसके पोले स्थानके कदको नाप-जोखकर ठीक करता है, इस विषयका निर्णय वह अपनी भौतिक विद्याकी सामग्री इकट्ठा करके करता है। परन्तु योगीको इन चीजोंकी जरूरत नहीं होती; वह देखता है, चीजकी अन्तर्दृष्टि पाता है और वह देखता है कि इस चीजको इस प्रकार करना होगा, केवल इसी प्रकार और किसी प्रकार नहीं; और यह देखना ही उसका ज्ञान होता है।

यद्यपि सामान्यतया तथा किसी अर्थमें यह ठीक है कि योगी अपनी दृष्टि और चेतनाके क्षेत्रसे सभी बातोंको जान सकता और सभी प्रश्नोंका उत्तर दे सकता है, फिर भी इसका यह मतलब नहीं कि ऐसा कोई प्रश्न नहीं जिसका योगी उत्तर न दे सके या न देना चाहे। जिस योगीको प्रत्यक्ष ज्ञान, वस्तुओंके सच्चे सत्यका ज्ञान प्राप्त है वह उन प्रश्नोंका, जो पूरी तरह मानव मनकी रचनाओंकी कोटिके होते हैं, उत्तर देनेकी परवाह नहीं करेगा, शायद उसे ऐसे प्रश्नोंका उत्तर देनेमें कठिनाई भी हो। यह हो सकता है कि वह केवल वस्तुओंके मिथ्या और बाह्य स्वरूपसे सम्बन्ध रखनेवाली तुम्हारी समस्याओं और कठिनाइयोंका हल करना न चाहे या न कर सके। उसके ज्ञानकी क्रिया मनमें नहीं होती। यदि तुम उसके सामने उपर्युक्त प्रकारका कोई फूहड़ मानसिक प्रश्न करो तो शायद वह उत्तर ही न दे। यह जो आम धारणा है कि जिस प्रकार ऊंचे दर्जेके किसी स्कूल-मास्टरसे प्रश्न किया जाता है उसी प्रकार किसी योगीसे भी तुम कोई अज्ञानयुक्त प्रश्न कर सकते हो अथवा भूत, वर्तमान और भविष्य कालके किसी भी समाचारको पूछ सकते हो और वह उत्तर देनेके लिये बाध्य है; यह एक मूर्खतापूर्ण विचार है। यह उतना बेढंगा है जितना किसी आध्यात्मिक पुरुषसे यह आशा रखना कि वह किन्हीं ऐसे असाधारण चमत्कारोंको दिखावे जो साधारण चमत्कार बहिर्मुख मनको संतुष्टि देकर आश्चर्यचकित कर दे।

और फिर "योगी" शब्द बहुत ही अस्पष्ट और व्यापक है। योगी बहुत तरहके होते हैं, आध्यात्मिक अथवा गुह्य तत्त्वोंकी साधनाकी अनेक धाराएं और दिशाएं हैं और उनकी सिद्धियां भी अनेक स्तरोंकी होती हैं। कुछ योगी ऐसे हैं जिनकी शक्तियां मानसिक भूमिकासे ऊपरकी नहीं होतीं, दूसरे ऐसे हैं जो इस भूमिकासे ऊपर उठ गये हैं। सब कुछ उनकी साधनाकी भूमिका या प्रकृतिपर, जिस ऊंचाईतक वे पहुंचे हैं उसपर तथा

जिस चेतनाका स्पर्श उन्हें मिला है अथवा जिस चेतनामें उन्होंने प्रवेश किया है उसपर निर्भर है।

> क्या वैज्ञानिक भी कभी-कभी मनोमय भूमिकाके परे नहीं जाते? कहा जाता है कि आइन्सटाइनने सापेक्षतावादकी परिकल्पनाको किसी तर्ककी प्रक्रियाके द्वारा नहीं, बल्कि स्वतः प्रेरणाके रूपमें प्राप्त किया था। क्या इस प्रेरणाका अतिमानससे कोई सम्बन्ध था?

जिस वैज्ञानिकको कोई नया सत्य प्रकट करनेवाली प्रेरणा मिलती है वह आलोकित मनकी भूमिकासे आती है। इस तरहका ज्ञान तब मिलता है जब उसका उस उच्चतर मनोमय भूमिकाके साथ, जो कि और भी अधिक ऊपरकी ज्योतिद्वारा प्रकाशमान होती है, सीधा सम्बन्ध हो जाता है और वहांसे प्रेरणा मिलने लगती है। परन्तु इस सबसे 'अतिमानस'की क्रियाका कोई सम्बन्ध नहीं है और यह उच्चतर मनोमय भूमिका अतिमानसिक भूमिकासे कोसों दूर है। औसत अवस्थासे ऊपर उठते ही मनुष्य आसानीसे यह विश्वास करने लग जाते हैं कि वे पूर्ण भागवत क्षेत्रोंमें पहुंच गये हैं। साधारण मानव मन और 'अतिमानस'के बीच अनेक अवस्थाएं, अनेक स्तर और अनेक भूमिकाएं हैं। यदि कोई साधारण कोटिका आदमी इन मध्यवर्ती भूमिकाओंमेंसे किसी एकके भी सीधे संपर्कमें आ जाय तो वह चौंधियाकर अंधा बन जायगा, वह विशालताके ज्ञानके बोझके नीचे कुचलसा जायगा अथवा अपना संतुलन गंवा देगा; फिर भी वह 'अतिमानस'से दूर होगा।

योगी सभी बातोंको जान सकता और सभी प्रश्नोंका उत्तर दे सकता है इस सर्वसाधारण धारणाके पीछे असली तथ्य यह है कि मनके अन्दर एक ऐसा स्तर है जहां समस्त वस्तुओंकी स्मृति संगृहीत होती और सदा विद्यमान रहती है। पार्थिव जीवनमें होनेवाली समस्त मानसिक क्रियाएं इस स्तरमें स्मृतिगत और अंकित की जाती हैं। जिनमें वहांतक पहुंचनेकी क्षमता है और जो वहांतक जानेका कष्ट उठाना चाहते हैं वे वहां किसी भी चीजको पढ़ और जान सकते हैं। परन्तु उस क्षेत्रको अतिमानसिक भूमिका समझ लेनेकी भूल नहीं करनी चाहिये। लेकिन वहांतक पहुंचनेके लिये भी, तुम्हें अपने स्थूल या भौतिक मनको निश्चल और नीरव कर सकना चाहिये; तुम्हें अपने समस्त संवेदनोंको एक किनारे रखकर अपनी साधारण मनोमय क्रियाओंको, फिर चाहे वे कैसी ही क्यों न हों, बन्द कर सकना चाहिये; तुम्हें अपने प्राणके दायरेसे बाहर निकलना और अपने

अतीतकी गुलामीसे मुक्त होना चाहिये। तभी तुम उस क्षेत्रमें प्रवेश कर सकोगे और वहां जो कुछ है उसे देख सकोगे। पर यदि तुम इस प्रयासमें पर्याप्त दिलचस्पी रखते हो, तो तुम वहां पहुंच सकते हो और पृथ्वी-की स्मृतिमें जो कुछ लिखा हुआ है उसे बांच सकते हो।

इस प्रकार, यदि तुम निश्चल-नीरवतामें गहरे उतर जाओ तो चेतनाकी एक ऐसी भूमिकामें पहुंच सकते हो जहां तुम्हारे लिये अपने सभी प्रश्नोंके उत्तर पा लेना असंभव नहीं रहता। और यदि कोई व्यक्ति ऐसा है जो अतिमानसके पूर्ण सत्यके प्रति सचेतन रूपसे खुला हो, उसके साथ सतत संपर्कमें हो, तो वह निश्चय ही ऐसे किसी भी सवालका उत्तर दे सकता है जो अतिमानसके प्रकाशसे उत्तर पानेके लायक हो। प्रश्न वस्तुओंके पीछे जो सत्य और सद्वस्तु है उससे संबन्ध रखनेवाला होना चाहिये। बहुत-से प्रश्न और विवादग्रस्त समस्याएं मनके द्वारा बुने गये कल्पनाओंके मायाजाल होते हैं और वे वस्तुओंके मिथ्या-पार्श्वसे ही सम्बन्ध रखते हैं। उनका वास्तविक ज्ञानसे संबंध नहीं होता, वे ज्ञानकी विकृतिमात्र हैं, उनका ताना-बाना ही अज्ञानका होता है। अतिमानसिक ज्ञान मनके अज्ञानद्वारा उप-स्थित की गयी समस्याओंका उत्तर दे अवश्य सकता है; पर यह उसका अपना उत्तर होगा और बहुत संभव है कि वह मनकी भूमिकासे प्रश्न करने-वालोंको जरा भी सन्तुष्ट न कर सके, हो सकता है कि वह उनकी समझ-में न आये। तुम्हें ऐसी आशा नहीं करनी चाहिये कि अतिमानस भी मनकी तरह काम करे और यह न मांग करनी चाहिये कि सत्य-चेतनामें रहनेवाले ज्ञानको अज्ञानमें रहनेवाले अर्द्धज्ञानके साथ टांका जा सके। मन-की योजना एक चीज है, लेकिन 'अतिमानस' बिलकुल अलग चीज है और यदि वह अपने-आपको मनकी मांगके अनुसार ढाल ले तो वह अतिमानस न रहेगा। ये दोनों एकदम भिन्न हैं और एक साथ नहीं रखे जा सकते।

चेतना जब अतिमानसिक आनन्दको प्राप्त कर लेती है तो क्या वह मनके व्यापारमें दिलचस्पी लेना बन्द कर देती है?

मानसिक व्यापारोंमें अतिमानस उसी प्रकारकी दिलचस्पी नहीं लेता जैसी कि मन लेता है। वह विश्वकी समस्त गतियोंमें ही अपने ढंगसे दिलचस्पी लेता है, किन्तु एक और ही दृष्टि-बिन्दुसे, एक और ही दृष्टिसे। उसकी दृष्टिके सम्मुख जगत्‌का रूप और ही प्रकारका दीखने लगता है; यहां दृष्टिकोण ही पलट जाता है और सभी चीजें, जैसी मनसे नजर आया करती हैं उससे भिन्न प्रकारकी, बल्कि बहुधा उससे विपरीत, नजर आती हैं।

वस्तुओंका अर्थ बदल जाता है; उनका पहलू उनकी हलचल और प्रक्रिया, उनके विषयका सभी कुछ दूसरी ही आंखोंसे देखा जाता है। यहां हर चीजके पीछे अतिमानस रहता है; मनकी गतियोंमें, उसी प्रकार प्राण और स्थूल-भौतिक गतियोंमें, विश्वकी समस्त लीलामें अतिमानस बहुत गहरी दिलचस्पी रखता है, किन्तु उसकी दिलचस्पी और ही प्रकारकी होती है। यह लगभग वैसा ही भेद है जैसा कठपुतलीके तमाशेमें एक तो उस आदमी-का रस होता है जिसके हाथमें धागे होते हैं, जो जानता है कि कठ-पुतलियोंको क्या करना है, उस संकल्पको जानता है जो उन्हें नचा रहा है और यह भी जानता है कि वे उसीके नचाये नाचती हैं; दूसरा उस आदमीका रस है जो खेल देखता है, लेकिन बस क्षण-क्षण होनेवाली घटनाओंको ही देख पाता है, उनके अतिरिक्त कुछ नहीं जानता। जो व्यक्ति खेलका दर्शक होता है और उसके रहस्योंसे अनजान होता है, उसकी खेलकी घटनाओंके प्रति दिलचस्पी अधिक तीव्र उत्सुकतापूर्ण और आवेशमय होती है और वह उसकी अभीतक अज्ञात नाटकीय घटनाओंको उत्तेजनापूर्ण कौतूहलके साथ देखता है; किन्तु दूसरा, जिसके हाथमें खेलकी बागडोर है और जो तमाशेका संचालक है, स्थिर और शान्त रहता है। दिलचस्पीकी एक ऐसी प्रखरता या प्रगाढ़ता होती है जो अज्ञानसे ही आती है और वह भ्रमके साथ जुड़ी हुई होती है और जब तुम अज्ञानसे बाहर निकल आते हो तब वह भी जाती रहती है। वस्तुओंके प्रति मानव प्राणियोंकी जो दिलचस्पी होती है उसकी स्थापना भ्रमपर होती है, यदि भ्रम हटा दिया जाय तो फिर इस लीलामें उन्हें कोई दिलचस्पी रहेगी ही नहीं; उन्हें वह रूखी और नीरस लगेगी। यही कारण है कि यह सब अज्ञान और भ्रम इतने दिनोंतक टिके रह सके हैं; यह इसलिये है कि मनुष्य इसे पसन्द करते हैं और इससे तथा इसमें जो विशिष्ट रस मिलता है उससे चिपके रहते हैं।

जो कोई अपनी शारीरिक अवस्थाको परिवर्तित करना, किसी रोगका निवारण करना अथवा किसी शारीरिक अपूर्णताको दूर करना चाहता हो, उसे क्या करना चाहिये? क्या उसे अपने प्राप्त लक्ष्यके प्रति तन्मय हो जाना चाहिये और अपने कार्यकी पूर्तिके लिये अपनी संकल्प-शक्तिका प्रयोग करना चाहिये, अथवा केवल इस दृढ़ विश्वासमें निवास करना चाहिये कि यह सब हो ही जायगा या यह भरोसा रखना चाहिये कि भागवत शक्ति अपने समयपर और अपने तरीकेसे वांछित परिणामको ले आयेगी?

ये सभी एक ही कामको करनेके अनेक उपाय हैं और अवस्था-विशेषके अनुसार प्रत्येक फलदायक हो सकता है। तुम किस पद्धतिका उपयोग करके अधिक-से-अधिक सफलता प्राप्त कर सकोगे यह तुम्हारी चेतनाके विकासपर अथवा तुम जिन शक्तियोंको कार्यक्षेत्रमें उतार सकते हो उनपर निर्भर है। तुम पूर्ण रोग-मुक्तिकी चेतनामें रह सकते हो या उसका पूर्ण और आन्तरिक गठनकी शक्तिके द्वारा धीरे-धीरे बाह्य परिवर्तन भी सिद्ध कर सकते हो। अथवा यदि तुम उस शक्तिको जानते हो जो ऐसे कार्योंको सिद्ध कर सकती है, यदि उसकी दृष्टि प्राप्त है और यदि तुम उस शक्तिका उपयोग करनेमें कुशल हो तो तुम उसका आवाहन कर सकते हो और जिन अंगोंमें उसकी क्रियाकी आवश्यकता हो वहां उपयोग कर सकते हो और वह उस परिवर्तनको कार्यान्वित कर देगी। अथवा, भागवत शक्तिमें विश्वासपूर्ण भरोसा रखते हुए अपनी कठिनाईको भगवान्के सामने, उपस्थित कर दो और उनसे रोग-मुक्ति मांग लो।

परन्तु तुम जो कुछ करो, जिस किसी प्रक्रियाका उपयोग करो, चाहे उस प्रक्रियाका उपयोग करनेमें तुम्हें बड़ा भारी कौशल या सामर्थ्य ही क्यों न प्राप्त हो, तो तुम्हें उसके फलको भगवान्के हाथोंमें ही छोड़ देना चाहिये। तुम्हें सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये, किन्तु तुम्हारे प्रयत्नका फल देना या न देना भगवान्का काम है। यहांपर तुम्हारी अपनी ताकत बन्द हो जाती है, यदि कोई परिणाम आता है तो उसे तुम्हारी अपनी शक्ति नहीं, बल्कि भागवत शक्ति लाती है। तुम पूछते हो कि भगवान्से इन चीजोंको मांगना उचित है या नहीं। यदि किसी नैतिक दोषको दूर करनेके लिये भगवान्से प्रार्थना करनेमें कोई हर्ज नहीं है, तो किसी भौतिक अशुद्धि या अपूर्णताको दूर करनेके लिये भगवान्की ओर मुड़नेमें क्या हर्ज है? परन्तु तुम जो कुछ मांगो, तुम्हारा जो कुछ भी प्रयास हो, उस समय भी जब तुम भरपूर प्रयास कर रहे हो, फिर चाहे इस चेष्टामें तुम ज्ञानका प्रयोग करते होओ या शक्तिका, तुम्हें सदा यह अनुभव करना चाहिये कि परिणाम भगवान्की कृपापर निर्भर है। एक बार यदि तुमने इस योगको स्वीकार कर लिया है तो फिर तुम्हारे समस्त कार्य पूर्ण आत्म-समर्पणके भावसे होने चाहिये। तुम्हारा भाव यह होना चाहिये: "मैं अभीप्सा करता हूं, मैं अपनी अपूर्णताओंको दूर करना चाहता हूं, मैं अपनी ओरसे अधिक-से-अधिक प्रयास करता हूं, किन्तु फलके लिये मैं अपने-आपको संपूर्ण रूपसे भगवान्के हाथोंमें सौंपता हूं।"

यदि कोई कहे: "मुझे परिणामके विषयमें निश्चय है, मैं

चाहता हूं कि मैं जो चाहता हूं वह भगवान् मुझे दें," तो क्या इससे कोई सहायता मिलती है?

तुम इस रूपमें ले सकते हो। तुम्हारी श्रद्धाकी तीव्रता या अटलताका यह अर्थ हो सकता है कि भगवान्ने यह निर्धारित कर रखा है कि तुम्हारी श्रद्धा जिसका निर्देश करती है वह अवश्य पूर्ण हो। अटल श्रद्धा भागवत संकल्पके विद्यमान होनेका चिह्न होती है; जो होनेवाला है उसकी निर्देशिका होती है।

जिस समय कोई चुपचाप ध्यानावस्थामें होता है तब उसके अन्दर कौन-सी शक्तियां काम करती हैं?

यह बात ध्यान करनेवाले पर निर्भर करती है।

परन्तु क्या निश्चल-नीरव ध्यानकी अवस्थामें साधक अपने-आपको पूर्ण रूपसे खाली नहीं कर देता? तब फिर कोई बात उसपर कैसे निर्भर कर सकती है?

यदि तुम अपने-आपको संपूर्ण रूपसे शून्य कर डालो तो भी इससे तुम्हारी अभीप्सामें कोई परिवर्तन नहीं होता, उसका कार्यक्षेत्र नहीं बदलता। किसीकी अभीप्सा मानसिक भूमिकाओंपर अथवा प्राणके क्षेत्रोंमें कार्य करती है; किसीकी अभीप्सा आध्यात्मिक होती है। यह तुम्हारी अभीप्साके गुणपर निर्भर है कि कैसी शक्ति उसका उत्तर देगी और वह क्या काम करेगी। ध्यानके समय अपने-आपको शून्य कर लेनेसे तुममें एक आन्तरिक निश्चल-नीरवता पैदा हो जाती है; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि तुम शून्य बन गये हो या तुम कोई निर्जीव या जड़ वस्तु बन गये हो। अपने-आपको खाली पात्र बनाकर तुम उस वस्तुका आवाहन करते हो जो उसे भर देगी, अर्थात् तुम अपनी आन्तरिक चेतनाके दबावको सिद्धिकी ओर खोल देते हो। यह तुम्हारी चेतनाके स्वभाव और उसके दबावपर निर्भर है कि तुम किन शक्तियोंको कार्यक्षेत्रमें उतार सको और वे शक्तियां तुम्हारे कार्यमें सहायता पहुंचायें और उसे सफल करें या विफल करें अथवा हानि पहुंचाएं और बाधा दें।

तुम विभिन्न अवस्थाओंके ध्यान कर सकते हो और उन सभीका अन्दर या नीचेकी ओर उतारी गयी शक्तियोंपर तथा उनके कार्यपर प्रभाव पड़ता

है। यदि तुम अकेले ध्यानमें बैठो तो तुम्हारी आन्तर और बाह्य अवस्था ही मुख्य होगी। और यदि तुम दूसरोंके साथ बैठो तो फिर सामान्य अवस्थाका महत्त्व अधिक होगा। परन्तु इन दोनों दशाओंमें अवस्थाएं सदा बदलती रहेंगी और जो शक्तियां उनका उत्तर देंगी वे कभी एक-सी न होंगी। उचित रूपमें की गयी सम्मिलित एकाग्रता एक महान् शक्ति हो सकती है: एक प्राचीन कहावत है कि यदि एक दर्जन सच्चे मनुष्य अपने संकल्प और अभीप्साको एक करके भगवान्‌को पुकारें तो भगवान् प्रकट हुए बिना न रह सकेंगे। परन्तु उनका संकल्प एकनिष्ठ होना चाहिये, उनकी अभीप्सा सच्ची होनी चाहिये। हो सकता है कि इस प्रकारका प्रयास करनेवाले किसी प्रकारकी जड़ताके वश अथवा किसी भ्रान्ति या विकृत इच्छाके कारण एक हो गये हों और ऐसी अवस्थामें परिणाम विनाशकारी हो सकते हैं।

ध्यानके समय पहली और अनिवार्य आवश्यकता है तुम्हारी समस्त चेतनाका पूर्ण और नितान्त सचाईकी अवस्थामें होना। यह अपरिहार्य है कि तुम अपने-आपको धोखा न दो और दूसरेको न तो धोखा दो और न दूसरेके धोखेमें आओ। बहुधा लोगोंमें कोई कामना होती है, कोई मनकी पसन्द या प्राणकी वासना होती है, वे चाहते हैं, कि उनके ध्यानमें होनेवाली अनुभूति किसी विशिष्ट रूपमें हो अथवा वह कुछ ऐसा मार्ग ले जिससे उनकी भावनाओं, इच्छाओं और पसन्दोंको संतोष मिले; वे अपने-आपको खाली और निश्चल रखकर जो कुछ होता है उसे सरलता और सचाईके साथ साक्षी रूपमें नहीं देखते। यदि ऐसी अवस्थामें होनेवाली चीज तुम्हें पसन्द न हो तो अपने-आपको धोखा देना सहज होगा; तुम एक चीज देखोगे, किन्तु उसे थोड़ा-सा तोड़-मरोड़कर कोई और ही चीज बना डालोगे अथवा किसी सहज और स्पष्ट वस्तुको विकृत कर डालोगे या उसे बढ़ाकर असाधारण अनुभूति बना दोगे। जब तुम ध्यान करने बैठो तो तुम्हें एक बालककी भांति सरल और निष्कपट रहना चाहिये, अपने बाहरी मनको किसी प्रकारका हस्तक्षेप न करने दो, कोई आशा या किसी तरहका हठ न करो। यदि यह अवस्था हो तो बाकी सब तुम्हारी अन्दरकी अभीप्सापर निर्भर होगा। यदि तुम अन्दरसे शान्ति मांगोगे, तो वह मिलेगी; यदि बल मांगोगे, शक्ति मांगोगे, ज्ञान मांगोगे, तो वे भी मिलेंगे — किन्तु सब-के-सब तुम्हारी ग्रहण करनेकी शक्तिके परिमाणमें मिलेंगे। और यदि तुम भगवान्‌का आवाहन करो — यह स्वीकार करते हुए कि भगवान् तुम्हारे आवाहनको सुननेके लिये सदा तैयार हैं, और इसका यह अर्थ हुआ कि तुम्हारा आवाहन उनतक पहुंचनेके

लिये पर्याप्त रूपसे शुद्ध और बलवान् है — तो तुम्हें उसका उत्तर अवश्य मिलेगा।

३० जून, १९२९

मनुष्यमें सांप और बिच्छू जैसे कुछ जन्तुओंसे जो एक नैसर्गिक हटावका भाव उत्पन्न होता है, उसका आधार क्या है?

यह अनिवार्य रूपसे आवश्यक नहीं है कि व्यक्तिको इस प्रकारके या किसी अन्य प्रकारके हटाव अनुभव हों। किसी भी प्रकारकी घृणा या हटावका बिलकुल न होना योगकी मूलभूत प्राप्तियोंमेंसे एक है।

जिस हटावकी बात तुम कह रहे हो वह भयके कारण होता है; यदि भय न हो तो इस प्रकारके हटावका अस्तित्व ही नहीं रहता। यह भय बुद्धिपर आधारित नहीं होता, अपितु नैसर्गिक होता है; यह वैयक्तिक नहीं, जातिगत होता है; यह एक आम सुझाव है और सारी मानवजातिकी चेतनामें समाया हुआ है। कोई व्यक्ति जब मानव शरीर धारण करता है तो साथ-ही-साथ इस प्रकारके आम सुझावों, जातिगत विचारों, मानव-जातिकी अमनी भावनाओं, साहचर्यों, आकर्षणों, विकर्षणों और भयोंके एक समूहको भी स्वीकार करता है।

परन्तु एक दूसरे दृष्टिकोणसे आकर्षण या विकर्षणके स्वभावमें कोई चीज बिलकुल व्यक्तिगत होती है, ये गतियां प्रत्येक मनुष्यमें एक सरीखी नहीं होतीं और ये बहुत हदतक विभिन्न मनुष्योंकी प्राणमय सत्ताके कंपनके स्वरूपपर निर्भर होती हैं। ऐसे लोग हैं जिन्हें सांप आदि जन्तुओंसे किसी प्रकारका विकर्षण नहीं होता, केवल इतना ही नहीं उन्हें ये जन्तु अच्छे लगते हैं; उनमें इनके प्रति एक प्रकारका प्राणमय आकर्षण और पसन्दगी होती है।

संसार ऐसी चीजोंसे भरा है जो सुखकर और सुन्दर नहीं हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य इन चीजोंसे दिन-रात घृणा करता रहे। घृणा, जुगुप्सा और भयके समस्त भावोंपर, जो मनको क्षुब्ध और दुर्बल करते हैं, विजय प्राप्त की जा सकती है। योगीको इन प्रतिक्रियाओंपर विजय प्राप्त करनी होगी। योग-मार्गपर पहला कदम रखते ही यह मांग

की जाती है कि तुम सभी प्राणियों, वस्तुओं और घटनाओंके सम्मुख पूर्ण समचित्तता रखो। तुम्हें सदा स्थिर, निर्लिप्त और अविचलित रहना चाहिये; इसीमें योगीका बल है। यदि तुम पूर्ण रूपसे स्थिर और शान्त हो तो तुम्हारे सामने आनेपर खतरनाक और खूंखार पशु भी निरस्त्र हो जायंगे।

विकर्षण अज्ञानकी एक क्रिया है, यह आत्म-संरक्षणकी एक नैसर्गिक चेष्टा है। परन्तु जो चीज तुम्हारा सबसे अधिक संरक्षण करती है वह किसी खतरेसे बिना सोचे-विचारे दूर हठ जाना नहीं, बल्कि ज्ञान है, इस बातका ज्ञान कि खतरा किस प्रकारका है और साथ ही जिन साधनोंसे वह टल सकता है या निष्फल हो सकता है उन साधनोंका सचेतन उपयोग। ये गतियां जिस अज्ञानमेंसे जन्म लेती हैं वह एक साधारण मानव अवस्था है, किन्तु उसपर विजय प्राप्त की जा सकती है। हम असंस्कृत मानव प्रकृतिसे, जहांसे हमारी बाह्य सत्ताका आरंभ होता है और जो हमें चारों ओरसे घेरे हुए है, बंधे नहीं हैं।

बढ़ती हुई चेतना अज्ञानको दूर कर देती है। जिस चीजकी तुम्हें जरूरत है वह है चेतना, सदैव अधिकाधिक चेतना, शुद्ध, सरल और ज्योतिर्मय चेतना। इस प्रकारकी पूर्णता-प्राप्त चेतनाके प्रकाशमें चीजें अपने असली रूपमें दिखायी देती हैं, वैसी नहीं जैसी वे अपनेको दिखाना चाहें। यह प्रकाश एक चित्रपटकी तरह होता है जो सामनेसे गुजरती हुई चीजोंको हूबहू दिखा देता है। वहां तुम देख पाते हो कि कौन-सी चीज ज्योतिर्मय है और कौन-सी अंधकारमय, कौन-सी सीधी है कौन-सी टेढ़ी। तुम्हारी चेतना एक चित्रपट या दर्पण बन जाती है; पर यह तब होता है जब तुम चिन्तन-मननकी अवस्थामें केवल द्रष्टा मात्र रहते हो; जब तुम सक्रिय हो तो यह चेतना सर्चलाइटकी तरह हो जाती है। यदि तुम्हें किसी चीजको साफ-साफ देखना हो और उसकी अंदरूनी जांच-पड़ताल करनी हो तो बस इस सर्चलाइटको उस चीजकी ओर कर दो।

इस प्रकारकी पूर्ण चेतनाको प्राप्त करनेका उपाय है अपनी वास्तविक चेतनाको उसके वर्तमान घेरे और सीमासे बाहर निकालकर विशाल बनाना, उसे शिक्षित करना, उसे भागवत ज्योतिकी ओर खोलना और उसमें भागवत ज्योतिको स्वतंत्र और स्वच्छन्द रूपसे काम करने देना। परन्तु 'ज्योति' अपना पूरा-पूरा और अबाधित कार्य तभी कर सकती है जब तुम समस्त लालसाओं और भयसे मुक्त हो, जब तुम्हारे अन्दर कोई भी मानसिक पक्षपात न हो, कोई प्राणमय पसन्द न हो, कोई भौतिक आशंका या आकर्षण न हो जो तुम्हें तमसाच्छन्न करे या बन्धनमें डाले।

हटाव या विकर्षण दुर्बलताकी एक क्रिया है। यह इसलिये होता है कि तुम्हें किसी वस्तुने छुआ और आघात पहुंचाया है और तुम आघात पहुंचानेवाली वस्तुसे दूर हटते हो। हो सकता है कि किसी सत्ता या मनुष्य या पशु या उनसे निकलनेवाली चीजोंका वातावरण तुम्हारे लिये हानिकर हो — चाहे हर एक इसे इस रूपमें अनुभव न करता हो — और ज्यों ही वह वातावरण सीधा तुम्हें स्पर्श करे त्यों ही तुम पीछे खिंच जाओ। परन्तु यदि तुम काफी बलवान् हो तो तुम इस खतरेको दूरसे ही रोक दोगे और उसे अपने पास पहुंचने या अपनेपर चोट करने न दोगे। कारण, तुम तुरन्त जान और देख पाओगे कि यह कोई हानिकर वस्तु है और तुम अपनी रक्षाके लिये एक मेंड बांध लोगे, और यदि वह वस्तु तुम्हारे नजदीक आ जाय तो भी तुम्हारा स्पर्श न कर सकेगी; उसकी उपस्थितिसे तुम अक्षत और अविचलित रहोगे।

यदि भगवान्, जो पूर्ण प्रेममय हैं, सृष्टिके मूल हैं तो फिर पृथ्वीमें ये जो बुराइयां भरी पड़ी हैं, वे कहांसे आयीं?

सब कुछ भगवान्मेंसे ही आया है; किन्तु उस 'एक चेतना'ने, परमात्माने जगत्को सीधा अपने-आपमेंसे नहीं रचा है; एक 'शक्ति' उसमेंसे निकली और अपने कार्यकी अनेक सीढ़ियोंसे होती हुई नीचे उतरी, अनेक मार्गोंसे गुजरी। अनेक मध्यस्थ सृष्टिकर्ता या आकार-निर्माता — उनका यही नाम अधिक उपयुक्त होगा — हैं जिन्होंने सृष्टिकी रचनामें प्रधान भाग लिया है। ये मध्यवर्ती प्रतिनिधि हैं, जिन्हें मैं सृष्टिकर्ताकी अपेक्षा आकार-निर्माता कहना अधिक पसन्द करती हूं, क्योंकि इन्होंने जड़-तत्त्वको केवल आकार, प्रवृत्ति और स्वभाव ही दिया है। ये आकार-निर्माता अनेक हुए हैं, और इनमेंसे कइयोंने सामंजस्यपूर्ण तथा कल्याणकारी वस्तुओंका निर्माण किया है तो कइयोंने हानिकारक और बुरी वस्तुएं गढ़ी हैं। और कुछ तो बनानेवालोंकी अपेक्षा बिगाड़नेवाले ही हुए हैं, कारण जिस वस्तुको दूसरोंने अच्छे रूपमें आरंभ किया था उसे उन्होंने हस्तक्षेप करके बिगाड़ डाला।

क्या यह ठीक नहीं है कि सृष्टिमें, जो अनेकविध जगतोंका समूह है, हमारा भौतिक जगत् सबसे नीची श्रेणीका है?

हमारा अत्यन्त स्थूल जगत् है, परन्तु यह स्थूल होनेके कारण ही

"नीची श्रेणी"का नहीं है; यदि यह नीची श्रेणीका है तो इसलिये कि यह अज्ञानमय और अंधकारमय है, न कि इसलिये कि यह स्थूल है। "जड़-तत्त्व"को अज्ञान और अंधकारका पर्यायवाची बना देना भूल है। इसके अतिरिक्त, हम केवल स्थूल-भौतिक जगत्में ही तो नहीं रहते: यह तो उन अनेक जगतोंमेंसे एक है जिनमें हम एक साथ निवास करते हैं, एक तरहसे यह इन सब जगतोंमें सबसे अधिक प्रधान है। क्योंकि जड़-तत्त्वका यह जगत् वह बिंदु है जहां सभी जगत् संकेन्द्रित होते हैं; यह वह क्षेत्र है जहां सभी जगत् ठोस रूप धारण करते हैं; वह स्थान है जहां सभी जगतोंको अभिव्यक्त होना होगा। वर्तमानमें यह असामंजस्यपूर्ण और तमोग्रस्त है; किन्तु यह तो केवल एक दुर्घटना है, मानों दौड़का नियम-विरुद्ध आरंभ है। एक दिन यह सुन्दर छन्दोमय, ज्योतिसे भरपूर हो जायगा; कारण, यही वह परिपूर्णता है जिसके लिये इसे बनाया गया है।

२८ जुलाई, १९२९

> क्या योगी कलाकार हो सकता है अथवा क्या कोई कलाकार योगी हो सकता है? कलाका योगसे क्या संबंध है?

ये दो वस्तुएं आपसमें उतनी विरोधी नहीं जितना तुम समझते हो। ऐसी कोई चीज नहीं है जो योगीको कलाकार होनेसे अथवा कलाकारको योगी होनेसे रोके। परन्तु योगमें प्रवेश करनेपर वस्तुओंके मूल्यमें एक गंभीर परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन जैसा कि और चीजोंके संबंधमें होता है वैसा ही कलाके संबंधमें भी होता है। तुम कलाको बिलकुल दूसरे ही दृष्टि-बिन्दुसे देखने लगते हो। अब कला तुम्हारे लिये एक-मात्र परम वस्तु नहीं रह जाती कि तुम उसीमें पूर्ण रूपसे तन्मय हो जाओ जो तुम्हारे जीवनका लक्ष्य हो। कला एक साधन है, साध्य नहीं; यह भाव-व्यंजना का एक साधन है। और तब कलाकार यह समझना छोड़ देता है कि सारा संसार ही उसकी कलाकृतिको मुग्ध होकर देख रहा है अथवा यह कि उसकी रचना ही संसारकी अबतककी रचनाओंमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। अब उसके व्यक्तित्वका कोई मूल्य नहीं रहता; वह तो एक प्रतिनिधि होता है, एक माध्यम होता है, और उसकी कला

भगवान्के साथ उसके संबंधको व्यक्त करनेका एक साधन। और इस प्रयोजनके लिये वह अपनी कलाका ठीक उसी तरह उपयोग करता है, जैसे अपनी प्रकृतिके किसी अन्य साधनका।

परन्तु योग-साधना आरंभ करनेके बाद भी क्या कलाकारको कोई रचना करनेकी प्रवृत्ति होती है?

उसमें यह प्रवृत्ति क्यों नहीं होनी चाहिये? वह भगवान्के साथ अपने संबंधको अपनी कलाके द्वारा ठीक उसी तरह व्यक्त कर सकता है जैसे किसी अन्य साधनके द्वारा। यदि तुम चाहते हो कि कला सच्ची और उत्कृष्टतम हो तो उसे इस अप्राकृतिक जगत्में उतारी गयी किसी दिव्य जगत्की अभिव्यक्ति होना चाहिये। सभी सच्चे कलाकारोंको इस तरहका कुछ अनुभव होता है, कुछ ऐसा भान होता है कि वे किसी उच्चतर जगत् और इस भौतिक जगत्के बीच एक माध्यम हैं। यदि तुम इस दृष्टिसे देखो तो कला योगसे बहुत भिन्न नहीं है। परंतु बहुधा कलाकारोंको एक अस्पष्ट-सा अनुभवमात्र होता है, उन्हें ज्ञान नहीं होता। तब भी, मैं कुछ कलाकारोंको जानती थी जिन्हें यह ज्ञान था; वे ज्ञानके साथ अपनी कला-रचना करते थे, उन्होंने रचनाओंमें अपने व्यक्तित्वको सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्वके रूपमें आगे नहीं रखा, उन्होंने अपने कार्यको भगवान्की भेंटके रूपमें लिया और उसके द्वारा भगवान्के साथ अपने संबंधको व्यक्त करनेकी कोशिश की।

मध्यकालीन युगमें कलाका माना हुआ उद्देश्य यही था। "आदिकालीन" चित्रकारोंमें मध्यकालीन यूरोपके गिरजाघरोंके निर्माताओंमें कलाके संबंधमें और कोई ख्याल न था। भारतवर्षकी स्थापत्य-कला, मूर्तिकला और चित्रकारी, सब कुछ इसी मूल भावसे उत्पन्न हुई हैं और इन सबकी प्रेरणा इसी आदर्शसे हुई थी। मीराबाईके भजनोंका, त्यागराजके संगीतका, भारतके भक्तों, संतों और ऋषियोंके काव्य-साहित्यका स्थान संसारकी सर्वोत्कृष्ट कला-संपत्तिमें है।

परन्तु कोई कलाकार यदि योग-साधना करता है तो क्या इससे उसकी कलाकृतिमें कोई क्षति होती है?

कलाकी साधनाके मूलमें भी वही सिद्धांत है जो योग-साधनामें है। दोनोंका उद्देश्य अधिकाधिक सचेतन होना है; दोनोंमें ही तुम्हें साधारण

दृष्टि और अनुभवसे परेकी वस्तुको देखना और अनुभव करना होता है, अंतरमें जाकर गभीरतर वस्तुओंको बाहर लाना सीखना पड़ता है। चित्रकारोंको अपने नेत्रोंकी चेतनाकी वृद्धिके लिये एक साधनाका अनुसरण करना पड़ता है, यह साधना प्रायः योग ही होती है। सच्चे कलाकार बाह्य-दृष्टिसे परेकी वस्तुओंको देखनेका प्रयास करते हैं और अपनी कलाका उपयोग आंतर जगत्की व्यंजनाके लिये करते हैं, उनकी चेतना इस एकाग्रताद्वारा वृद्धिको प्राप्त होती है और यह चेतना योगके द्वारा मिलनेवाली चेतनासे भिन्न नहीं होती। तो फिर कला यौगिक चेतना-संबंधी रचनामें सहायरूप क्यों न हो? मैं कुछ ऐसे लोगोंको जानती हूं जिन्हें बहुत कम प्रशिक्षण मिला था और जो बहुत कुशल नहीं थे, फिर भी उन्होंने योगद्वारा लेखन-कला और चित्रकारीकी अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी। मैं तुम्हें दो उदाहरण दे सकती हूं। इसमें एक लड़की थी जिसे किसी तरहकी शिक्षा नहीं मिली थी; वह नर्तकी थी और साधारणतया अच्छा नाच लेती थी। योग आरंभ करनेपर वह केवल अपने मित्रोंके आगे ही नाचती थी, किंतु अब उसके नृत्यकी भाव-व्यंजना और सुन्दरतामें एक ऐसी गहराई आ गयी जो पहले नहीं थी। और यद्यपि वह शिक्षिता नहीं थी फिर भी आश्चर्यजनक लेख लिखने लगी; क्योंकि उसे सूक्ष्म जगतोंके दृश्योंका दर्शन होता था और वह उनका वर्णन अत्यंत सुन्दर भाषामें करती थी। परंतु उसके योगमें उतार-चढ़ाव आता था, और जब वह अच्छी अवस्थामें होती तब तो सुन्दर ढंगसे लिखती, अन्यथा सर्वथा मंद, मूर्ख और रचना-शक्तिविहीन हो जाती थी। दूसरा उदाहरण एक लड़केका है जिसने कलाका अध्ययन किया था, किंतु बिलकुल थोड़ा-सा। वह किसी कूटनीतिज्ञका लड़का था, उसे कूटनीतिक जीवनकी शिक्षा दी गयी थी पर वह भोग-विलासमें रहता था और अधिक शिक्षा न पा सका। फिर भी, ज्यों ही उसने योग करना आरंभ किया त्यों ही वह अंतःप्रेरित चित्र बनाने लगा जिनमें किसी आंतरिक ज्ञानकी अभिव्यक्ति झलकती थी और जो प्रतीकात्मक होते थे; अंतमें वह एक महान् कलाकार हुआ।

कलाकार प्रायः अनियमित आचरणवाले और चरित्र-भ्रष्ट क्यों होते हैं?

जब वे ऐसे होते हैं इसका कारण यह होता है कि वे साधारणतया प्राणमय भूमिकामें रहते हैं और उनका प्राण-भाग उस जगत्की शक्तियोंके प्रति अत्यंत संवेदनक्षम होता है और उस जगत्के नाना प्रकारके प्रभावों और

आवेगोंको ग्रहण करता रहता है जिन्हें वशमें रखनेकी शक्ति उनमें नहीं होती। और बहुधा उनके विचार बहुत स्वतंत्र होते हैं और साधारण मनुष्यका जीवन जिन तुच्छ सामाजिक रूढ़ियों और नैतिक प्रथाओंद्वारा नियंत्रित होता है उनमें वे विश्वास नहीं करते। चाल-चलन-संबंधी प्रचलित नियमोंसे तो वे अपनेको बंधा हुआ महसूस नहीं करते और उन्हें वह आन्तरिक नियम प्राप्त नहीं होता जो इनका स्थान ले सके। चूंकि उनके अन्दर वासना-पुरुषकी गतियोंको रोकनेके लिये कोई चीज नहीं होती इसलिये उनका जीवन आसानीसे स्वच्छन्द या असंयमित हो जाता है। परन्तु सभीकी यह हालत नहीं होती। मैं दस वर्षतक कलाकारोंके बीच रही हूं और अनेकोंको सोलह आने सद्गृहस्थ पाया; वे विवाहित थे और व्यवस्थित जीवन बिताते थे, अच्छे पिता थे, अच्छे पति थे तथा क्या करना चाहिये और क्या नहीं, इस विषयके जो नैतिक सिद्धान्त हैं उनका अपने जीवनमें अत्यंत कठोरतापूर्वक पालन करते थे।

एक कारण है जिससे योग कलाकारकी सर्जनात्मक प्रेरणाको बन्द कर सकता है। यदि उसकी कलाका मूल प्राणमय जगत्में हो तो ज्यों ही वह योगी बनेगा उसकी प्रेरणा चली जायगी, अथवा यों कहें कि जिस मूलसे उसे प्रेरणा मिलती थी वह उसे प्रेरित नहीं करेगा क्योंकि तब प्राणमय जगत् अपने सच्चे स्वरूपमें उसकी आंखोंके सामने आ जाता है, वह अपने सच्चे मूल्यको धारण कर लेता है, और यह मूल्य बहुत ही सापेक्ष होता है। अपनेको कलाकार कहनेवाले अधिकांश व्यक्ति केवल प्राणमय जगत्से ही प्रेरणा प्राप्त करते हैं और इस प्रेरणामें कोई उच्च या महान् अर्थ नहीं होता। परन्तु जब कोई सच्चा कलाकार, ऐसा कलाकार, जो यह चाहता है कि उसकी रचनाका मूल किसी उच्चतर जगत्में हो, योगकी ओर मुड़ेगा, तो वह देखेगा कि उसकी प्रेरणा अधिक सीधी और शक्तिशाली हो गयी है तथा उसकी भाव-व्यंजना अधिक स्पष्ट और अधिक गंभीर। जिनके पास सच्चा कला-धन है उनका यह धन योगकी शक्तिसे बढ़ जायगा, किन्तु जिनमें कलाका मिथ्या दिखावा होगा, उनका वह दिखावा भी गायब हो जायगा या उसका आकर्षण जाता रहेगा। जिसे योगकी सच्ची लगन हो उसे सूक्ष्म दृष्टिके खुलते ही सबसे पहली चीज यह दिखायी देगी कि वह जो कुछ करता है वह विश्वव्यापी अभिव्यक्ति, विश्वव्यापी गतिकी तुलनामें अत्यन्त आपेक्षिक होता है। परन्तु कलाकार बहुधा वृथाभिमानी होता है और अपने-आपको अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्यक्ति, मानव जगत्में एक प्रकारका अर्द्धदेवता समझता है। बहुतसे कलाकार कहते हैं कि यदि वे यह न मानें कि वे जो कुछ कर रहे हैं वह परम महत्त्वपूर्ण है तो वे कुछ

कर ही न सकेंगे। परन्तु मेरा कुछ ऐसे कलाकारोंसे परिचय रहा है जिन्हें किसी उच्चतर जगत्से प्रेरणा मिलती थी फिर भी उनकी यह धारणा नहीं थी कि वे जो कुछ करते हैं वह बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह भाव कलाके सच्चे भावके अधिक समीप है। यदि कोई मनुष्य कलाके अन्दर अपने-आपको अभिव्यक्त करनेके लिये वास्तवमें प्रेरित हुआ है तो उसका अर्थ है कि भगवान् उसके अन्दर इस तरह प्रकट होना चाहते हैं, और तब योगसे उसकी कलाको लाभ ही होगा, हानि नहीं। परंतु सारा सवाल यही है: क्या कलाकारको भगवान्ने नियुक्त किया है अथवा वह अपने-आप ही नियुक्त हो गया है?

परन्तु कोई यदि योग-साधना करता है तो क्या वह शेक्सपियर या शेली जैसा उच्च कोटिका कलाकार हो सकता है? ऐसा कोई उदाहरण तो नहीं मिलता।

क्यों नहीं? महाभारत और रामायण शेक्सपियर या अन्य किसी भी कवि-की काव्य-रचनासे नीचे हर्गिज नहीं हैं और इनके बारेमें कहा जाता है कि ये उन मनुष्योंकी कृति हैं जो ऋषि थे तथा जिन्होंने यौगिक तपस्या की थी। गीता, जिसका स्थान उपनिषदोंकी ही तरह एक साथ श्रेष्ठ-तम साहित्यिक और श्रेष्ठतम आध्यात्मिक पुस्तकोंमें है, किसी ऐसे व्यक्ति-द्वारा नहीं लिखी गयी जिसे योगका अनुभव न हो। और भारतवर्ष या फारस या अन्य स्थानोंके संतों, सूफियों या भक्तोंकी रची हुई विख्यात कविताओंमें तुम्हारे मिल्टन और शेलीकी रचनाओंसे क्या कोई न्यूनता है? और फिर क्या तुम समस्त योगियोंको और उनकी कृतियोंको जानते हो? क्या तुम कह सकते हो कि कौन-सा कवि और रचयिता भगवान्के सचेतन संपर्कमें था और कौन-सा नहीं? कुछ लोग ऐसे हैं जो योगी नहीं कहाते, वे गुरु नहीं हैं, न उनके कोई चेले-चांटे हैं, संसार नहीं जानता वे क्या करते हैं, वे ख्यातिके लिये लालायित नहीं हैं और अपनी ओर मनुष्योंका ध्यान आकर्षित नहीं करते; परन्तु उनमें उच्चतर चेतना है, वे किसी भागवत शक्तिके संस्पर्शमें हैं, और जब वे कोई रचना करते हैं तो वहींसे करते हैं। भारतवर्षकी सर्वोत्कृष्ट चित्रकारियों एवं सर्वोत्तम मूर्तियों और इमा-रतोंके अधिकांश भागको बौद्ध भिक्षुओंने बनाया था जिनका जीवन आध्या-त्मिक मनन और साधनामें ही बीता। उन्होंने उत्कृष्टतम कला-रचनाएं कीं, किन्तु भावी संततिके लिये अपना नाम छोड़ जानेकी परवाह नहीं की। योगी अपनी कलाद्वारा साधारणतया विख्यात क्यों नहीं हैं इसका प्रधान

कारण यह है कि वे कला-व्यंजनाको अपने जीवनका प्रमुखतम भाग नहीं मानते और इसमें एक निरे कलाकारके जितना समय और शक्ति खर्च नहीं करते और वे जो कुछ रचते हैं वह सदा जन-साधारणतक पहुंचता भी नहीं। कितने ही ऐसे हैं जिन्होंने महान् कला-रचनाएं कीं किन्तु उन्हें संसारमें प्रकाशित नहीं किया!

क्या योगियोंने शेक्सपियरसे बढ़िया नाटक लिखे हैं?

नाटक कलाका श्रेष्ठतम अंग नहीं है। एक लेखकने मुझसे एक दिन कहा कि नाटककी कला अन्य कलाओंसे ऊंचे दर्जेकी है और स्वयं कला तो जीवनसे भी अधिक महान् है। परंतु यह बात ठीक ऐसी ही नहीं है। कलाकारका यह समझना, यह विश्वास करना भूल है कि कला-संबंधी रचना कोई ऐसी चीज है जो स्वयं अपने-आपसे स्थित है, अपने-आपके लिये है और संसारके अन्य विभागोंसे स्वतंत्र है। इन कलाकारोंने कलाको ऐसा समझा है मानों जीवनके विशाल क्षेत्रपर यह एक क्षणजीवी पदार्थकी तरह है, कोई ऐसी चीज है जो नैमित्तिक और बाह्य है, कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसके साथ जीवनकी घनिष्ठता हो। इनके अनुसार कला गभीर और स्थायी वस्तु-सत्ताओंतक नहीं पहुंचती, उनका स्पर्श नहीं करती, कला जीवनका कोई यथार्थ और अविभाज्य अंग नहीं बनती। सच्ची कलासे अभिप्रेत है उस परम सुन्दरकी अभिव्यंजना, लेकिन यह व्यंजना होगी विश्वगतिके साथ अंतरंग घनिष्ठता रखते हुए। संसारके बड़े-से-बड़े राष्ट्रोंने और संसारकी सर्वोच्च संस्कृत जातियोंने कलाको सदा ही जीवनका एक भाग माना है और उन्होंने इसको जीवनकी सेवा करनेके उपयोगी बनाया है। जापानमें कलाका जो सर्वोत्कृष्ट काल था उसमें कला ऐसी ही थी; कलाके इतिहासके जो सर्वोत्कृष्ट काल हैं उन सबमें कलाका यही स्वरूप था। परंतु अधिकांश कलाकार जीवनके प्रांतभागपर परिपुष्ट होनेवाले परोपजीवी जंतुओंकी तरह होते हैं। वे शायद यह नहीं जानते कि कला तो जीवनमें और जीवनके द्वारा भगवान्की अभिव्यक्ति-स्वरूप ही होनी चाहिये। प्रत्येक वस्तुमें, सर्वत्र, प्रत्येक संबंधमें सत्यको ही उसके सर्वग्राही छंदमें प्रकाशित करना चाहिये तथा जीवनकी प्रत्येक गति सौंदर्य और सामंजस्यकी एक-एक अभिव्यक्ति-स्वरूप होनी चाहिये। कौशल कला नहीं है, प्रवीणता कला नहीं है। कला तो जीता-जागता सामंजस्य और सौंदर्य है जिसे जीवनकी समस्त गतियोंमें अभिव्यक्त करना चाहिये। सौंदर्य और सामंजस्यकी वह अभिव्यक्ति पृथ्वीपर भगवान्के साक्षात्कारका एक

अंग है, शायद उसका महत्तम अंग है।

कारण, विज्ञानमय दृष्टिकोणसे सौंदर्य और सामंजस्य उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने कि भगवान्‌की अन्य कोई भी अभिव्यक्ति। परंतु इनको अन्य अभिव्यक्तियोंसे अलग नहीं कर डालना चाहिये, अन्य समस्त संबंधोंसे जुदा करके नहीं देखना चाहिये, समग्रतामेंसे बाहर नहीं निकाल लेना चाहिये; जीवनकी जो समग्ररूप अभिव्यक्ति है उसके साथ इनको एक करके रखना चाहिये। लोगोंको यह कहनेकी आदत है: "अरे, यह तो कलाकार है!" मानों कलाकार अन्य मनुष्योंके बीच एक मनुष्य नहीं है, बल्कि वह किसी दूसरे ही समाजसे संबंध रखनेवाला कोई असाधारण व्यक्ति है, तथा उसकी कला भी कोई असाधारण और निराली चीज है जिसे संसारकी साधारण वस्तुओंके जैसा नहीं समझा जाना चाहिये। "कला कलाके लिये" वाली कहावत भी इसी भूलको सत्यके नामसे सुझाने और समझानेकी चेष्टा करती है। यह भूल वैसी ही है जैसी कि लोग उस समय करते हैं जब वे किसी मढ़ी हुई तसवीरको अपने बैठकखानेके बीचोंबीच — कमरेके अन्य सरोसामान और दरोदीवारके साथ उसका कुछ भी मेल न होते हुए — रख देते हैं, यह तसवीर वहां केवल इसलिये रखी जाती है क्योंकि वह एक "कला-रचना" है।

सच्ची कला अखण्ड है और समग्रतासे संबंध रखती है; वह एक है और जीवनके साथ गुंथी हुई है। प्राचीन यूनान और प्राचीन मिस्रमें इस प्रकारकी घनिष्ठ अखण्डताका कुछ नमूना तुम्हें मिलता है; उनके चित्र और मूर्तियां तथा कला-संबंधी अन्यान्य सभी कुछ, किसी भवन-विशेषकी स्थापत्य-कलाविषयक योजनाके अंगभूत ही बनाया और सजाया जाता था। वहांका प्रत्येक ब्योरा इस अखण्डताका ही एक भाग होता था। जापानमें कलाका यही स्वरूप है, अथवा कम-से-कम थोड़े दिन पहलेतक, जबतक कि उसपर उपयोगितावादी और व्यावहारिक आधुनिकतावादका आक्रमण नहीं हुआ था, तबतक यही था। जापानी मकान कलाकी इस अखण्डताका सुन्दर नमूना होता है; उसमें सदा उचित वस्तु उचित स्थानपर होती है, ऐसी कोई चीज नहीं मिलती जो गलत तौरपर सजायी या रखी गयी हो, न कोई चीज बहुत अधिक होती है और न कोई बहुत कम। हर चीज ठीक उतनी होती है जितनी कि आवश्यक हो और स्वयं वह मकान भी इर्द-गिर्दकी प्रकृतिके साथ अद्भुत रूपसे घुला-मिला हुआ होता है। यही बात भारतवर्षकी है, यहां भी चित्रकारी, मूर्तिनिर्माण-कला और स्थापत्य-कला एक सर्वांगपूर्ण सौंदर्यमें गुंथी हुई थीं, भगवान्‌की भक्तिकी ओर इनका भी संगतिपूर्ण प्रवाह था।

इसके बाद संसारके अंदर कलाकी इस दिशामें बड़ी भारी अधोगति हुई। कलाकी यह गिरती दशा विक्टोरिया-युग और फ्रांसमें उसके द्वितीय साम्राज्य-के युगमें आरंभ हुई। तबसे कमरोंमें ऐसे चित्रोंको लटकानेकी आदत पड़ गयी है जिनका आस-पासकी चीजोंके लिये कोई अर्थ नहीं होता; अब तो कोई भी चित्र, कलासंबंधी कोई भी चीज किसी भी जगह रख दी जा सकती है और इससे उस कमरेकी समग्रतामें कोई विशेष अंतर आया हो ऐसा नहीं समझा जाता। कलाका आजकल अर्थ हो गया है कौशल, चातुरी और प्रवीणताका प्रदर्शन करना, न कि एक घरके अंदर सामंजस्य और सौंदर्यकी किसी सर्वांगपूर्ण व्यंजनाको मूर्तिमान् करना।

परंतु मध्यवर्गकी रुचिमें अधोगतिकी इस अवस्थाके विरुद्ध हालमें बगावत शुरू हो चुकी है। यह प्रतिक्रिया इतनी वेगवती हुई है कि ऐसा दीखने लगा मानों लोग कलाको उलटे मार्गकी ओर बहा ले जा रहे हैं और वह किसी निरर्थकताके दलदलमें धंसी जा रही है। परंतु धीरे-धीरे इस विश्रृंखलाकी गहराईमेंसे कोई चीज फूट निकली, कोई ऐसी चीज फूट निकली है जो अधिक युक्तिसंगत, तर्कपूर्ण और संहत है और जिसे एक बार फिरसे कला-का नाम दिया जा सकता है, जिसे कलाका जीर्णोद्धारित अथवा, हम ऐसी आशा करें कि, पुनरुज्जीवित रूप कहा जा सकता है।

कलाको उसके तात्त्विक सत्यमें देखें तो यह भागवत अभिव्यक्तिका, सौंदर्यका अंग है, उससे किसी तरह कम नहीं। इस दृष्टिसे देखनेपर सच्चे कलाकार संभवतः बहुत थोड़े-से मिलेंगे; किन्तु फिर भी, कुछ लोग हैं और इनको योगी कहा जा सकता है। योगीकी तरह ही कलाकारको भी अपनी प्रेरणाकी प्रतीक्षा करने और उसको पानेके लिये हृदयकी गहराईमें उतर-कर चिंतन करना होता है। किसी वास्तविक सुन्दर वस्तुकी रचना करने-के लिये, पहले उसे उस वस्तुको अपने अंदर देखना पड़ता है, उस वस्तुको अपनी आंतरिक चेतनामें एक अखंड वस्तुके रूपमें सिद्ध करना पड़ता है; इस प्रकार उसे जब किसी वस्तुकी प्राप्ति, उसका दर्शन हो जाता है, वह वस्तु उसके हृदयमें अंकित हो जाती है केवल तभी वह उस वस्तुको बाहर प्रकट कर सकता है; वह अपनी रचना इस महत्तर आंतरिक दर्शनके अनुसार ही करता है। यह भी एक तरहकी योग-साधना ही है; कारण इसके द्वारा उसका आंतरिक जगतोंके साथ घनिष्ठ समागम होने लगता है। लियोनार्ड-द-विंची जैसे मनुष्य योगीके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं थे। और यदि उनको सबसे बड़ा चित्रकार न भी कहें तो भी वे बड़े-से-बड़े चित्रकारोंमेंसे एक तो थे ही, — हालांकि उनकी कला केवल चित्रकारीमें ही समाप्त नहीं हुई।

संगीत भी सार रूपसे आध्यात्मिक कला ही है और सदा ही इसका धार्मिक भाव और आंतरिक जीवनसे साहचर्य रहा है। परंतु यहां भी, हमने इसको भी किसी स्वच्छंद और स्वनिर्भर कलामें, एक क्षणजीवी कलामें परिणत कर दिया है — नाटकका संगीत इसी तरहका है। हमारे देखने और सुननेमें आनेवाली अधिकांश कला-रचनाएं इसी कोटिकी हैं और अधिक-से-अधिक हम उनमें उनके पारिभाषिक दृष्टिकोणसे ही रस ले सकते हैं। मैं यह नहीं कह रही हूं कि नाटकके संगीतको भी उच्चतर कला-व्यंजनाका माध्यम नहीं बनाया जा सकता है; आकार चाहे जो भी हो, लेकिन वह गभीरतर हेतुके लिये उपयोगमें लाया जा सकता है। सब कुछ स्वयं उस वस्तुपर, किस प्रकार उसका उपयोग किया जाता है इसपर और उसके पीछे क्या भाव है इसपर निर्भर है। कोई भी चीज ऐसी नहीं है जो भगवान्के हेतुको सिद्ध करनेके उपयोगमें न लायी जा सके — ठीक उसी तरह जैसे कोई भी चीज यह बहाना कर सकती है कि वह भगवान्के यहांसे आयी है, फिर चाहे वह क्षणजीवी कोटिकी ही हो।

आधुनिक कालके महान् संगीतज्ञोंमें ऐसे बहुतेरे हुए हैं जिनकी चेतना जब वे कोई कला-रचना करने बैठते थे तब किसी उच्चतर चेतनाके संस्पर्शमें आ जाती थी। सीजर फ्रेंक (बेलजियमके एक प्रख्यात संगीतज्ञ) एक प्रेरित व्यक्तिकी तरह ऑरगन बजाते थे; वे अंतरात्माके जीवनके प्रति खुले हुए थे और उनको इस बातका सचेतन ज्ञान था तथा वे बहुत अंश तक इस जीवनको अपने वादनद्वारा अभिव्यक्त करते थे। बिथोवेनने जब ९ वीं सिम्फनीकी रचना की थी तब उनको किसी ऊर्ध्व लोककी ओर उद्‌घाटित हो जाने तथा इस पार्थिव लोकमें उस लोकके उतर आनेका दर्शन हुआ था। वाग्नर (प्रख्यात जर्मन संगीतज्ञ) को सूक्ष्म लोकोंसे बलवान् और शक्तिशाली सूचनाएं मिलती थीं। उनको सूक्ष्म गुह्य विद्याका सहज ज्ञान था और सूक्ष्म जगत्का उन्हें भान होता था तथा इसके द्वारा ही उनको उनकी महत्तम प्रेरणाएं प्राप्त हुई थीं। परंतु उनकी रचनाएं ज्यादातर प्राणमय भूमिकापरसे ही होती थीं और उनका मन उनकी प्रेरणाओंमें लगातार हस्तक्षेप करता रहता था तथा उनको यांत्रिक कर डालता था। उनकी रचनाका अधिकांश भाग शक्तिशाली होते हुए भी बहुत अधिक मिलावटी, बहुधा अस्पष्ट और क्लिष्ट हुआ है। परंतु जब कभी वे प्राणमय और मनोमय भूमिकाका अतिक्रमण कर किसी उच्चतर लोकमें पहुंच सके थे, तब उनको जो थोड़ी-सी झांकियां हुई थीं उनमें असाधारण सौंदर्य था। यह उनके 'पार्सिफाल' नाटकके संगीतमें, उनकी 'ट्रीस्टन' और 'इस्युस्ट' नामक प्रेम-कथाओंके संगीतके कुछ अंशमें तथा 'लास्ट ग्रेट ऐक्ट'

के संगीतके अधिकांश भागमें अभिव्यक्त हुआ है।

नृत्य-कलाकी आधुनिक संसारने क्या दशा कर दी है उसे भी जरा देखो; एक समय नृत्य-कलाकी जो अवस्था थी उससे इसकी तुलना करो। एक ऐसा काल था जब कि नृत्य आंतरिक जीवनकी सर्वोच्च व्यंजनाओंमेंसे एक था, इसका धर्मसे संबंध था, यह धार्मिक पूजाओंको करने, उत्सवोंको मनाने और भगवान्‌की भक्ति करनेका एक मुख्य अंग था। कुछ देशोंमें यह सौंदर्यके बहुत ऊंचे स्थानपर पहुंचा और असाधारण पूर्णताको प्राप्त हुआ। जापानमें लोगोंने नृत्यकी परंपराको धार्मिक जीवनका अंग बनाकर रखा और, चूंकि सौंदर्य और कलाकी ठीक-ठीक समझ जापानियोंकी नैसर्गिक संपत्ति है, इसलिये उन्होंने इस कलाका किसी निम्नतर अर्थमें और मामूली उद्देश्यके लिये उपयोग करके इसकी अधोगति नहीं होने दी। भारतवर्षमें भी ऐसा ही हुआ। यह सच है कि हम लोगोंके इस कालमें प्राचीन यूनानी और अन्य नृत्योंको पुनरुज्जीवित करनेका प्रयत्न किया गया है; परंतु इन समस्त पुनरुज्जीवनोंमें धार्मिक भावका अभाव है और ये नृत्यकी अपेक्षा छंदोबद्ध व्यायाम जैसे ही अधिक दिखायी देते हैं।

आजकल रूसके नृत्य प्रसिद्ध हैं, किंतु ये प्राणमय जगत्‌की व्यंजना हैं, ये भयंकर रूपसे प्राणमय हैं। प्राणमय जगत्‌से आनेवाली सभी चीजोंकी तरह ये नृत्य भी बहुत ही आकर्षक या बहुत ही घृणास्पद हो सकते हैं, किंतु सदा ही ये अपने लिये ही होते हैं न कि किसी उच्चतर जीवनकी अभिव्यक्तिके लिये। रूसवालोंका तो रहस्यवाद भी प्राणमय प्रकारका है। नृत्य-कलाके विशेषज्ञकी हैसियतसे ये लोग अद्‌भुत होते हैं; किंतु विशेषता तो केवल यंत्र है। यदि तुम्हारा यंत्र बढ़िया है तो यह अच्छी ही बात है, किंतु जबतक इसको भगवान्‌के अर्पण नहीं कर दिया जाता तबतक यह चाहे कितना ही सुन्दर क्यों न हो, पर रहता है उच्चतमसे शून्य ही, और किसी दिव्य उद्देश्यके लिये यह उपयोगी नहीं हो सकता। कठिनाई यह है कि जो लोग कलाकार होते हैं उनमेंसे अधिकांश व्यक्तियोंका यह विश्वास होता है कि वे अपने ही पैरोंपर खड़े हैं और उन्हें भगवान्‌की ओर अभिमुख होनेकी कोई आवश्यकता नहीं। यह बड़े दु:खकी बात है, कारण, भागवत अभिव्यक्तिमें कौशल उतना ही उपयोगी तत्त्व है जितनी कि और कोई भी वस्तु। कौशल भागवत रचनाका एक भाग ही है, पर उसे यह सीख लेना चाहिये कि महत्तर वस्तुओंके आगे वह अपनेको कैसे झुकाये रहे।

मनके बहुत ऊपर एक लोक है जिसे हम सामंजस्यका लोक कह सकते हैं और यदि तुम वहां पहुंच सको तो आजतक जितना भी सामंजस्य किसी

भी रूपमें पृथ्वीपर प्रकट हुआ है उसका मूल तुमको वहां मिलेगा। उदाहरणके लिये बाखकी गतों और बिथोवेनकी गतोंको ले लो, ये दो संगीतज्ञ इस जगत्में आगे-पीछे आये और इन्होंने जो कुछ रचनाएं कीं उसके पीछे संगीतकी एक ही धारा, जिसमें कि कतिपय सर्वोत्तम स्वरोंका प्रयोग हुआ है, पायी जाती है। इन दोनों गुणियोंकी स्वरलिपि एक नहीं है, और इनकी गतें बाहरी कानोंको भी अलग-अलग सुन पड़ती हैं, किंतु सार रूपसे ये हैं एक ही। चेतनाके बिलकुल एक ही प्रकारके कंपनने, अर्थपूर्ण सामंजस्यकी एक ही लहरने इन दोनों कलाकारोंको स्पर्श किया था। इस कंपन और लहरको बिथोवन बाखकी अपेक्षा कुछ अधिक पकड़ सके थे, किंतु उनके अंदर ये उनके अपने मनकी कल्पनाओं और क्षेपकोंद्वारा अधिक मिश्रित हुए; बाख कुछ कम पकड़ सके, किंतु जो कुछ भी उनकी पकड़में आया उसको उन्होंने अधिक शुद्ध रखा। जिस कंपनको इन लोगोंने ग्रहण किया वह चेतनाके विजयात्मक निष्क्रमणका कंपन था, चेतना अचेतनाके गर्भको फाड़कर विजयात्मक रूपसे ऊपर उठ रही थी, जन्म ले रही थी।

योगके द्वारा यदि तुम इस लोकमें, जहांसे सभी कलाएं जन्म लेती हैं, पहुंच सको तो तुम इच्छा करनेपर सभी कलाओंके स्वामी बन सकते हो। पहले जो लोग वहां गये होंगे उन्होंने वहां जो कुछ दिव्य सौंदर्य और दिव्य आनंद है उसको वहीं रहकर भोगना संभवत: अधिक सुखकर, अधिक प्रिय अथवा एक आनंदमय चैनसे भरा हुआ पाया हो और उन्होंने वहांकी वस्तु यहां प्रकट करने, इस पार्थिव भूमिकापर मूर्तिमान् करनेकी परवाह न की हो। परंतु यह उदासीनता ही समस्त सत्य नहीं है, न यह योगका ही वास्तविक सत्य है; यह तो संन्यासके अधिक नकारात्मक भावसे पैदा हुई योगकी गतिशील स्वतंत्रताकी विकृति है, उसका ह्रास है। भगवान्के संकल्पको प्रकट होना है, उसे सर्वथा अक्रियता और पूर्ण निश्चल-नीरवतामें एकांतवास नहीं करना है; यदि भागवत चेतना वास्तवमें कोई चीज होती जो अप्रकट रहनेवाले आनंदकी अक्रियता ही हो, तब तो किसी प्रकारकी कोई सृष्टि ही न हुई होती।

४ अगस्त, १९२९

क्या समर्पण और बलिदान एक ही नहीं हैं?

हमारे योगमें बलिदानके लिये कोई स्थान नहीं है। परन्तु सब कुछ इसपर निर्भर है कि तुम बलिदान शब्दका क्या अर्थ करते हो। उसके विशुद्ध भावके अनुसार इसका अर्थ है पवित्र उत्सर्ग, भगवान्‌के प्रति अर्पणद्वारा पवित्रीकरण। परन्तु आजकलके अनुसार बलिदान ऐसी वस्तु है जो विनाशके लिये प्रवृत्त है; यह अपने साथ एक अभावात्मक वातावरण लिये हुए है। इस प्रकारका बलिदान यज्ञ नहीं है, यह तो आत्मवंचना है, आत्मवध है। तुम अपनी संभावनाओंका, अपने व्यक्तित्वकी अत्यंत जड़-प्राकृतिक भूमिका-से लेकर अत्यंत आध्यात्मिक भूमिकाओंतककी संभावनाओं और सिद्धियोंका बलिदान करते हो। बलिदान तुम्हारी सत्ताको क्षीण करता है। भौतिक-रूपसे, यदि तुम अपने जीवनका, अपने शरीरका बलिदान करते हो तो तुम पार्थिव भूमिकापर की अपनी समस्त संभावनाओंको त्याग देते हो; तुम अपने पार्थिव जीवनकी सफलताओंसे हाथ धो लेते हो। इसी प्रकार नैतिक दृष्टिसे तुम अपने जीवनकी बलि दे सकते हो; तुम अपने आन्तरिक जीवनकी विशालता और स्वतंत्र चरितार्थताको त्याग देते हो। आत्मबलि-की इस भावनाके अन्दर सदा ही एक प्रकारके बलात्कारका, किसी तरहकी बनावटका, किसी अध्यारोपित आत्म-त्यागका भाव रहता है। यह एक ऐसा आदर्श है जो आत्माकी गभीरतर और विशालतर स्वतःस्फूर्तियोंको कोई स्थान नहीं देता। समर्पणसे हमारा ऐसा आशय नहीं, बल्कि स्वतःस्फूर्त आत्मदानसे है, अपने-आपको पूरी तरह भगवान्‌को, एक ऐसी उच्चतर चेतनाको दे देना जिसके तुम एक अंग हो। समर्पण तुम्हारा ह्रास नहीं करेगा, बल्कि तुम्हारी वृद्धि करेगा, वह तुम्हारे व्यक्तित्वको घटायेगा नहीं, न उसे दुर्बल करेगा, न उसका नाश ही करेगा, बल्कि वह उसको सुदृढ़ बनायेगा, उसका उत्कर्ष करेगा। समर्पणका अर्थ है देनेके पूर्ण आनन्दके साथ मुक्त भावसे और पूर्ण रूपसे देना, इसमें बलिदानका कोई भाव नहीं है। यदि तुममें जरा-सा भी ऐसा भाव होता है कि तुम बलिदान कर रहे हो तो फिर वह समर्पण नहीं रहता। क्योंकि इसका तो यह अर्थ हुआ कि तुम अपने-आपको बचाये रखना चाहते हो अथवा यह कि तुम अनिच्छापूर्वक या कष्ट और प्रयासके साथ देनेकी चेष्टा कर रहे हो, तुम्हें देनेका आनंद नहीं मिलता, शायद तुम्हारे अंदर देनेका भावतक नहीं होता। जब कभी तुम किसी

कामको अपनी सत्तापर दबाव डालकर करते हो तभी तुम यह निश्चयपूर्वक जान लो कि तुम उस कामको गलत तरीकेसे कर रहे हो। सच्चा समर्पण तुम्हें विशाल बनाता है, तुम्हारी क्षमताकी वृद्धि करता है, वह तुम्हारे गुण और मात्राके परिमाणको इतना बढ़ाता है जितना तुम अपने-आप न बढ़ा पाते। गुण और मात्राकी यह नयी वृद्धि पहले जो कुछ तुम प्राप्त कर सकते थे उससे भिन्न प्रकारकी है: तुम किसी दूसरे ही जगत्‌में प्रवेश करते हो, किसी विशालतामें, जिसमें समर्पण किये बिना न पहुंच पाते। यह तो ऐसे ही है जैसे समुद्रमें जलकी एक बूंद गिरती है। अगर उसने अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखा तो वह मात्र जलकी बूंद रहेगी, इससे अधिक कुछ नहीं, एक छोटी-सी बूंद जो अपने इर्द-गिर्दकी विशालतासे कुचली गयी, क्योंकि उसने समर्पण नहीं किया है। परंतु, समर्पण कर देनेपर, वह उस समुद्रके साथ एक हो जाती है और समग्र समुद्रकी प्रकृति और शक्ति और विशालताका अंग बन जाती है।

इस गतिमें किसी तरहकी संदिग्धता या अस्पष्टता नहीं होती, यह स्पष्ट, बलवान् और निश्चित होती है। यदि कोई छोटा-सा मानव मन भागवत विराट् मनके सामने खड़ा हो और फिर भी अपने पृथकत्वसे चिपका रहे, तो वह जो कुछ है वही बना रहेगा, एक छोटा-सा परिसीमित पदार्थ जो उच्चतर सद्वस्तुके स्वभावको नहीं जान सकता, उसके संपर्कमें नहीं आ सकता। ये दोनों एक-दूसरेसे अलग बने रहते हैं और गुण तथा मात्राकी दृष्टिसे एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न रहते हैं। परंतु यदि वह छोटा-सा मानव मन समर्पण करे तो वह भागवत विराट् मनमें निमग्न हो जायगा, गुण और मात्रामें भी उसके साथ एक हो जायगा। इस तरह वह केवल अपनी सीमाओं और विकृतियोंके सिवाय कुछ न खोयेगा और इससे पा लेगा अपनी विशालता और प्रकाशमान विमलताको। उसके छोटे-से अस्तित्वका स्वभाव बदल जायगा और वह जिस महत्तर सत्यको समर्पण करता है उसके स्वभावको धारण कर लेगा। परंतु यदि वह विराट् मनका प्रतिरोध करे, उसके साथ युद्ध करे, उसके विरुद्ध विद्रोह करे तो दोनोंके बीच एक लड़ाई अनिवार्य हो जायगी और विराट् मनका मानव मनपर दबाव पड़ेगा और जो निर्बल और छोटा है वह बलवान् और बड़ेकी शक्तिमत्ता और अमितता-में समा जायगा। यदि वह समर्पण न करे तो उसकी एकमात्र गति यही है कि वह चूस लिया जाय और उसका अंत हो जाय। जो मानव प्राणी भागवत मनके स्पर्शमें आयेगा और समर्पण करेगा वह देखेगा कि उसका अपना मन अपने अज्ञान और अंधकारसे तुरंत शुद्ध होने लगा है और वह भागवत विराट् मनकी शक्ति और ज्ञानमें भाग लेने लगा है। और यदि वह सामने

खड़ा रहे, किन्तु पृथक् भावसे, बिना किसी संस्पर्शके, तो वह जो कुछ है वही बना रहेगा, उस अपरिमेय विशालतामें जलकी एक बूंद। और यदि वह विद्रोह करे तो वह अपने मनको गंवा देगा, उसकी शक्तियां क्षीण होने लगेंगी और लुप्त हो जायंगी। और जो बात मनके लिये सत्य है वही प्रकृति-के अन्य सब भागोंके लिये भी सत्य है। यह ऐसा है जैसे तुम किसी ऐसे मनुष्यके साथ लड़ो जो तुमसे बहुत अधिक तगड़ा हो, तो तुम्हें बस सिर फुड़वानेका ही लाभ होगा। तुम उस चीजसे क्योंकर लड़ सकते हो जो तुमसे लाखों गुनी बलवान् है? प्रत्येक बार जब तुम विद्रोह करोगे तब तुम्हें एक आघात पहुंचेगा और प्रत्येक आघात तुम्हारी शक्तिके एक भागको हर लेगा, यह वैसी ही बात है जैसे कोई अपनेसे बहुत अधिक बलवान् प्रतिद्वंद्वीके साथ मुष्टियुद्धमें उतरे और घूंसेपर घूंसा खाता जाय और हर घूंसा उसे अधिकाधिक कमजोर बनाता जाय और अन्तमें वह पछाड़ खा जाय। इसमें किसी संकल्प-शक्तिके हस्तक्षेपकी आवश्यकता नहीं होती, यह काम आप-से-आप हो जाता है। यदि तुम विशालताके विरुद्ध विद्रोह करके उससे टकराओ तो इसके सिवाय और कोई परिणाम हो ही नहीं सकता। जबतक तुम अपने कोनेमें पड़े रहो और साधारण जीवन बिताते रहो तबतक तुम्हें कोई नहीं छूता या कोई तुमपर चोट नहीं करता, किन्तु जहां तुम भगवान्‌के संस्पर्शमें आये कि तुम्हारे लिये केवल दो ही मार्ग रह जाते हैं। या तो तुम समर्पण करो और उसमें अपने-आपको मिला दो और तुम्हारा समर्पण तुम्हें विशाल और महिमान्वित करेगा; या फिर तुम विद्रोह करो और तब तुम्हारी सब संभावनाएं समाप्त हो जायंगी और तुम्हारी शक्तियां क्षीण होकर नष्ट होने लगेंगी और तुममेंसे खिचकर उस देवमें समा जायंगी जिसका तुम विरोध कर रहे हो।

समर्पणके विषयमें बहुतसे भ्रान्त विचार फैले हुए हैं। ऐसा लगता है कि अधिकतर लोग समझते हैं कि समर्पण करनेका अर्थ है व्यक्तित्वका विसर्जन, किन्तु यह एक गहरी भूल है। कारण, व्यक्तिके अस्तित्वका प्रयोजन है भागवत चेतनाके एक पहलूकी अभिव्यक्ति, और इस पहलूके स्वभावगत धर्मके प्रकाशनसे ही उसके व्यक्तित्वकी रचना होती है। इसलिये भगवान्-की ओर उचित भाव रखनेसे यह व्यक्तित्व क्षीण और विकृत करनेवाले निम्नप्रकृतिके प्रभावोंसे मुक्त हो जाता है और अधिक शक्तिसंपन्न होकर, अपने स्वरूपमें अधिक प्रतिष्ठित होता है और अधिक पूर्ण बन जाता है। उसके व्यक्तित्वका सत्य और सामर्थ्य अपने अधिक विशिष्ट रूपमें चमकने लगता है, उसका चरित्र अधिक यथार्थ रूपमें प्रत्यक्ष होता है जैसा कि उस समय संभव न होता जब वह सारे अज्ञान और अन्धकारसे, निम्न प्रकृतिकी

सारी गंदगी और खोटसे मिला हुआ था। अब उसका व्यक्तित्व ऊंचाईमें और महिमामें बढ़ने लगता है, उसकी क्षमतामें वृद्धि हो जाती है तथा उसकी अधिकतर संभावनाएं सिद्ध होने लगती हैं। परंतु यह उदात्त करनेवाला परिवर्तन लानेके लिये व्यक्तिको पहले उस सबका त्याग करना होगा जो सत्य स्वभावको विकृत, सीमित और तमोग्रस्त करके उसके सच्चे व्यक्तित्वको बन्धनमें डालता, नीचेकी ओर गिराता तथा विरूप बनाता है; उसे अपने-आपमेंसे उन सब तत्त्वोंको निकाल फेंकना होगा जो साधारण मनुष्यकी अज्ञानमयी, निम्न क्रियाओंसे तथा उसके अन्धे-लंगड़े साधारण जीवनसे संबंध रखते हैं। सबसे पहले उसे अपनी कामनाओंका त्याग करना होगा; कारण, कामना निम्न प्रकृतिकी सबसे अधिक तमसाच्छन्न क्रिया है और यह मनुष्य-को सबसे अधिक तमसाच्छन्न करती है। कामनाएं दुर्बलता और अज्ञानकी गतियां हैं और ये तुम्हें अपनी दुर्बलता तथा अज्ञानसे बांधे रखती हैं। लोगोंकी धारणा है कि कामनाएं उनके अपने अन्दर उत्पन्न होती हैं, वे महसूस करते हैं कि ये या तो उनके अपने-आपमेंसे पैदा होती हैं या उनके अपने अन्दरसे उठती हैं, किन्तु यह एक भूल है। कामनाएं अंधकारग्रस्त निम्न प्रकृतिके विशाल समुद्रकी लहरें हैं और एक व्यक्तिसे दूसरे व्यक्तिमें पहुंचती रहती हैं। मनुष्य कामनाको अपने-आपमें पैदा नहीं करते, बल्कि ये लहरें उनपर चढ़ आया करती हैं, जो कोई इनके लिये खुला हो या जिसने अपने बचावका प्रबन्ध न किया हो वह इनकी पकड़में आ जाता है और इनके थपेड़ोंको खाता हुआ इधर-से-उधर डोलता रहता है। कामना मनुष्यको अभिभूत करके, उसपर अधिकार करके उसे विवेक करने लायक नहीं रहने देती और उसमें ऐसी धारणा जमा देती है कि इस (कामना) की अभिव्यक्ति करना भी उसके अपने स्वभावका एक अंग ही है। पर सच तो यह है कि मनुष्यके सत्य स्वभावके साथ इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता। ईर्ष्या, डाह, घृणा और हिंसा आदि सभी निम्नतर आवेगोंके सम्बन्धमें यही बात है। ये भी वे गतियां हैं जो तुम्हें पकड़ लेती हैं, वे लहरें हैं जो तुमपर चढ़ आती और तुम्हें पराजित करती हैं; इनका सत्य चरित्र या सत्य स्वभावसे कोई सम्बन्ध नहीं है, बल्कि ये तो उन्हें विरूप बनाती हैं। ये तुम्हारा वास्तविक या अविभाज्य अंग नहीं हैं, बल्कि ये इर्द-गिर्दके उस अन्धकारमय समुद्रोंसे आती हैं जिनमें निम्न प्रकृतिकी शक्तियां विचरण करती हैं। इन कामनाओंमें, इन आवेशोंमें कोई व्यक्तित्व नहीं होता, इनमें तथा इनकी क्रियाओंमें ऐसी कोई चीज नहीं होती जो तुम्हारे लिये खास हो, ये इसी रूपमें सभीके अन्दर प्रकट होती हैं। मनकी अज्ञानमय गतियां, व्यक्तित्वको ढक देनेवाली तथा उसकी

वृद्धि और सार्थकताको क्षीण करनेवाली भ्रान्तियां, सन्देह और कठिनाइयां भी, इसी मूलसे आती हैं, ये गुजरती हुई लहरें हैं और जो कोई इनकी पकड़में आनेके लिये और अन्धे उपकरणकी तरह काम आनेके लिये तैयार हो उसे पकड़ लेती हैं। फिर भी, प्रत्येक मनुष्य यह विश्वास लिये फिरता है कि ये गतियां उसका अपना अंग और उसके अपने स्वतंत्र व्यक्तित्वकी बहुमूल्य उपज हैं। इतना ही नहीं, ऐसे लोग भी हैं जो इनसे और अपनी अक्षमताओंसे चिपके रहते हैं मानों ये ही उनकी स्वतंत्रताका चिह्न या सार हैं।

यदि तुम इस बातको समझ जाओ तो तुम आध्यात्मिकता और नैतिकता में — लोग इन्हें एक-दूसरेमें मिला देनेकी भूल सदा ही किया करते हैं — जो अन्तर है, जो महान् अन्तर है उसे समझ सकोगे। आध्यात्मिक जीवन, अर्थात्, यौगिक जीवनका उद्देश्य है भागवत चेतनामें परिवर्धित होना और फलतः, तुममें जो कुछ है उसे पवित्र, तीव्र, महान् और पूर्ण करना। यह जीवन तुम्हें भगवान्‌की अभिव्यक्ति करनेवाली एक शक्ति बना देता है। यह प्रत्येक व्यक्तिके चरित्रको पूर्ण गुणोत्कर्षतक ऊपर उठा देता है तथा अधिक-से-अधिक आत्म-प्रकाशनकी सीमातक पहुंचा देता है; कारण, यह भगवान्‌की योजनाका एक अंग है। नैतिकता एक मानसिक रचनाके सहारे आगे बढ़ती है और क्या अच्छा है और क्या नहीं इस विषयके थोड़े-से विचारोंके आधारपर एक आदर्श नमूना गढ़कर तैयार करती है जिसके सांचेमें ढलना हर एकके लिये जरूरी होता है। इस नैतिक आदर्शका समग्र स्वरूप या उसके संघटक अंग देश और कालके अनुसार जुदा-जुदा होते हैं। फिर भी यह आदर्श अपने-आपको बेजोड़ आदर्श, अपनेमें बिलकुल परिपूर्ण मानता है, वह अपनेसे बाहर किसी मत या सिद्धान्तको स्वीकार नहीं करता, अपने अन्दर भी किसी प्रकारके फेर-फारकी इजाजत नहीं देता। सभीको उस आदर्श नमूनेके सांचेमें ढलना होगा, हर एकको उसीके हूबहू, बिना किसी भूलके वैसा ही बनना होगा। चूंकि नैतिकता इस तरहके कठोर और अवास्तविक स्वभाववाली है, इसी कारण वह अपने सिद्धान्त और क्रियामें आध्यात्मिक जीवनके विपरीत जा पड़ती है। आध्यात्मिक जीवन सबके अन्दर उपस्थित सार वस्तुका दर्शन कराता है, लेकिन साथ ही उसके अनन्त वैचित्र्य भी दिखाता है; यह एकतामें विविधता और फिर उस विविधतामें पूर्णताको सिद्ध करनेकी चेष्टा करता है। नैतिकता एक ही कृत्रिम मानदण्डको उठा लेती है जो जीवनके वैचित्र्य और आत्माकी स्वतंत्रताके विपरीत है। वह बंधी हुई, मर्यादित और मानसिक वस्तुकी सृष्टि करके यह मांग करती है कि सभी उसके अनुसार चलें।

हर व्यक्ति एक ही प्रकारके गुणों और एक ही प्रकारके आदर्श स्वभावको प्राप्त करनेके लिये परिश्रम करे। नैतिकता न तो दिव्य है और न भगवान्की है; यह मनुष्यकी है और मानवीय है। नैतिकता भले और बुरेके बीच स्थायी विभाजनको अपना आधार-तत्त्व मानती है, किन्तु यह मनमानी धारणा है। यह आपेक्षिक चीजोंको निरपेक्षके रूपमें आरोपित करनेकी चेष्टा है; क्योंकि यह अच्छा और बुरा भिन्न जलवायु और भिन्न समयोंमें, भिन्न युगों और भिन्न देशोंमें बदलता रहता है, नैतिकताका विचार यहांतक जाता है कि वह कहता है कि कामनाएं भी अच्छी या बुरी होती हैं और वह अच्छीको स्वीकारने और बुरीको त्यागनेके लिये कहता है। परन्तु आध्यात्मिक जीवनकी तो यह मांग है कि तुम कामना मात्रका त्याग करो। उसका नियम है कि जो गतियां भगवान्से दूर ले जाती हों उन्हें अपनेसे दूर करो; इसलिये नहीं कि वे अपने-आपमें बुरी हैं, — कारण वे किसी औरके लिये अथवा किसी दूसरे क्षेत्रमें अच्छी हो सकती हैं, — बल्कि इसलिये कि उनका सम्बन्ध उन आवेगों या शक्तियोंसे है जो अंधेरी और अज्ञानमय होनेके कारण भगवान्के पास पहुंचनेके मार्गमें बाधा पहुंचाती हैं। सभी कामनाएं, चाहे अच्छी हों या बुरी, इसी व्याख्याके अन्तर्गत हैं, कारण कामना मात्रका उद्भव अंधेरी प्राणमय सत्ता और उसके अज्ञानसे होता है। दूसरी ओर, तुम्हें उन सब गतियोंको स्वीकारना चाहिये जो भगवान्के सम्पर्कमें लानेवाली हों। परन्तु तुम उन्हें इसलिये नहीं स्वीकारते कि वे अपने-आपमें अच्छी हैं, बल्कि इसलिये कि वे तुम्हें भगवान्के पास पहुंचाती हैं। अतएव, जो कुछ तुम्हें भगवान्के पास ले जाता हो उसे स्वीकार करो और जो कुछ उनसे दूर ले जाता हो उसका त्याग करो, किन्तु यह मत कहो कि यह अच्छा है और वह बुरा है अथवा अपने दृष्टिकोणको दूसरेपर थोपनेकी चेष्टा मत करो; क्योंकि जिस चीजको तुम बुरा ठहराते हो वही चीज तुम्हारे पड़ोसीके लिये, जो दिव्य जीवनको सिद्ध करनेका प्रयास नहीं कर रहा है, अच्छी हो सकती है।

वस्तुओंके बारेमें नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टिके भेदका एक उदाहरण ले लो। साधारण सामाजिक विश्वास मनुष्योंको उदार और लोभी, इन दो श्रेणियोंमें बांटता है। लोभी मनुष्यसे घृणा की जाती है, उसे दोष दिया जाता है, जब कि उदार मनुष्यको निःस्वार्थ और समाजके लिये उपयोगी समझा जाता है और इस गुणके लिये उसकी प्रशंसा की जाती है। परन्तु आध्यात्मिक दृष्टिके लिये दोनों एक ही भूमिकापर खड़े हैं; एककी उदारता और दूसरेका लोभ, दोनों ही किसी उच्चतर सत्यके, किसी महत्तर दैवी शक्तिके विकृत रूप हैं। एक ऐसी शक्ति है, ऐसी दैवी प्रवृत्ति है

जो प्रकृतिकी समस्त भूमिकाओंपर, अत्यन्त जड़प्राकृतिक भूमिकासे लेकर अत्यन्त आध्यात्मिक भूमिकातक शक्तियोंको और वस्तुओंको तथा जो कुछ भी उसके पास हो उसे फैलाती, बिखेरती और दोनों हाथोंसे बांटती रहती है। उदार मनुष्य और उसकी उदारताके पीछे एक ऐसी विशिष्ट नमूने-की आत्मा होती है जो इस दैवी प्रवृत्तिको अभिव्यक्त करती है, वह मनुष्य बिखेरने और दूर-दूरतक बांटनेकी एक शक्ति होता है। इसी तरह, एक दूसरी शक्ति होती है, एक और दैवी प्रवृत्ति होती है जो इकट्ठा करने और जमा करनेका काम करती है, वह शक्तियों और वस्तुओंको तथा अन्य जो कुछ भी स्वायत्त किया जा सकता है उस सबको, फिर चाहे वे निम्नतर भूमिकाओंके हों या उच्चतर भूमिकाओंके, एकत्र करती और जमा करती रहती हैं। जिसे तुम लोभी होनेका दोषी ठहराते हो उसे इस दैवी प्रवृत्तिका एक यंत्र होना था। दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं, समग्र योजनामें दोनोंकी ही आवश्यकता है। जो प्रवृत्ति एकत्र और जमा करती है उसकी आवश्यकता उस प्रवृत्तिसे जरा भी कम नहीं है जो फैलाती और बिखेरती रहती है। दोनों ही — यदि सचमुच भगवान्के अर्पण हो जायं — तो समान मात्रामें और समान मूल्यके साथ, भागवत कर्मके लिये यंत्र-रूपसे उपयोगमें लायी जायंगी। परन्तु जबतक उनका समर्पण नहीं होता तबतक दोनों ही समान रूपसे अज्ञानके आवेगोंद्वारा परिचालित होती रहती हैं। एक फेंकनेके लिये बाहरकी ओर ढकेली जाती है, दूसरी बचा रखनेके लिये अन्दरकी ओर खींची जाती है; परन्तु दोनोंका संचालन ऐसी शक्तियोंद्वारा होता है जो स्वयं अपनी चेतनाके लिये अन्धकारमय होती हैं, इन दोनोंमें चुनने लायक कुछ भी नहीं है। योगके उच्चतर दृष्टि-बिन्दुसे इस बहुत प्रशंसित उदार मनुष्यसे यह कहा जा सकता है : "तुम्हारे उदारताके आवेगोंका आत्माके हिसाबसे कुछ मूल्य नहीं है, क्योंकि ये अहंकार और अज्ञानमय कामनासे आते हैं।" और, दूसरी ओर, जिन्हें लोभी होनेका दोष लगाया जाता है उनमें कभी कोई ऐसा मनुष्य मिल सकता है जो प्रकृतिके सौंपे हुए इस काममें सर्वथा शान्त भावसे और एकाग्रताके साथ लगा हुआ, चीजोंको बटोरता और जमा करता रहता है, और ऐसा मनुष्य एक बार जागनेपर भगवान्का एक बहुत अच्छा यंत्र बन जायगा। परन्तु साधारणतया लोभी मनुष्य, अपने विपक्षीकी ही तरह, अहंकार और कामना-के वश कर्म करता है; यह उसी एक अज्ञानका दूसरा छोर है। दोनोंको अपने-आपको शुद्ध और परिवर्तित करना होगा, तब कहीं वे अपने पीछे रहनेवाली किसी उच्चतर वस्तुके संपर्कमें आ सकेंगे और उस वस्तुको उस रूपमें व्यक्त कर सकेंगे जिस रूपमें उनकी प्रकृति चाहती है।

इसी प्रकार तुम सब तरहके लोगोंको ले सकते हो और यह ढूंढ सकते हो कि भागवत शक्तिकी योजनामें उनका मूल आशय क्या है। हर एक भगवान्‌द्वारा अभिप्रेत नमूनेका क्षीण स्वरूप अथवा विकृत चित्र है, ज्यादा ऊंचे आध्यात्मिक मूल्यवाली चीजकी मानसिक या प्राणिक विकृति है। गलत गति ही यह विकृति या विद्रूप बनाती है। एक बार इस अशुद्ध आवेगको वशमें कर लिया जाय, उचित वृत्ति धारण की जाय, शुद्ध गतिको पा लिया जाय तो सभीका दिव्य मूल्य प्रकट हो जाता है। सभी अपने अन्दर रहनेवाले सत्यके कारण न्याय्य हैं, सभी समान रूपसे उपयोगी, समान रूपसे आवश्यक हैं और भिन्न होते हुए भी सभी भागवत अभिव्यक्तिके लिये अपरिहार्य यंत्र हैं।

प्रश्न और उत्तर

१९३०-३१

सामान्य जीवन और सच्ची अन्तरात्मा

सामान्य जीवन बहुत-सी इच्छाओं और लालसाओंका चक्कर है। जब तक आदमी इनमें फंसा रहे तबतक कोई स्थायी प्रगति नहीं हो सकती। इस चक्करमेंसे निकलनेका रास्ता खोजना चाहिये। उदाहरणके लिये, साधारण जीवनकी सबसे बड़ी तल्लीनताको लो — लोग सदा यही सोचते रहते हैं कि वे क्या खायेंगे और कब खायेंगे और वे काफी खा रहे हैं या नहीं। भोजनके लोभको जीतनेके लिये सत्तामें ऐसी समताका विकास होना चाहिये कि तुम भोजन की ओरसे बिलकुल उदासीन रह सको। अगर तुम्हें भोजन मिले तो तुम खा लो, न मिले तो तुम परेशान न हो, तुम उसके बारेमें जरा भी चिन्तित न हो और सबसे बड़ी बात यह है कि तुम हमेशा भोजनके बारेमें ही सोचते न रहो। और नकारात्मक सोचना भी न हो। संन्यासियोंकी तरह परहेजकी बातें सोचना, उसकी तरकीबें ढूंढते रहना भी उसी तरह भोजनमें फंसे रहना है जैसे लोभके साथ भोजनके सपने लेना। उसकी ओरसे उदासीनताकी वृत्ति रखो : यही मुख्य बात है। भोजनके विचारको अपनी चेतनासे निकाल दो, उसे जरा भी महत्त्व न दो।

तुम एक बार अपनी चैत्य सत्ता, अपनी गहराइयोंमें स्थित सच्ची अन्तरात्माके साथ संपर्क कर लो तो यह बहुत आसान होगा। तब तुम एकदम अनुभव करोगे कि ये चीजें कितनी महत्त्वहीन हैं, कि एकमात्र वस्तु जिसका महत्त्व है, वह है भगवान्। चैत्यमें रहनेका अर्थ है सब प्रकारके लोभ-लालसासे ऊपर उठ जाना। तुम्हारे अन्दर कोई ललक, कोई चिन्ता, कोई उत्तेजना-भरी लालसा न होगी और तुम यह अनुभव करोगे कि जो होता है अच्छे-से-अच्छेके लिये होता है। मुझे गलत मत समझो, इसका यह अर्थ न लगाओ कि तुम्हें यह मान लेना चाहिये कि हर चीज अच्छे-से-अच्छेके लिये ही है। जब तक तुम सामान्य चेतनामें हो तबतक हर चीज अच्छे-से-अच्छेके लिये नहीं होती। जब तुम चेतनाकी सच्ची अवस्थामें नहीं होते तब तुम्हें एकदम गलत रास्तोंपर भटकाया जा सकता है। लेकिन एक बार तुम चैत्यमें सन्तुलित हो जाओ और भगवान्के प्रति आत्म-समर्पण कर दो तो फिर जो कुछ होगा अच्छे-से-अच्छेके लिये होगा, तब हर चीज चाहे वह किसी भी रूपमें क्यों न हो निश्चित रूपसे भगवान्का उत्तर होगी।

वास्तवमें, सच्चे आत्म-समर्पणकी क्रिया अपने-आपमें अपना प्रत्यक्ष पुरस्कार है — वह अपने साथ ऐसा आनन्द, ऐसा विश्वास, ऐसा संरक्षण

लाता है जो और किसी चीजसे नहीं मिल सकता। लेकिन जबतक आत्मसमर्पण पूरी तरहसे चैत्य न हो तबतक गड़बड़ी होती रहेगी, प्रकाशमान क्षणोंके बीच अंधकारमय क्षण आते रहेंगे। केवल चैत्य ही सीधी प्रगति करता जाता है, उसकी गति लगातार चढ़ाईकी होती है। और सभी गतियां टूटी और अनिश्चित रहती हैं। और तुम तबतक सच्चे व्यक्ति भी नहीं बन सकते जबतक कि तुम चैत्यको ही अपना 'स्व' न अनुभव करो क्योंकि सचमुच वही तुम्हारे अन्दर सच्चा रूप है। 'जबतक तुम अपने सच्चे रूपको न जान लो तबतक तुम एक सत्ता नहीं, एक सार्वजनिक स्थान हो। तुम्हारे अन्दर बहुत सारी आपसमें टकराती हुई शक्तियां काम करती हैं। इसलिये, अगर तुम सच्ची प्रगति करना चाहो तो अपनी निजी सत्ताको जानो जिसका हमेशा भगवान्‌के साथ ऐक्य रहता है और तभी रूपान्तर संभव होगा। 'तुम्हारी प्रकृतिके बाकी सभी भाग अज्ञानी होते हैं : उदाहरणके लिये, मन हमेशा यह सोचनेकी भूल करता है कि हर प्रतिभाशाली विचार ज्योतिर्मय विचार है। वह एकसे उत्साहके साथ भगवान्‌के पक्ष और विपक्षमें युक्तियां दे सकता है : उसके अन्दर सत्यकी भ्रमातीत भावना नहीं होती। प्राण साधारणतः किसी भी शक्ति-प्रदर्शनसे प्रभावित हो जाता है और उसमें भगवान्‌के दर्शन करनेके लिये तैयार रहता है। केवल चैत्यमें ही सच्चा विवेक होता है। वह प्रत्यक्ष रूपसे परम सत्ताके बारेमें सचेतन होता है, वह बिना किसी भ्रमके भगवान् और उनसे इतरमें फर्क कर सकता है। अगर क्षण भरके लिये भी तुम्हारा उसके साथ संपर्क हो चुका है तो तुम्हें भगवान्‌के बारेमें ऐसा दृढ़ विश्वास होगा जिसे कोई नहीं हिला सकता।

तुम पूछोगे कि हम अपनी सच्ची सत्ताको कैसे जानें ? उसके लिये मांग करो, उसके लिये अभीप्सा करो। उसके लिये ऐसी चाह करो जैसी और किसी चीजके लिये न हो। यहां तुममेंसे अधिकतर लोग उससे प्रभावित हैं, लेकिन यह प्रभावसे कुछ अधिक होना चाहिये। तुम्हें उसके साथ एकताका अनुभव करना चाहिये। पूर्णताकी प्यास वहींसे आती है, लेकिन तुम उसके स्रोतसे अपरिचित हो, तुम उसे ज्ञानपूर्वक सहयोग नहीं दे रहे, तुम प्रकाशके साथ एक नहीं हो। यह न समझो कि जब मैं चैत्यकी बात करती हूं तो मेरा मतलब भावनामय भागसे है। भावना उच्चतर प्राणकी चीज है; चैत्यकी नहीं। चैत्य तुम्हारे अन्दर जलनेवाली निष्कम्प ज्वाला है जो हमेशा भगवान्‌की ओर उठती है, उसमें शक्तिका भाव होता है जो सारे विरोधको तोड़ देता है। जब तुम उसके साथ एक होते हो तो तुम्हें भागवत सत्यकी अनुभूति होती है — तब तुम यह अनुभव किये बिना

नहीं रह सकते कि सारी दुनिया अज्ञानमें सिरके बल चल रही है और उसके पैर हवामें हैं!

तुम जिसे अपना व्यक्तिगत अहं मानते हो उसे अपने चैत्य व्यक्तित्वके साथ एक करना सीखना होगा। तुम्हारा वर्तमान व्यक्तित्व बहुत ज्यादा मिश्रित है, परिवर्तनोंकी एक शृंखला है जिसमें बहावके होते हुए भी, एक निरन्तरता, एक अभिन्नता और स्पन्दनोंका तादात्म्य है। वह एक नदी जैसा है जो कभी वही-की-वही नहीं रहती, फिर भी उसमें एक निश्चितता और अपना स्थायित्व होता है। तुम्हारा सामान्य व्यक्तित्व तुम्हारे सच्चे व्यक्तित्वकी छायामात्र होता है। तुम उस सच्चे व्यक्तित्वका अनुभव तभी कर सकते हो जब तुम्हारा सामान्य व्यक्तित्व, जो अलग-अलग समय अलग-अलग स्थानोंमें मंडराता है— कभी मनमें तो कभी प्राणमें और कभी शरीर में —, चैत्य पुरुषके साथ सम्पर्कमें आ सके और अनुभव करे कि वही वास्तविक सत्ता है। तब तुम एक बन सकोगे, कोई चीज तुम्हें हिला न सकेगी, बाधा न दे सकेगी, तुम स्थिर और स्थायी प्रगति कर सकोगे और भोजनके लिये लोभ आदि छोटी-सी चीजोंसे ऊपर उठ जाओगे।

समर्पण, स्वार्पण और आत्म-निवेदन

अपने जीवनका उत्तरदायित्व भगवान्‌को सौंप देनेका निश्चय समर्पण है। इस निश्चयके बिना कुछ भी संभव नहीं है। अगर तुम समर्पण न करो तो योगका कोई प्रश्न ही नहीं उठता। बाकी सब चीजें स्वभावतः उसके बाद आती हैं; सारी प्रक्रिया समर्पणसे आरंभ होती है। तुम ज्ञानके द्वारा या भक्तिके द्वारा समर्पण कर सकते हो। तुम्हें प्रबल अन्तर्भास हो सकता है कि केवल भगवान् सत्य हैं और एक ज्योतिर्मय विश्वास हो सकता है कि भगवान्‌के बिना तुम्हारा काम नहीं चल सकता। या तुम्हारे अन्दर सहज यह भाव उठ सकता है कि सुखी होनेका यही एकमात्र मार्ग है, एक प्रबल चैत्य इच्छा हो सकती है कि तुम पूरी तरह भगवान्‌के हो जाओ, तुम कहो: "मैं स्वयं अपना मालिक नहीं हूं," और अपनी सत्ताकी पूरी जिम्मेदारी सत्यको सौंप दो। इसके बाद आता है आत्म-निवेदन : "यह रहा मैं, विविध गुणोंका, अच्छे-बुरे, अंधेरे-उजाले गुणोंवाला जन्तु। मैं अपने-आपको तुम्हारे हाथोंमें अर्पित करता हूं, जैसा हूं वैसा ही देता हूं, मेरे सब ऊंच-नीच, मेरे

अपने परस्पर-विरोधी आवेगों और वृत्तियोंके साथ मुझे स्वीकार कर लो — मेरे साथ जो चाहो करो।" अपनी आत्मार्पणकी प्रक्रियामें तुम अपनी सत्ताको उस चीजके चारों ओर एकत्रित करने लगते हो जिसने पहला निश्चय किया था और वह है केन्द्रीय चैत्य संकल्प। तुम्हारी प्रकृतिके सभी कर्कश तत्त्वोंमें समस्वरता लानेकी जरूरत है। उन्हें एक-एक करके केन्द्रीय सत्ताके साथ एक करनेकी जरूरत है। तुम एक सहज गतिके साथ अपने-आपको भगवान्‌के अर्पण कर सकते हो लेकिन इस एकीकरणके बिना अपने-आपको प्रभावशाली ढंगसे देना संभव नहीं है। तुम जितने अधिक एकीकृत होगे, उतना ही अधिक स्वार्पण करने योग्य होगे। और एक बार स्वार्पण पूरा हो जाय तो आत्म-निवेदनकी बारी आती है : यह उपलब्धिकी प्रक्रियाका मुकुट है, सोपानकी अंतिम सीढ़ी है। इसके बाद कोई कठिनाई नहीं आती, सब कुछ आसानीसे होता है, लेकिन यह न भूलो कि तुम एकदम आत्म-निवेदन नहीं कर सकते। दो-एक दिनके लिये किसी विशेष प्रकारकी प्रबल गति हो तो तुम्हें इस प्रकारका भ्रम हो जाता है। तुम्हें यह आशा हो जाती है कि उसके परिणामस्वरूप सब चीजें अपने-आप होती चलेंगी। लेकिन वास्तवमें, यदि तुम जरा भी आत्मसन्तुष्ट हो जाओ तो तुम अपने-आप अपनी प्रगतिको रोकोगे। क्योंकि तुम्हारी सत्ता आपसमें लड़ती-झगड़ती, युद्ध करती प्रवृत्तियोंसे भरी है जिन्हें हम विभिन्न व्यक्तित्व कह सकते हैं। जब उनमेंसे एक अपने-आपको भगवान्‌को देता है तो दूसरे उठकर भक्ति या निष्ठा अर्पित करनेसे इनकार करते हैं। वे कहते हैं : "हमने अपने-आपको नहीं दिया," और वे अपनी स्वाधीनता और अपनी अभिव्यक्तिके लिये चिल्ल-पों मचाने लगते हैं। तब तुम उन्हें चुप रहनेकी आज्ञा दो और सत्य दिखा दो। तुम्हें बड़े धीरजके साथ अपनी सारी सत्ताका चक्कर लगाना पड़ेगा, हर स्थानकी, हर कोनेकी तलाशी लेनी होगी, उन सभी अराजक तत्त्वोंका सामना करना होगा जो तुम्हारे अन्दर उभरनेके लिये मनोवैज्ञानिक क्षणकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। और तुम अपनी सभी कठिनाइयोंका अन्त तभी ला सकोगे जब तुम अपनी मानसिक, प्राणिक और शारीरिक प्रकृतिका पूरा चक्कर लगा चुकोगे, हर चीजको अपने-आपको भगवान्‌के सुपुर्द करनेके लिये मना लोगे और इस तरह संपूर्ण एकीकृत आत्म-निवेदनकी स्थिति प्राप्त कर लोगे। तब वास्तवमें रूपान्तरकी ओर तुम्हारी भव्य यात्रा होगी, क्योंकि तब तुम अंधकारसे ज्ञानकी ओर नहीं, ज्ञानसे ज्ञानकी ओर, प्रकाशसे प्रकाशकी ओर, आनन्दसे आनन्दकी ओर चलोगे . . .। संपूर्ण आत्म-निवेदन आसान चीज नहीं है और यदि तुम्हें अपने ही भरोसे, अपने स्वतंत्र प्रयासके द्वारा करना हो तो शायद इसमें बहुत

ही अधिक समय लग जाय। लेकिन जब भागवत कृपा तुम्हारे साथ हो तो ठीक ऐसा नहीं होता। जब-तब भगवान्‌की ओरसे ठीक दिशामें जरा-सा धक्का मिल जाय तो काम अपेक्षया सरल हो जाता है। समय हर व्यक्तिके ऊपर आश्रित है, लेकिन अगर तुम सचमुच दृढ़ संकल्प ले लो तो यह बहुत कम हो सकता है। दृढ़ निश्चय ही वह चीज है जिसकी जरूरत है — दृढ़ निश्चय ही इसकी चाबी है।

त्याग

शास्त्रोंमें त्यागके बारेमें बहुत कुछ कहा गया है — तुम्हें संपत्तिको त्यागना चाहिये, आसक्तियोंको त्यागना चाहिये, इच्छाओंको त्यागना चाहिये। लेकिन मैं इस परिणामपर आयी हूं कि जबतक तुम्हें कोई चीज त्यागनी पड़े तबतक तुम इस मार्गपर नहीं हो, क्योंकि जबतक तुम चीजोंकी वर्तमान स्थितिसे पूरी तरह उकता नहीं गये हो और तुम्हें उन्हें त्यागनेके लिये कोशिश करनी पड़ती है तबतक तुम अतिमानसिक योगके लिये तैयार नहीं हो। अगर तुम्हें 'अधिमानस'की रचनाएं — उसकी बनायी हुई यह दुनिया और इसकी वर्तमान व्यवस्था जिसे वह अब भी सहारा दे रहा है — अब भी संतुष्ट करती हैं तो तुम अतिमानसिक उपलब्धिमें भाग लेनेकी आशा नहीं कर सकते। सिर्फ तभी जब तुम्हें ऐसी दुनियासे विरक्ति हो जाय, तुम्हें वह असह्य और स्वीकार करनेके अयोग्य लगे तभी तुम चेतनाके रूपांतरके लिये योग्य बनते हो। इसलिये मैं त्यागके विचारको कोई महत्त्व नहीं देती। त्यागका मतलब है ऐसी चीजको छोड़ना जिसका तुम्हारी दृष्टिमें मूल्य है, जिसे तुम रखने लायक समझते हो उसे अलग कर देना। इसके विपरीत, तुम्हें यह लगना चाहिये कि यह दुनिया भद्दी, मूर्खताभरी, क्रूर और असह्य कष्टोंसे भरी है। एक बार तुम ऐसा अनुभव करो तो तुम्हारी सारी भौतिक चेतना, सारी शारीरिक चेतना, जो इस स्थितिको ऐसा नहीं रखना चाहती, इसे बदलना चाहेगी। वह चिल्ला उठेगी, "मैं कुछ और पाना चाहूंगी, कुछ ऐसी चीज जो सत्य, सुन्दर, आनन्द, ज्ञान और चेतनासे भरी हो!" यहां सब कुछ एक अंधेरी निश्चेतनाके सागर-पर तैर रहा है। लेकिन जब तुम अपनी पूरी इच्छाशक्तिसे, अपने पूरे निश्चयसे, अपनी पूरी अभीप्सा और तीव्रतासे केवल भगवान्‌को चाहोगे तो

वे आयेंगे। लेकिन यह केवल दुनियाको सुधारनेकी बात नहीं है। ऐसे लोग हैं जो शासनमें परिवर्तन, सामाजिक सुधार और परोपकारके कामोंके लिये शोर मचाते हैं। वे समझते हैं कि इससे दुनियाको ज्यादा अच्छा बना सकेंगे। हम एक नया जगत् चाहते हैं, एक सच्चा जगत् जो 'सत्य-चेतना'की अभिव्यक्ति हो। और यह होगा, यह होना चाहिये, और जितनी जल्दी हो उतना अच्छा!

लेकिन यह केवल आत्मपरक परिवर्तन नहीं होना चाहिये। सारे भौतिक जीवनका रूपांतर होना चाहिये। जड़ जगत् केवल हमारे अंदर चेतनाका रूपांतर नहीं चाहता। वास्तवमें वह कहता है: "तुम आनन्दमें चले जाते हो, ज्योतिर्मय बन जाते हो, तुम्हें दिव्यज्ञान प्राप्त होता है; लेकिन इससे मैं नहीं बदलता। मैं व्यावहारिक रूपमें नरक हूं और वही बना रहता हूं!" चेतनाका सच्चा रूपांतर वह होगा जो दुनियाकी अवस्थाको बदल देगा और उसे बिलकुल नयी सृष्टि बना देगा।

भौतिकम भागवत प्रेमके लिये अभीप्सा

यह एक फूल है जिसे हम "भौतिकमें भागवत प्रेमके लिये अभीप्सा" कहते हैं। यहां "भौतिक"से मेरा मतलब है भौतिक चेतना, बिलकुल साधारण बाहरी चेतना, अधिकतर मनुष्योंकी साधारण चेतना जो ज्यादा ऊंची चीजों-के लिये अभीप्सा करनेकी जगह आराम, अच्छा भोजन, अच्छे कपड़े, सुखद संबंध आदिको ज्यादा महत्त्व देती है। भौतिकमें भागवत प्रेमके लिये अभीप्सामें यह बात ध्वनित होती है कि भौतिक सिर्फ यही अनुभव करना चाहता है कि भगवान् उससे कैसे प्रेम करते हैं, इसके अतिरिक्त वह कुछ नहीं मांगता। वह भली-भांति अनुभव करता है कि उसकी सब सामान्य संतुष्टियां एकदम अपर्याप्त हैं। लेकिन इसमें समझौता नहीं हो सकता: यदि भौतिक भागवत प्रेम चाहता है तो उसे बस वही चाहना चाहिये, वह यूं नहीं कह सकता: "मैं भागवत प्रेम भी लूंगा और साथ ही अन्य आसक्तियों, आवश्यकताओं और उपभोगोंको भी बनाये रखूंगा...।"

चैत्य-केन्द्र अभीप्साका मौलिक निवासस्थान है जहांसे वह सत्ताके विभिन्न भागोंमें प्रकट होती है। जब मैं भौतिकमें अभीप्साकी बात कहती हूं तो इसका मतलब यह होता है तुम्हारी वही चेतना जो भौतिक सुख-चैनके

लिये लालायित रहती है, वही तुम्हारी चेतनाके उच्चतर भागोंके दबावके बिना ऐकान्तिक रूपसे भागवत प्रेमकी मांग करे। साधारणतः तुम्हें अपने उच्चतर भागोंके द्वारा उसे दिव्य प्रकाश दिखानेकी जरूरत होती है; निश्चय ही यह निरन्तर करना जरूरी है वरना भौतिक कभी न सीखेगा और अपने-आप सीखनेसे पहले प्रकृतिके युगोंके कई चक्र बीत जायेंगे। वास्तवमें, प्रकृतिके युग-चक्रोंका मतलब यही है कि उसे सब प्रकारकी तृप्तियां दी जायं और उन्हें निःशेष करके उसे यह विश्वास दिलाया जाय कि उनमेंसे किसीसे उसे सन्तोष नहीं हो सकता, कि वह अन्दरसे सचमुच जिस चीजकी खोज कर रहा है वह भागवत सन्तोष है। योगमें हम प्रकृतिकी इस धीमी प्रक्रियाको तेज कर देते हैं और इस बातपर आग्रह करते हैं कि भौतिक चेतना सत्यको देखे, उसे पहचानना और उसीको चाहना सीखे। लेकिन उसे सत्यका दर्शन कैसे कराया जाय ? बस, वैसे ही जैसे तुम अंधेरे कमरेमें रोशनी लाते हो। अपनी भौतिक चेतनामें अपने अधिक परिष्कृत भागोंके अन्तर्भास और अभीप्साके द्वारा प्रकाश करो और तबतक करते रहो जबतक उसे यह प्रतीति न हो जाय कि सामान्य निचली चीजोंकी भूख कितनी व्यर्थ और असंतोषजनक है, और वह सहज रूपसे सत्यकी ओर न मुड़ चले। और जब वह सत्यकी ओर मुड़ जायगी तो तुम्हारा सारा जीवन ही बदल जायगा — इस अनुभूतिमें कोई भूल नहीं हो सकती।

जब बचपनमें मैं अपनी मांसे भोजन या किसी ऐसी छोटी-सी बातके विषयमें शिकायत करती तो वे मुझे सदा यही कहतीं कि जाओ, इन तुच्छ विषयोंकी चिंता न करके अपना काम करो या पढ़ो-लिखो। वे मुझसे कहतीं कि क्या तुमने अपने विषयमें यह सुखद भावना बना रखी है कि तुम आरामके लिये पैदा हुई हो। वे कहतीं : "तुम उच्च आदर्शको चरितार्थ करनेके लिये जन्मी हो," और इतना कहकर मुझे चलता करतीं। वे बिलकुल ठीक कहती थीं, यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि सर्वोच्च आदर्शके विषयमें उनका विचार हमारे मानदण्डोंसे कहीं छोटा था। हम सभी सर्वोच्च 'आदर्श'के लिये उत्पन्न हुए थे : अतएव, जब कभी हमारे आश्रममें अधिक आराम और भौतिक सुखकी कोई तुच्छ मांग पूरी नहीं की जाती तो यह तुम्हारी भलाईके लिये और जिस उद्देश्यके लिये तुम यहां आये हो उसकी पूर्तिके लिये ही होता है। मांकी अस्वीकृति वस्तुतः उतने अंशमें कृपा ही होती है जहांतक कि तुम इसके द्वारा उस सर्वोच्च 'आदर्श'के योग्य और उसके अनुसार गढ़े जानेके अधिकारी समझे जाते हो।

पौधोंमें अभीप्सा

क्या तुमने कभी किसी वनको असंख्य पेड़-पौधों सहित प्रकाशके लिये ऐकांतिक रूपसे संघर्ष करते नहीं देखा है — धूप प्राप्त करनेके लिये उन्हें मुड़ते-तुड़ते और अन्य सब संभव तरीकोंसे यत्न करते नहीं देखा है ? भौतिक स्तरपर अभीप्साका अनुभव ठीक यही है — प्रकाशकी प्राप्तिके लिये संवेग, गति एवं प्रेरणा। मनुष्योंकी अपेक्षा पौधोंकी भौतिक सत्तामें यह अधिक मात्रामें होती है। उनका संपूर्ण जीवन प्रकाशकी पूजा है। निःसंदेह प्रकाश भगवान्‌का स्थूल प्रतीक है और सूर्य, जड़प्राकृतिक अवस्थाओंमें, 'परम चेतना'-का प्रतिनिधि है। पौधोंने इसे अपने सरल अंध ढंगसे सर्वथा स्पष्ट रूपमें अनुभव किया है। यदि तुम उनकी अभीप्सासे सचेतन होना जान लो तो तुम्हें पता चलेगा कि उनकी अभीप्सा अत्युत्कट है। 'जड़-प्रकृति'के स्तरपर वे मेरे प्रभावके प्रति सबसे अधिक खुले हुए हैं — मनुष्यकी अपेक्षा एक फूलमें मैं चेतनाकी किसी अवस्थाको अधिक सुगमतासे संचारित कर सकती हूं: वह अत्यंत ग्रहणशील है, चाहे अपने अनुभवको अपने प्रति रूपायित करना वह नहीं जानता क्योंकि उसमें मन नहीं है। परंतु शुद्ध आंतरात्मिक चेतना प्राप्त करना उसके लिये सहज-स्वाभाविक है। अतएव, जब तुम मुझे फूल देते हो, उसकी अवस्था प्रायः सदैव तुम्हारी अवस्थाकी सूचक होती है। ऐसे कई लोग हैं जो मेरे पास ताजा फूल कभी नहीं ला पाते — फूल चाहे ताजा हो तो भी उनके हाथोंमें वह कुम्हला जाता है। परंतु और कई लोग सदा ताजे फूल ही लाते हैं और मुरझाते फूलोंमें भी आन डाल देते हैं। यदि तुम्हारी अभीप्सा तीव्र है, तुम्हारे पुष्प-उपहार ताजे होंगे। और यदि तुम ग्रहणशील हो तो तुम उस संदेश-को बड़ी आसानीसे आत्मसात् भी कर सकोगे जो मैं अपने दिये हुए फूलों-में निहित कर देती हूं। जब मैं फूल देती हूं, मैं तुम्हें चेतनाकी अवस्थाएं देती हूं; फूल माध्यम हैं और वे प्रभाव उत्पन्न करते हैं या नहीं, यह केवल तुम्हारी ग्रहणशीलतापर निर्भर है।

भागवत चेतना और इच्छाके साथ ऐक्य

जो शक्ति अज्ञानमें समाकर प्राणिक इच्छाओंका रूप लेती है वह वही है जो अपने शुद्ध रूपमें रूपांतरकी ओर बढ़ने और गति करनेकी प्रेरणा और ऊर्जा देती है। इसलिये तुम्हें इच्छाओं और कामनाओंमें खुल खेलनेसे सावधान रहना चाहिये, एक ओर, यह सोचकर कि उन्हें संतुष्ट करना जरूरी है, इच्छाओं और वासनाओंसे खुल खेलनेमें सावधान रहना चाहिये और दूसरी ओर प्राणिक शक्तिको सुनिश्चित, अशुभ शक्ति मानकर उसे त्यागनेसे भी बचना चाहिये। तुम्हें करना यह चाहिये कि अपनी सत्ताके द्वार भगवान्‌की ओर पूरी तरह खोल दो। जिस क्षण तुम कुछ छिपाते हो उसी क्षण सीधे 'मिथ्यात्व'में जा गिरते हो। तुम्हारी ओरसे जरा-सा छिपाव भी तुम्हें सीधा निश्चेतनामें घसीट लेता है। अगर तुम पूरी तरह सचेतन होना चाहते हो तो हमेशा 'सत्य'के सामने रहो — अपने-आपको पूरी तरह खोल दो और भरसक कोशिश करो कि वह तुम्हारे अंदर गहराईमें सत्ताके एक-एक कोनेको देख सके। इसीसे तुम्हारे अंदर प्रकाश आयेगा और वह सब आयेगा जो सत्य है। पूरी तरह विनयशील बनो — अर्थात्, तुम जो हो और तुम्हें जो होना चाहिये उन दोनोंके बीचकी दूरीको जानो। अपने अनगढ़ भौतिक मनको यह न सोचने दो कि वह जानता है जब कि वह नहीं जानता, कि वह मूल्यांकन कर सकता है जब कि कर नहीं सकता। विनयमें यह बात भी आ जाती है कि तुम अपने-आपको पूरी तरह भगवान्‌को सौंप दो। उनसे सहायता मांगकर और अपने-आपको समर्पित करके स्वतंत्रता और उत्तरदायित्वका अभाव प्राप्त कर लो। इससे मनको पूरी शांति मिलती है। किसी और तरीकेसे तुम भागवत चेतना और भागवत संकल्पके साथ ऐक्य पानेकी आशा नहीं कर सकते। तुम्हारा ऐक्य पहले भागवत चेतनाके साथ होता है या भागवत संकल्पके साथ, यह इसपर निर्भर है कि तुम उनकी ओर किस मार्गसे जाते हो। यदि तुम अपनी गहराईमें जाओ तो पहले चेतनासे ऐक्य प्राप्त होगा जब कि वैश्व गतिविधिकी दृष्टिको अपनाकर चलनेवालेका संकल्पसे ऐक्य होगा; लेकिन इसके लिये पक्के सामान्य नियम बनाना संभव नहीं है, क्योंकि साधना लचीली और द्रव वस्तु है और भागवत चेतना और भागवत संकल्पमें बहुत ही निकटस्थ संबंध है — दोनों एक ही सत्ताके दो पहलू हैं। लेकिन इस बातका ख्याल रखो कि तुम्हारे विचारों या क्रियाओंकी बाहरी समानतासे ही यह प्रमाणित नहीं हो जाता कि तुम्हें ऐक्य प्राप्त हो गया है। इस प्रकारके सभी प्रमाण ऊपरी

होते हैं, क्योंकि वास्तविक ऐक्यका अर्थ है पूरा-पूरा परिवर्तन, तुम्हारी सामान्य चेतनाका पूरा-पूरा उलटाव। यह ऐक्य तुम्हारे मनमें या तुम्हारी साधारण अभिज्ञतामें नहीं साधित हो सकता। तुम्हें इससे पूरी तरह बाहर निकल जाना चाहिये, तभी तुम भागवत चेतनाके साथ ऐक्य साध सकते हो। एक बार ऐक्य साधित हो जाय तो तुम्हें मेरे साथ विचारों या क्रियाओंकी समानताके आधारपर ऐक्य सिद्ध करनेके प्रयास हास्यास्पद लगेंगे। बरसों एक ही मकानमें रहनेवाले या प्रतिदिन गहरे संपर्कमें आनेवाले लोगोंमें एक प्रकारका समान मानस बन जाता है—वे एक ही प्रकारसे सोचने और काम करने लगते हैं। लेकिन तुम इस तरहके मानसिक संपर्क-भावसे भगवान् जैसे होनेका दावा नहीं कर सकते; तुम्हें अपनी चेतनाके पूरी तरह उलटे जानेके लिये राजी होना चाहिये! इस ऐक्यका विशुद्ध लक्षण यह है कि तुम्हारी चेतनामें भी वही गुण हो, उसके कार्य करनेका भी वही तरीका हो जो भगवान्‌का है और वह भी 'ज्ञान'के उसी अतिमानसिक स्रोतसे प्रवाहित होता हो। हो सकता है कि तुम भी कभी-कभी बाहरी क्षेत्रमें उसी तरह कार्य करते हो जैसे भगवान् करते प्रतीत होते हैं, पर यह संयोगसे बढ़कर कुछ नहीं है। इस प्रकारकी तुलनाओंसे ऐक्य प्रदर्शित करना, एक जरा-सी बातसे एक बहुत बड़ी बात सिद्ध करनेकी कोशिश करना है! सच्ची कसौटी है, तुम जो भी करो उसमें भागवत चेतनाकी प्रत्यक्ष अनुभूति। यह एक सुस्पष्ट कसौटी है, क्योंकि यह तुम्हारी सत्ताको पूरी तरह बदल देती है। यह तो स्पष्ट है कि तुम एकदम भागवत चेतनामें प्रतिष्ठित नहीं किये जा सकते। लेकिन वह तुम्हारे अंदर प्रतिष्ठित हो उससे पहले भी तुम्हें कभी-कदास उसका अनुभव हो सकता है। भागवत चेतना आती-जाती रहेगी, लेकिन जितनी देर वह ऐक्य रहे उतनी देर तुम मानों कोई और ही व्यक्ति होओगे! सारा जगत् एक नये रूपमें होगा। तुम अपने-आप और वस्तुओंके बारेमें तुम्हारी दृष्टि और तुम्हारा बोध, सभी कुछ बदला हुआ होगा। जबतक तुम्हें अनुभव न हो तभीतक तुम प्रमाण चाहते हो : प्रमाण और परिणाम गौण हैं—ऐक्यका मौलिक रूपसे मतलब है कि तुम अपनी चेतनामें मनुष्यसे अधिक जानते हो। यह बड़ी अच्छी बात है यदि तुम शुद्ध, शांत और ग्रहणशील मनके कारण मेरे इरादेके अनुसार सोचना या कार्य करना शुरू कर दो। लेकिन तुम्हें पथपर रखे गये एक पगको ही लक्ष्य मान लेनेकी भूल न करनी चाहिये क्योंकि सुनिश्चित ऐक्य और मानसिक ग्रहणशीलतामें मुख्य भेद यह है कि मैं तुमसे जो करवाना चाहती हूं उसे मुझे सूत्रबद्ध करना पड़ता है और फिर उस सूत्रको तुम्हारे शुद्ध और शांत मनमें रखना होता है जब कि वास्तविक ऐक्यकी

स्थितिमें मुझे सूत्रबद्ध करनेकी जरूरत ही नहीं होती। मैं तुम्हारे अंदर आवश्यक सत्य-चेतना रख दूं तो बाकी सब अपने-आप हो जायगा, क्योंकि उस स्थितिमें मैं अपने-आप ही तुम्हारे अंदर होऊंगी . . .। मैं कह सकती हूं कि तुम्हारे लिये इस सबकी कल्पना करना भी मुश्किल है क्योंकि इस अनुभूति-का वर्णन करना लगभग असंभव है। फिर भी, इच्छाशक्तिके भागवत इच्छाशक्तिके साथ ऐक्यकी कल्पना करना कम कठिन है, क्योंकि तुम एक ऐसी 'इच्छाशक्ति'की कल्पना कर सकते हो जो संघर्ष किये बिना विजय प्राप्त करती हुई सब जगह अभिव्यक्त हो और अगर तुम्हारी पूरी इच्छा-शक्ति उसके साथ एक होना चाहे तो लगभग ऐक्यके जैसी कुछ चीज आ सकती है। यानी, तुम अपनी पृथक् अहंकारमय इच्छाशक्तिको खोने लगते हो और तुम्हारी सत्ता स्वाभाविक रूपमें भागवत आदेशका पालन करनेके लिये तरसती है और परम संकल्पको जाने बिना ही ठीक वही चीज चाहती है जो भगवान् चाहते हैं। लेकिन इसका अर्थ है बिना ननुनचके 'उच्चतर पथ-प्रदर्शन'को स्वीकार करना। जो शक्ति तुम्हारे अंदर विकृत होकर प्राणिक इच्छा बन जाती है, परंतु जो वास्तवमें उपलब्धिकी ओर प्रेरणा है, उसे भागवत संकल्पके साथ एक हो जाना चाहिये ताकि तुम्हारी सारी-की-सारी इच्छाशक्ति उसके साथ ऐसे मिल जाय जैसे पानीकी एक बूंद समुद्रके साथ मिलती है। तब उसकी अपनी दुर्बलताएं और असफलताएं बाकी न रहेंगी, हमेशा भागवत संकल्पका चरम गुण काम करेगा — वह है 'सर्व-शक्तिमत्ता'!

सहनशीलता — प्रशंसाके लिये प्राणकी भूख — परिवर्तित प्राणके चिह्न

सहनशीलता तुम्हारा आदर्श वाक्य हो: अपनी जीवनी शक्तिको — अपनी प्राण-सत्ताको — यह सिखाओ कि शिकायतें किये बिना महान् उपलब्धिके लिये आवश्यक सब प्रकारकी स्थितियोंको सह ले। शरीर बहुत सहनशील दास है। वह लद्दू जानवरकी तरह चुपचाप परिस्थितियोंके भारको ढोता रहता है। प्राण-सत्ता ही हमेशा बेचैन रहती और बुड़बुड़ाती है। वह शरीरको बेहिसाब यातनाओं और दासतामें जकड़ती है। वह बेचारे शरीरको अपनी झक और तरंगके अनुसार कितना तोड़ती-मरोड़ती है और बड़े असंगत ढंगसे

यह मांग करती है कि हर चीजको उसकी सनकके अनुसार रूप दिया जाय ! परंतु सहनशीलताका सारतत्त्व यह है कि प्राण अपनी मनमानी पसंद, ना-पसंदको छोड़कर, अत्यंत कष्टकर स्थितियोंके बीच भी धीरज और समबुद्धि बनाये रख सके। यदि कोई तुम्हारे साथ बुरी तरह व्यवहार करे या तुम असुविधासे बचानेवाली किसी चीजसे वंचित रहो तो अपने-आपको घबराने न दो, हंसी-खुशीसे सह लो। कोई भी चीज तुम्हें जरा भी परेशान न करने पाये और जब कभी प्राण आडंबरपूर्ण अतिशयोक्तियोंके साथ अपनी छोटी-मोटी शिकायतोंका दफ्तर खोले तो जरा रुक जाओ और यह सोचो कि दुनियाके बहुत सारे लोगोंकी तुलनामें तुम कितने अधिक सुखी हो। क्षण-भरके लिये सोचो, पिछले युद्धमें जिन सैनिकोंने भाग लिया था उनपर क्या बीती थी। अगर तुम्हें इस प्रकारकी कठिनाइयां सहनी पड़तीं तो तुम्हें पता चलता कि तुम्हारा असंतोष कितना मूर्खतापूर्ण है। फिर भी मैं यह नहीं चाहती कि तुम्हें कठिनाइयोंका सामना करना पड़े — मैं सिर्फ इतना ही चाहती हूं कि तुम अपने जीवनकी जरा-सी नगण्य कठिनाइयोंको सहना सीखो।

सहनशीलताके बिना कभी कोई बड़ा काम पूरा नहीं किया जा सकता। अगर तुम महापुरुषोंके जीवन पढ़ो तो तुम्हें पता चलेगा कि उन्होंने अपने-आपको प्राणकी दुर्बलताओंके आगे कैसे चट्टानकी तरह निर्मम और कठोर बनाकर रखा था। आज भी, हमारी सभ्यताका असली अर्थ है प्राणके अंदर सहनशीलताके द्वारा भौतिकपर प्रभुत्व पाना। खेल-कूद भावना, साहस-कार्य और सब प्रकारकी कठिनाइयोंका बेधड़क सामना — इसी सहनशीलता-के आदर्शके भाग हैं। स्वयं भौतिक विज्ञानमें, प्रगति सफलतासे पहले आने-वाली अनेक कठिनाइयों, परीक्षाओं और संकटोंपर निर्भर है। निश्चय ही हमने आश्रममें जिस महत्त्वपूर्ण कामको हाथमें लिया है, उसमें सहनशीलता-की कम आवश्यकता नहीं है। तुम्हें करना यह चाहिये — जैसे ही तुम्हारा प्राण विरोध या प्रतिवाद करे उसे अच्छी तरहसे मार लगाओ; जहांतक भौतिकका संबंध है, सावधान रहनेकी और कुछ लिहाज करनेकी जरूरत है, लेकिन प्राणके साथ तो एक ही उपाय है, अच्छी तरहसे लात जमाओ। प्राण जैसे ही शिकायत करना शुरू करे कि उसे लात लगाओ, क्योंकि उस तुच्छ चेतनामेंसे निकलनेका और कोई उपाय नहीं है जो 'सत्य' और 'प्रकाश'की मांग करनेकी जगह, सुख-साधनों और सामाजिक सुविधाओं-को ही महत्त्व देती रहती है।

प्राणकी सर्व-सामान्य मांगोंमेंसे एक है प्रशंसाकी मांग। वह आलोचनासे घृणा करता है और ऐसा व्यवहार नहीं चाहता जिससे यह लगे कि उसका

महत्त्व कम है। लेकिन उसे हमेशा झिड़की और निन्दाके लिये तैयार रहना चाहिये और उन्हें पूरी शान्तिके साथ सह सकना चाहिये। उसे प्रशंसाकी ओर ध्यान न देना चाहिये; यह न भूलना चाहिये कि आत्मतुष्टिकी हर गति मिथ्यात्वके स्वामियोंकी वेदीपर एक भेंट होती है। प्राण-शक्तिके सूक्ष्म जगत्‌की सत्ताएं, जिनके साथ हमारे प्राणका सम्बन्ध होता है, अपने भक्तोंकी पूजापर ही जीती और पनपती हैं। इसीलिये वे हमेशा नये-नये मत-मतान्तरों और धर्मोंकी प्रेरणा देती रहती हैं ताकि उनकी पूजा और ठकुर सुहातीका भोज कभी समाप्त न होने पाये। इसी तरह तुम्हारी अपनी प्राणमय सत्ता और उसके पीछेकी प्राणिक शक्तियां दूसरोंकी दी हुई खुशामदको हजम करके पनपती हैं, अपने अज्ञानको हृष्ट-पुष्ट करती हैं। लेकिन तुम्हें याद रखना चाहिये तुम्हारी तरह ही अज्ञानके उसी स्तरपर रहनेवालोंकी प्रशंसाका वास्तवमें कोई मूल्य नहीं है, वे उनकी आलोचनाओं-की तरह ही व्यर्थ हैं। चाहे वे किसी भी स्रोतसे क्यों न आती हों, वे बेकार और खोखली होती हैं। दुर्भाग्यवश, प्राण एकदम गले-सड़े भोजनके लिये भी लालायित रहता है और इतना लोभी होता है कि वह एकदम अक्षमताकी मूर्तिसे भी प्रशंसा स्वीकार कर लेता है। यहां मुझे पैरिसकी कला-प्रदर्शनी-के वार्षिक उद्‌घाटनका ख्याल आ रहा है जहां गणतंत्रके राष्ट्रपति चित्रों-को देखते हैं और बड़े अर्थपूर्ण ढंगसे यह खोज करते हैं कि एक भूदृश्य है और दूसरा रूप-चित्र और चित्रकलाके बहुत ही अन्तरंग आत्मबोध वाले ज्ञानकी अदाके साथ टिप्पणियां करते हैं। चित्रकार भली-भांति जानते हैं कि ये टीका-टिप्पणियां कितनी असंगत हैं फिर भी अपनी प्रतिभाके प्रमाण-स्वरूप राष्ट्रपतिके कथनको उद्धृत करनेका कोई मौका नहीं चूकते। मानव जातिका प्राण कीर्ति और ख्यातिके लिये बहुत भूखा होता है।

लेकिन जिस चीजका सचमुच मूल्य है वह है सत्यकी राय। जब कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसका भागवत सत्यके साथ सम्बन्ध हो और जो उसे अभिव्यक्त भी कर सके तब उसकी दी हुई राय कोरी प्रशंसा या आलोचना नहीं होती। उससे प्रकट होता है कि भगवान् तुम्हारे बारेमें क्या सोचते हैं, तुम्हारे गुणोंका क्या मूल्य आंकते हैं, वह तुम्हारे प्रयासोंपर उनकी अचूक मुहर होती है। तुम्हारी यही इच्छा होनी चाहिये कि 'सत्य'की उक्तिके सिवाय किसीका मान न करो; और इस तरह अपना मानदण्ड ऊंचा करने-के लिये तुम्हें हमेशा अपने अन्दर अग्निको, अन्तरात्माकी रूपान्तरकी ज्वालाको प्रज्ज्वलित रखना चाहिये। यह ध्यान देने योग्य बात है कि जब यह अग्नि भड़क उठती है तो तुम्हारे अन्दर उस सस्ती प्रशंसाके लिये घृणा-सी पैदा हो जाती है जो पहले बहुत सन्तोषप्रद मालूम होती थी

और तुम यह समझ जाते हो कि प्रशंसाके लिये हवस अरूपान्तरित प्रकृति-की एक निम्नगति थी। तुम्हारे अन्दर वर्तमान अपर्याप्तताका तीव्र भान भरकर अग्नि तुम्हें यह दिखाती है कि तुम्हारे आगे विकासका कितना बड़ा क्षेत्र पड़ा है। तुम्हें अपने गुणगानके प्रति इतनी अरुचि हो जाती है कि जो तुम्हें पहले अपने हितैषी लगते थे उनके प्रति तुम्हारे अन्दर कटुता आ जाती है और सभी आलोचना और निन्दा 'सत्य'के प्रति अभीप्सामें सुखद सहायताका रूप ले लेती है। तुम दूसरोंके विरोधके कारण अपमानित या खिन्न नहीं होते। क्योंकि तुम, कम-से-कम, आसानीके साथ उसकी उपेक्षा कर सकते हो और अधिक-से-अधिक तुम उसे अपनी वर्तमान पुनरुद्धार-वंचित अवस्थाका एक और प्रमाण मानते हो जो तुम्हें अपने-आपसे ऊपर उठकर भगवान्‌के प्रति समर्पण करनेके लिये उत्तेजित करती है।

अग्निके प्रभावसे तुम्हारे प्राणके परिवर्तनका एक विशेष लक्षण यह है कि हंसते-हंसते कठिनाइयों और बाधाओंका सामना कर सकते हो। तुम अपनी भूलोंके लिये टाट ओढ़कर, भभूत लगाकर रोने-धोने नहीं बैठ जाते, या इसी क्षण उच्च स्तरतक न पहुंच पानेके कारण एकदम हतोत्साह नहीं हो जाते। तुम खिन्नताको एक मुस्कानसे ही भगा देते हो। तुम्हारे लिये सौ भूलोंका भी बहुत महत्त्व नहीं होता : एक मुस्कानके साथ तुम पहचान लेते हो कि तुमने भूल की है और मुस्कानके साथ ही यह निश्चय कर लेते हो कि भविष्यमें यह मूर्खता फिरसे न दोहरायी जायेगी। सभी खिन्नता और विषादको विरोधी शक्तियां ही पैदा करती हैं, उन्हें तुम्हारे ऊपर उदासी फेंककर जितनी खुशी होती है उतनी और किसी चीजसे नहीं होती। नम्रता एक चीज है और खिन्नता एक दूसरी ही चीज। नम्रता एक दिव्य गति है और खिन्नता अंधकारमय शक्तियोंकी भौंड़ी अभिव्यक्ति है। इस-लिये अपनी कठिनाइयोंका प्रसन्नताके साथ सामना करो, निरन्तर प्रसन्नताके साथ रूपान्तरके मार्गमें आनेवाली बाधाओंका मुकाबिला करो। दुश्मनको खदेड़नेका सबसे अच्छा तरीका है उसके मुंहपर हंसना ! तुम उसके साथ कई-कई दिनोंतक भिड़ते और टकराते रहो और उसकी शक्ति जरा भी कम होती हुई न दीखेगी; बस एक बार उसके सामने हंस दो और वह दुम दबाकर भाग जायेगा ! आत्मविश्वास और भगवान्‌पर श्रद्धासे भरी हंसी दुश्मनको सबसे अधिक नष्ट-भ्रष्ट कर देनेवाली शक्ति है — वह शत्रु-के मोर्चेको तोड़ देती है, उसकी सेनाओंमें खलबली मचा देती है और तुम्हें विजयीके रूपमें आगे बढ़ाती है।

परिवर्तित प्राण उपलब्धिकी प्रक्रियामें आनन्दका अनुभव करता है। वह इस प्रक्रियामें आनेवाली कठिनाइयोंको बड़े उत्साहके साथ स्वीकार करता

है। वह सबसे अधिक प्रसन्न तब होता है जब उसे 'सत्य'के दर्शन कराये जायं और उसकी निम्न प्रकृतिमें मिथ्यात्वके झोलको खोलकर सामने रख दिया जाय। वह योग पीठपर भारी बोझ ढोनेके रूपमें नहीं, बल्कि एक आनन्ददायक कार्यके रूपमें करता है। वह अधिक-से-अधिक सहनेके लिये तैयार रहता है यदि वह सहना रूपान्तरकी शर्त हो। वह बिना शिकायत किये, बिना बुड़बुड़ाये खुशीसे सब कुछ सहता है क्योंकि यह सहना भगवान्-के लिये है। उसे अटल विश्वास होता है कि विजय प्राप्त की जायेगी। वह अपने इस विश्वासमें क्षण-भरके लिये भी नहीं डिगता कि श्रीअरविन्दने रूपान्तरका जो महान् कार्य हाथमें लिया है उसकी पूर्णाहुति सफलतामें ही होगी। क्योंकि वह वास्तवमें एक तथ्य है; हमने जो काम हाथमें लिया है उसके परिणामके बारेमें संदेहकी छायातक नहीं है। यह कोई परीक्षण-भर नहीं है, बल्कि अतिमानसकी अनिवार्य अभिव्यक्ति है। परि-वर्तित प्राणको विजयका पूर्ण बोध होता है, वह प्रगतिकी ओर संकल्प बनाये रखता है और कभी पीठ नहीं दिखाता। वह अपने-आपको ऐसी शक्तिसे भरा हुआ अनुभव करता है जो भगवान्‌की विजयके बारेमें निश्चिततासे आती है। उसे यह बोध होता है कि भगवान् उसके अन्दर उपस्थित हैं और जो करना जरूरी है वह कर रहे हैं और उसमें शत्रुओंका प्रतिरोध करने और अन्तमें उनपर विजय पानेकी अविचल शक्ति भरते रहते हैं। वह निराश क्यों हो? शिकायत क्यों करे? रूपान्तर होकर रहेगा; उसे कभी कोई न रोक सकेगा, 'सर्वशक्तिमान'के आदेशको कोई विफल नहीं कर सकता। इसलिये, शंका, संकोच और दुर्बलताको फेंक दो उस महान् दिवस-के आने तक, जब यह लंबा युद्ध चिरस्थायी विजयमें बदल जायेगा, बहा-दुरीके साथ सहनेका संकल्प कर लो।

असत्यपर विजय

'असत्य'के अधिपति आज बेचारी मानवजातिपर प्रायः पूर्ण रूपसे अधिकार जमाये हुए हैं। मनुष्यकी निम्नतर प्राण-शक्ति एवं निम्नतर प्राणिक सत्ता ही नहीं, अपितु उसका संपूर्ण मन इनके अधीन है। वह अनगिनत प्रकारसे इनकी पूजा करता है, क्योंकि ये अपनी धूर्ततामें अत्यंत प्रवीण हैं और नाना ढंगके लुभानेवाले वेषोंमें अपने स्वार्थोंको सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं।

परिणाम यह होता है कि मनुष्य अपने असत्यसे ऐसे चिपट जाते हैं जैसे यह कोई खजाना हो, इसे वे जीवनकी सुन्दरतम वस्तुओंसे भी अधिक स्नेह-पूर्वक पालते-पोसते हैं। इसकी रक्षाके संबंधमें शंकित होकर वे इसे अपने अंदर सावधानीसे बहुत गहरा गाड़ देते हैं; किंतु जबतक वे इसे बाहर निकालकर भगवान्‌को समर्पित नहीं कर देंगे तबतक उन्हें सच्चा सुख कभी नहीं प्राप्त होगा।

निःसंदेह, इसे बाहर लाकर 'प्रकाश'के आगे रख देनेका कार्य ही अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होगा और वह अंतिम विजयका मार्ग प्रशस्त कर देगा। प्रत्येक असत्यको खोलकर रख देना अपने-आपमें एक विजय है — दोष स्वीकार करनेका प्रत्येक कार्य 'अंधकार'के एक-एक अधिपतिके ध्वंसके समान है। अपने दोषको मनुष्य अपने प्रति स्वीकार कर सकता है, इस शर्तपर कि यह कार्य वह पूरी सच्चाईके साथ करे, यह नहीं कि वह जरा-सा खेद प्रकाशित करे और वह खेद भी अगले क्षण भूल जाय तथा उसमें गलतीको पुनः न करनेके अटूट निश्चयका भी बल न हो। अथवा वह गुरुके रूपमें मूर्तिमंत भगवान्‌के आगे अपना दोष स्वीकार कर सकता है। सीधा गुरुके सामने अपना दोष स्वीकार करनेका परिणाम यह होता है कि तुम्हारा निश्चय तब तुम्हारा अपना नहीं रहता, क्योंकि, यदि तुम सच्चे हो तो भगवान्‌का आदेश तुम्हारे पक्षमें हो जाता है। इसका अभि-प्राय समझनेके लिये मैं तुम्हें एक निजी अनुभव सुनाती हूं। यह अनुभव उस समयका है जब मैं पांडिचेरीमें श्रीअरविंदसे पहले-पहल मिली थी। मैं गहरे ध्यानमें थी, अतिमानसमें वस्तुओंका स्वरूप देख रही थी, उन वस्तुओं-का जो भविष्यमें जन्म लेनेवाली थीं पर जो किसी कारण प्रकट नहीं हो रही थीं। जो कुछ मैंने देखा था वह श्रीअरविंदको बताया और उनसे पूछा कि क्या ये चीजें प्रकट होंगी। उन्होंने उत्तरमें केवल "हां" कहा। उसी क्षण मैंने देखा कि अतिमानसने पृथ्वीका स्पर्श किया और चरितार्थ होना शुरू हो गया! यह पहला अवसर था जब मैंने सत्यको वास्तविक रूप देनेकी शक्ति अपनी आंखों देखी: ठीक यही शक्ति तुम्हें सत्यकी उप-लब्धि करायेगी जब तुम पूरी सच्चाईके साथ इसकी शरणमें आओगे, यह कहते हुए: "इस असत्यसे मैं मुक्त होना चाहता हूं," और तुम्हें इसका उत्तर मिलेगा — "हां।"

योगमें कठिनाइयां

तुम्हारी कठिनाईकी प्रकृति यह बताती है कि तुम किस प्रकारकी विजय प्राप्त करोगे, तुम योगमें कौन-सी विजयके उदाहरण बनोगे। उदाहरणके लिये, अगर स्वार्थपरता बनी रहती है तो इससे यह पता चलता है कि भविष्यमें पूर्ण व्यापकता तुम्हारी सबसे बड़ी उपलब्धि होगी। और, जब तुम्हारे अंदर स्वार्थपरता है तो तुम उसे, उस कठिनाईको, उसके विपरीत तत्त्वमें, पूर्ण विशालताकी विजयमें बदलनेकी कामना भी रखते हो।

जब तुम्हें कोई चीज उपलब्ध करनी हो तो तुम्हारे अंदर उस चीजसे ठीक उलटे विशेष लक्षण होंगे। उस कठिनाई या दोषका सामना होने पर तुम कहते हो : "आह! मैं ऐसा हूं! कैसी बुरी बात है!" परंतु तुम्हें वस्तु-स्थितिके सत्यको देख सकना चाहिये। तुम्हें अपने-आपसे कहना चाहिये : "मेरी कठिनाई मुझे स्पष्ट रूपसे बताती है कि संसारमें मुझे किस चीजका प्रतिनिधित्व करना है। इस चीजके पूर्ण निषेधका, इसके एकदम दूसरे छोरको सिद्ध करना ही मेरा लक्ष्य है।"

सामान्य जीवनमें भी हमें इस प्रकारके विपरीत अनुभव होते हैं। जो बहुत ज्यादा डरपोक होता है, जिसमें परिस्थितियोंका सामना करनेकी जरा भी हिम्मत नहीं होती वही सबसे अधिक सहन कर सकता है!

जिसमें भगवान्‌के लिये अभीप्सा है, उसके सामने जो कठिनाई हमेशा खड़ी रहती है, उसके लिये वह कठिनाई ही वह द्वार है जिससे वह निजी रूपमें भगवान्‌को पायेगा : यह भगवान्‌को पानेके लिये उसका अपना मार्ग होगा।

और यह भी तथ्य है कि अगर किसीके आगे हजारों कठिनाइयां आती हैं तो उसे विस्मयकारी उपलब्धियां प्राप्त होंगी — बशर्ते कि धैर्य और सहन-शक्ति हो और वह अपने अंदर इन दोषोंके विरुद्ध अभीप्साकी अग्नि जगाये रहे।

और याद रखो : सामान्यतः भगवान्‌की कृपा भी तुम्हारी कठिनाइयोंके अनुपातमें होती है।

प्राणका परिवर्तन — पुनर्जन्म और व्यक्तिगत उत्तरजीविता

यह बहुत जरूरी है कि प्राण बदलनेके लिये राजी हो : उसे परिवर्तन स्वीकार करना सीखना चाहिये। प्राण अपने-आपमें कोई ऐसी चीज नहीं है जिसकी निन्दा करनी चाहिये : वास्तवमें, सभी शक्ति, क्रियाशीलता और प्रोत्साहन वहींसे आते हैं — उसके बिना तुम शान्त, बुद्धिमान और अनासक्त भले हो, पर एकदम गतिशून्य और सृजनशक्तिहीन हो जाओगे। प्राणकी उंडेली हुई शक्तिके बिना शरीर बिलकुल पत्थरकी तरह जड़ हो जायेगा। अगर प्राणको अलग कर दिया जाय तो तुम कोई उपलब्धि न कर सकोगे। लेकिन एक ओजस्वी घोड़ेकी तरह वह जिद्दी हो सकता है और इसलिये उसे नियंत्रणकी जरूरत है। तुम्हें अपनी लगाम ठीक रखनी होगी और चाबुक तैयार रखना होगा ताकि इस शक्तिशाली जानवरको वशमें रख सको। हां, एक बार प्राण बदलना स्वीकार कर ले तो फिर न तो कड़ी लगामकी जरूरत रहती है, न चाबुककी : तुम मजेसे हर बाधा-परसे उछलते हुए लक्ष्यकी ओर बढ़ते जाते हो। वरना प्राण बाधाओंके आगे लड़खड़ाएगा या उन्हें पार करनेमें सकुचाएगा। यह सोचनेका कोई फायदा नहीं कि अगर बाधाएं न होतीं तो सब कुछ ठीक रहता : वे तो खेलका एक हिस्सा हैं और अगर उन्हें यहां इस जीवनमें, इस धरतीपर न पार किया जाय तो दूसरे जीवनमें, दूसरे लोकोंमें सैकड़ोंगुनी अधिक बाधाओंका सामना करना होगा। सबसे अच्छी बात यही है कि अन्तिम रूपसे निश्चय कर लो और अपने प्राणको प्रशिक्षण दो कि वह इस शरीरके रहते बाजीमें दौड़े और, अगर संभव हो तो, जीत ले। तुम्हारी विजय निश्चित है यदि तुम्हारा भौतिक मन अपना सुधार कर ले, उस डाकूकी तरह व्यवहार न करे जो अपने शिकारको दबाये रहता है जब कि उसका साथी उसकी संपत्ति लूटता है, और प्राणके बदलनेमें सहायता दे।

मृत्युके बाद तुम्हारी सत्ताका भविष्य बहुत कुछ इसपर निर्भर है कि तुम्हारे प्राणका परिवर्तन हुआ है या नहीं। अगर तुम अव्यवस्थित आवेगों-की खिचड़ी-भर रहो तो मृत्युके समय, जब चेतना पृष्ठभूमिमें हट जाती है, तुम्हारे विभिन्न व्यक्तित्व अलग-अलग हो जाते हैं और अपने-अपने अनुकूल वातावरणकी तलाशमें इधर-उधर दौड़ भाग करते हैं। एक भाग किसी ऐसे व्यक्तिमें घुस सकता है जिसके साथ उसकी समानता है, दूसरा किसी पशुमें प्रवेश कर सकता है और जो भाग भागवत सत्ताकी ओर जाग्रत रहा है वह केन्द्रीय चैत्य सत्ताके साथ जुड़ा रह सकता है। लेकिन

अगर तुम पूरी तरह संगठित हो और एक व्यक्तित्वमें बदल चुके हो और विकासके लक्ष्यतक पहुंचनेके लिये कटिबद्ध हो तो तुम मृत्युके बाद सचेतन रहोगे और एक सातत्य बनाये रहोगे।

पुनर्जन्मके बारेमें तो यह स्वीकार करना होगा कि ऐसा कोई नियम नहीं है जो सभी अवस्थाओंमें लागू हो सकता हो। कुछ लोग तुरन्त दुबारा जन्म ले लेते हैं — बहुत बार यह होता है कि यदि बच्चे मां-बापसे बहुत लगाव रखते हों तो उनका एक भाग बच्चोंमें आ जाता है। कुछ लोग दुबारा जन्म लेनेमें शताब्दियां या सहस्राब्दियां लगा देते हैं। वे ऐसी आवश्यक परिस्थितियोंके तैयार होनेतक प्रतीक्षा करते हैं जो उनके लिये अनुकूल वातावरण बना दें। अगर कोई यौगिक दृष्टिसे सचेतन हो तो वह अपने अगले जन्मके लिये शरीर तैयार कर सकता है। वह शरीरके जन्म लेनेसे पहले उसे आकार देता और गढ़ता है। इस तरह सचमुच तो नये शरीरका निर्माता वह स्वयं होता है, नये बच्चेके मां-बाप तो केवल गौण और शुद्ध रूपसे भौतिक निमित्त होते हैं।

चलते-चलते मुझे यह भी कह देना चाहिये कि पुनर्जन्मके बारेमें एक भ्रान्त धारणा है। लोग मानते हैं कि उनका पुनर्जन्म होता है, लेकिन यह स्पष्ट रूपसे भूल है, यद्यपि यह ठीक है कि उनकी सत्ताके कुछ अंश औरोंके साथ मिल जाते हैं और इस तरह नये शरीरोंके द्वारा काम करते हैं। उनकी पूरी सत्ताका पुनर्जन्म नहीं होता और इसका कारण यह साधारण-सा तथ्य है कि जिस चीजको वे अपना सच्चा "मैं" समझते हैं वह सचमुच कोई वास्तविक व्यक्ति बनी हुई एक सत्ता नहीं है, बल्कि उनका बाह्य व्यक्तित्व है, ऐसा व्यक्तित्व जो बाहरी नाम और आकारसे बना है। इसलिये यह कहना गलत है कि 'क' ने 'ख' के रूपमें जन्म लिया है: 'क' का व्यक्तित्व मौलिक रूपमें 'ख' से अलग है, इसलिये 'क' 'ख' के रूपमें जन्म नहीं ले सकता। तुम्हारा यह कहना तभी ठीक होगा जब तुम यह कहो कि चेतनाकी एक ही धारा 'क' और 'ख' दोनोंका अपनी अभिव्यक्तिके यंत्रके रूपमें उपयोग करती है। जो हमेशा बना रहता है वह है चैत्य पुरुष जो बाहरी व्यक्तित्व नहीं है, जो गहराईमें स्थित रहता है, वह बाहरी नाम और आकार नहीं है।

तुम यह जानना चाहते हो कि क्या सब मनुष्य शरीरके विलयके बाद अपनी विशिष्टता बनाये रखते हैं। हां, यह कई बातोंपर निर्भर है। साधारण जन अपने शरीरके साथ इतना अधिक एक होते हैं कि शरीरके विघटनके बाद उनमें कुछ नहीं बचता। ठीक ऐसी बात नहीं है कि उनमेंसे कुछ नहीं बचता — प्राण और मनका तत्त्व हमेशा बचा रहता है — लेकिन वह भौतिक व्यक्तित्वके

साथ एकात्म नहीं होता। जो बच रहता है उसपर बाहरी व्यक्तित्व-की स्पष्ट छाप नहीं होती, क्योंकि भौतिक व्यक्तित्व आवेगों, इच्छाओं और शारीरिक कार्य-कलापके संबंध और सहयोगसे बने अस्थायी घालमेलसे ही संतुष्ट रहता है और शरीरके कार्य-कलापके बंद होनेके साथ ही स्वाभाविक रूपसे यह ऊपरी एकता भी समाप्त हो जाती है। हां, यदि विभिन्न भागोंपर मानसिक संयम रहा हो और उन्हें किसी समान मानसिक आदर्शके अधीन रखा गया हो तो एक प्रकारका सच्चा व्यक्तित्व बना रह सकता है जिसमें पार्थिव जीवनकी स्मृति सचेतन रूपसे बनी रह सकती है। कहा जा सकता है कि कलाकार, दार्शनिक, तथा अन्य विकसित लोग जो अपने प्राणको एक हदतक परिवर्तित कर लेते हैं और अपने व्यक्तित्वको संगठित बना लेते हैं वे बचे रहते हैं, क्योंकि वे अपनी बाहरी चेतनामें अपनी चैत्य सत्ताकी कुछ छाया ले आते हैं। चैत्य सत्ता स्वभावसे ही अमर है और उसका लक्ष्य है क्रमशः सारी सत्ताका केंद्रीय भागवत संकल्पके चारों ओर निर्माण करना।

पुनरुज्जीवन

हमारे लिये, पुनरुज्जीवनका अर्थ है पुरानी चेतनाका झड़ जाना; लेकिन यह केवल पुनर्जन्म नहीं है जो अतीतके साथ पूरी तरह संबंध तोड़ देता है। इसमें अपने पुराने स्व, अपनी निचली बाह्य प्रकृतिकी ओरसे मरने और नये सूत्रपातमें एक निरंतरता रहती है। पुनरुज्जीवनके अनुभवमें पुरानी सत्ताको छोड़नेकी गतिमें और उभरती हुई नयी चेतना तथा नयी शक्तिकी गतिमें नजदीकका संबंध होता है ताकि फेंकी हुई चीजमें जो कुछ उत्तम है वह आनेवाली नयी रचनाके साथ मिल सके। पुनरुज्जीवनका सच्चा अर्थ यह है कि भागवत चेतना जिस निश्चेतनामें उतरकर अपने-आपको खो बैठी है, वहींसे, उस अचेतनासे जागती है और मृत्यु, रात्रि और अंधकारके लोकमें उतरनेके बावजूद अपने बारेमें फिरसे सचेतन होती है। वह अंधकारका लोक हमारी भौतिक रातसे ज्यादा अंधेरा होता है : अगर तुम उसमें गोता लगाकर आओ तो तुम्हें सचमुच अधिक-से-अधिक अभेद्य रात भी उजली लगेगी, ठीक वैसे ही जैसे दिव्य चेतनाके सच्चे प्रकाश-मेंसे, बिना किसी धुंधलेपनके अतिमानसिक प्रकाशमेंसे लौटकर भौतिक

सूर्य काला लगता है। लेकिन उस परम अंधकारकी गहराइयोंमें 'ज्योति' छिपी रहती है। वह 'ज्योति', वह 'चेतना' तुम्हारे अंदर जागे, तुम्हारे अंदर महान् 'पुनरुज्जीवन' हो।

पुनर्जन्म — पिछले जीवनोंकी याद

जिस चीजको सामान्यतः पुनर्जन्म कहा जाता है उसकी समस्याको ठीक तरह समझनेके लिये तुम्हें देखना चाहिये कि ऐसे दो तत्त्व हैं जिनपर विशेष रूपसे ध्यान देना चाहिये। पहली चीज है भागवत चेतनाकी धारा जो ऊपरसे अभिव्यक्त होनेकी कोशिशमें है और इस जगत्‌में, जो उसकी अभिव्यक्तिका क्षेत्र है, किन्हीं रचना-श्रेणियोंको समर्थन देती है। दूसरी है चैत्य चेतना जो नीचेसे ऊपरकी ओर चढ़ती है। यह समयमें विकसित होते हुए भागवत तत्त्वका बीज है और तबतक ऊपर उठता रहता है जब-तक कि ऊपरसे उतरनेवाली 'शक्ति'के साथ मेल न हो जाय और वह अति-मानस 'सत्य'की छाप न पा ले। यह चैत्य चेतना, मनुष्यकी आंतरिक सत्ता, वह तत्त्व है जिसमेंसे उसकी अभीप्साके उत्तरस्वरूप अतिमानस उसे एक सुसंगत व्यक्तित्व देनेके लिये नीचे उतरे तो, उसकी सच्ची अंतरात्मा या जीव गढ़ा जा सकता है। मनुष्यका बाहरी व्यक्तित्व एक मरणशील रचना है जो वैश्व प्रकृतिके तत्त्वोंसे — मन, प्राण, शरीरसे — बनी है और सब प्रकारकी शक्तियोंके परस्पर प्रभावका क्षेत्र है। चैत्य पुरुष मानों विभिन्न रचनाओंके पीछे रहते हुए उनके अनुभवोंके सार-तत्त्वको ग्रहण करता रहता है। वह उन जीवनोंकी पृष्ठभूमि तो बनाता है; परंतु सतत संपर्क न रहनेके कारण उनकी पूरी स्मृति नहीं रखता। इसलिये केवल चैत्य पुरुषके साथ संपर्क बनाकर पिछले जन्मोंकी बातें याद नहीं की जा सकतीं। जो बातें पिछले जन्मोंकी स्मृति नामसे चल जाती हैं उनमें या तो जान-बूझकर धोखेबाजी होती है या इधर-उधर अंदरसे प्राप्त, इधर-उधर छिटके संकेतोंके आधारपर बनी हुई कहानी। बहुत-से लोग अपने पशु जीवनको भी याद रखनेका दावा करते हैं और कहते हैं : वे धरतीके इस या उस भागमें रहनेवाले अमुक बन्दर थे। लेकिन अगर कोई बात निश्चित है तो यही कि बन्दरका चैत्य चेतनाके साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता इसलिये वह अपने अनुभवोंको लेश मात्र भी आगे नहीं बढ़ा सकता। उसके बाहरी

कोई-स्वभावके संस्कार उसके पशु-शरीरके साथ ही झड़ जाते हैं: उन्हें जाननेका दावा करना विचारणीय समस्यासे सम्बद्ध वास्तविक तथ्योंके बारेमें अपना अत्यंत स्थूल अज्ञान प्रकट करना है। मानव जीवनके बारेमें निश्चित स्मृति तभी रहती है जब चैत्य पुरुष आगे आ गया हो, लेकिन उसमें जीवनके ब्योरेकी हर चीज तबतक याद नहीं रहती जबतक कि चैत्य-पुरुष हमेशा सामने न रहता हो और बाहरी सत्ताके साथ पूरी तरह एक न हो गया हो। यह एक नियम ही है कि शरीरके मरते ही भौतिक मन और भौतिक प्राण विलीन हो जाते हैं: वे विघटित होकर वैश्व प्रकृतिमें जा मिलते हैं और उनके अनुभवोंमेंसे कुछ नहीं बच रहता। जबतक कि वे चैत्यके साथ एक न हो जायं ताकि चेतनाके दो भाग न रहकर एक समग्र चेतना बन जाय और सारी प्रकृति केन्द्रीय भागवत संकल्पके चारों ओर एक न हो जाय और यह केन्द्रीय सत्ता ऊपरकी दिव्य धाराके साथ सम्बद्ध न हो जाय — जबतक इतना सब न हो जाय तबतक व्यक्तिको उस चेतनाका ज्ञान नहीं मिल सकता; वह अपनी क्रमिक आत्माभिव्यक्तिमें क्रमशः आनेवाले आकारों और जीवनोंके बारेमें भली-भांति परिचित नहीं हो सकता। यह सब हो लेनेसे पहले अपने पिछले जन्मों और उनकी घटनाओंकी बातें करना निरर्थक है। यह मूल्यवान् अहं वर्तमान अस्थायी बाहरी व्यक्तित्व ही है जिसका पीछेकी विविध रचनाओंके साथ, जैसा कि वर्तमान आकारके पीछेकी रचनाके साथ, कोई संबन्ध नहीं है और वास्तविक सत्ता तो वहीं पीछे रहा करती है। केवल अतिमानस चेतना ही इन सब जन्मोंको एक धागेपर पिरोये हुए गुरियोंकी तरह रखती है और वही उन सबका सच्चा ज्ञान दे सकती है।

चैत्य उपस्थिति और चैत्य सत्ता — जातीय श्रेष्ठताका वास्तविक मूल

ऊपरकी ओर विकासके बारेमें चैत्य सत्ताकी जगह चैत्य उपस्थितिकी बात करना ज्यादा ठीक होगा। क्योंकि चैत्य उपस्थिति ही शनैः-शनैः चैत्य सत्ता बन जाती है। हर विकसित होनेवाले आकारमें यह उपस्थिति तो होती ही है, लेकिन व्यक्ति रूपमें नहीं। वह एक ऐसी चीज होती है जो बढ़ सकती है और विकास-क्रमकी गतिके अनुसार चलती है। वह ऊपर-

से उतरनेवाला अन्तर्लंघन नहीं है। यह मानवत चेतनाकी चिनगारीके चारों ओर क्रमशः रूप लेता है और इसका उद्देश्य होता है विकास पाती हुई सत्ताका केन्द्र बनना जो आगे चलकर व्यक्तित्व प्राप्त करके चैत्य सत्ता-का रूप लेता है। यह चिनगारी स्थायी होती है और अपने चारों ओर नाना प्रकारके तत्त्वोंको इकट्ठा करती रहती है जिनसे व्यक्तित्वकी रचना होती है; सच्ची चैत्य सत्ता तभी बनती है जब चैत्य व्यक्तित्व पूरी तरह विकसित हो जाता है और शाश्वत दिव्य चिनगारीके चारों ओर पूरी तरह-से गठित हो जाता है; उसकी पूर्ण पूर्णता या पराकाष्ठा तब आती है जब वह ऊपरकी सत्ता या व्यक्तित्वके साथ एकता प्राप्त कर ले।

मानव स्तरसे नीचे सामान्यतः मुश्किलसे ही कोई व्यक्तित्व बनता है— वहां कम या ज्यादा, यह उपस्थिति ही होती है। परन्तु जब दिव्य चेतना-की चिनगारीके चारों ओर शरीरका निर्माण हुआ और धरतीपर मानव जातिका आरंभ हुआ तो कुछ मानव जीवोंने अपने उत्तरोत्तर विकासके द्वारा काफी पूर्णता पा ली और अपने उद्घाटन और अपनी ग्रहणशीलताके कारण 'ऊपरसे उतरती हुई किन्हीं सत्ताओंके साथ संयोजन कर पाये। इससे एक प्रकारकी दिव्य मानवता पैदा हुई जिसे हम एक प्रकारकी विशिष्ट जाति कह सकते हैं: अगर ये लोग अपने-आपमें समाये रहते तो एक अद्वितीय अतिमानव जाति बने रहते। वास्तवमें बहुत-सी जातियोंने इस बातका दावा किया है। बारी-बारीसे आर्य, सेमेटिक और जापानी जातियों-ने अपने-आपको चुनी हुई जाति माना है। लेकिन, वास्तवमें, मानवजातिको सामान्य रूपसे समतल किया गया है और उसमें बहुत अधिक मिश्रण हुआ है। क्योंकि श्रेष्ठ जातिके बढ़ने और फैलनेकी आवश्यकता पैदा हुई तो उसे बाकी मानवजातिके साथ, जिसे हम पाशविक मानवजाति कह सकते हैं, घुलना-मिलना पड़ा। इस तरह उसका मूल्य गिर गया और परिणामस्वरूप वह पतन आया जिसका संसारके शास्त्रोंमें उल्लेख मिलता है जिसे स्वर्गसे निष्का-सन या सत् युगका अन्त कहा गया है। चेतनाकी दृष्टिसे यह पतन अवश्य था, परन्तु भौतिक बलकी दृष्टिसे नहीं। क्योंकि सामान्य मानवजातिके लिये यह बहुत बड़ा लाभ था। निश्चय ही, कुछ ऐसी सत्ताएं थीं जिनमें न मिलनेका दृढ़ संकल्प था, जो अपनी श्रेष्ठता खोनेसे बहुत अप्रसन्न थीं; और यही जातीय गर्व, जातीय अनन्यता और भारतके ब्राह्मणों जैसी विशेष जातीय वरिष्ठताका मूल है। लेकिन अब यह नहीं कहा जा सकता कि मानवजातिका कोई भी भाग पूरी तरह पाशविक है: ऊपरके अवतरणने सभी जातियोंको छुआ है, व्यापक सम्मिश्रणके कारण ऊपरसे उतरी हुई चीजका प्रभाव बहुत ज्यादा फैल गया है।

हां, यह नहीं कहा जा सकता कि हर मनुष्यमें चैत्य सत्ता है और इसी तरह यह भी नहीं कहा जा सकता कि सभी जानवर उससे वंचित हैं। बहुत-से जानवरोंमें, जो मनुष्यके साथ रहे हैं, चैत्यका आरंभ दिखायी देता है और बहुत बार हमें ऐसे लोग मिलते हैं जो पशुके अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। यहां भी, बहुत कुछ समतल किया गया है। लेकिन सब मिलाकर देखें तो सच्चे अर्थोंमें चैत्य मानव स्तरपर ही शुरू होता है: इसीलिये कैथोलिक धर्मका कहना है कि सिर्फ मनुष्यमें अन्तरात्मा होती है, सिर्फ मनुष्यमें ही यह संभावना है कि चैत्य पूरा विकास पा सके और अन्तमें उतरते हुए देवके साथ मिलकर एक हो सके।

श्रद्धा

बाहरी चेतनाका प्रत्यक्ष दर्शन चैत्य पुरुषके दर्शनका खण्डन कर सकता है, लेकिन चैत्य पुरुषके पास सच्चा ज्ञान होता है — एक अन्तर्भासात्मक सहज ज्ञान। वह कहता है: "मैं जानता हूं; मैं कारण नहीं दे सकता; पर मैं जानता हूं।" क्योंकि उसका ज्ञान मानसिक नहीं होता, अनुभवपर आधारित या प्रमाणित सत्य नहीं होता। वह दलीलें दिये जानेके बाद नहीं मानता, श्रद्धा अन्तरात्माकी गति है जिसका ज्ञान सहज और सीधा होता है। सारी दुनिया भले विरोध करे या विपक्षमें हजारों प्रमाण दे, फिर भी वह आन्तरिक ज्ञानके द्वारा जानता है, उसे दर्शन होता है जो हर विरोधका सामना कर सकता है, उसे तादात्म्यके द्वारा दर्शन होता है। चैत्य पुरुषका ज्ञान निश्चित, वास्तविक और ठोस होता है। तुम उसे अपने मन, अपने प्राण और अपने शरीरमें भी उतार सकते हो और तब तुम्हारे अन्दर समग्र श्रद्धा होगी — ऐसी श्रद्धा जो सचमुच पहाड़ोंको भी हिला सके। लेकिन तब सारी सत्तामें कोई भी चीज ऐसी न होनी चाहिये जो आकर कहे: "नहीं, यह ऐसा नहीं है", कोई चीज प्रमाणकी मांग न करे। जरा-सा अर्ध विश्वास भी सारे मामलेको बिगाड़ सकता है। अगर श्रद्धा पूर्ण और अचल न हो तो परम प्रभु कैसे अभिव्यक्त हो सकते हैं? श्रद्धा अपने-आपमें हमेशा अचल होती है — यह उसकी अपनी प्रकृति है, वरना वह श्रद्धा ही नहीं होती। लेकिन हो सकता है कि मन या प्राण या शरीर चैत्य गतिविधिका अनुसरण न करें। कोई

आदमी एक योगीके पास आ सकता है और अचानक उसके अन्दर यह श्रद्धा हो सकती है कि यह आदमी मुझे लक्ष्यतक पहुंचा सकेगा। वह नहीं जानता कि उसमें ज्ञान है या नहीं। उसे एक चैत्य धक्का-सा लगता है और वह जान लेता है कि उसे अपना गुरु मिल गया। वह लम्बे मानसिक ऊहापोहके बाद या चमत्कार देखकर विश्वास नहीं करता और यही वह श्रद्धा है जिसका मूल्य है। तुम अगर तर्क करना शुरू कर दो तो हमेशा अपनी नियतिको खोते रहोगे। कुछ लोग बैठकर यह सोचने लगते हैं कि चैत्य प्रेरणा युक्तिसंगत है या नहीं।

लोग प्रायः उस चीजके कारण धोखेमें नहीं आते जिसे अंध श्रद्धा कहा जाता है। वे प्रायः कहते हैं : आह, मैंने इस आदमीपर या उस आदमी-पर विश्वास किया लेकिन उसने मुझे धोखा दिया! लेकिन वास्तवमें दोष उस आदमीका नहीं, विश्वास करनेवालेका होता है। यह उसकी अपनी कमजोरीके कारण होता है। अगर वह अपनी श्रद्धा बनाये रखता तो उस आदमीको भी बदल देता। चूंकि वह अपनी श्रद्धा-चेतनामें न रह सका इसलिये उसे विश्वासघातका अनुभव हुआ और वह उस आदमीको वैसा न बना सका जैसा उसे चाहता था। अगर उसके अन्दर समग्र श्रद्धा होती तो वह उस आदमीको बदलनेके लिये बाधित करता। हमेशा श्रद्धाके द्वारा ही चमत्कार हुआ करते हैं। एक आदमी किसी दूसरेके पास जाता है और वहां जाकर दिव्य उपस्थितिके साथ नाता जोड़ता है; अगर वह इस नातेको शुद्ध और स्थिर बनाये रख सके तो वह दिव्य चेतनाको अत्यन्त भौतिक रूपमें अभिव्यक्त होनेके लिये बाधित करेगा। लेकिन सब कुछ तुम्हारी सचाई और तुम्हारे मानक-पर निर्भर है। तुम भौतिक रूपसे जितने अधिक तैयार होगे, उतने ही अधिक सच्चे स्रोत और सच्चे गुरुके पास ले जाये जाओगे। चैत्य और उसकी श्रद्धा हमेशा सच्चे होते हैं लेकिन अगर तुम्हारी बाहरी सत्ता-में कपट है, अगर तुम आध्यात्मिक जीवन नहीं, व्यक्तिगत शक्तिकी खोजमें हो तो तुम धोखेमें आ सकते हो। तुम्हारी श्रद्धा नहीं, कपट तुम्हें धोखा देता है। श्रद्धा अपने-आपमें शुद्ध होती है लेकिन वह तुम्हारी सत्तामें निचली गतिविधियोंसे घुल-मिल सकती है और तब तुम गलत रास्तेपर ले जाये जा सकते हो।

उचित अभिवृत्तिकी शक्ति

क्या सचमुच जो कुछ होता है अच्छे-से-अच्छा ही होता है? . . . यह तो स्पष्ट ही है कि जो कुछ हुआ है उसे होना ही था : इससे भिन्न न हो सकता था — वैश्व नियतिके कारण उसे होना ही था। लेकिन यह बात हम तभी कह सकते हैं जब वह हो चुके, उससे पहले नहीं। क्योंकि "जो हो सकता है उसमें अच्छे-से-अच्छे" की समस्या व्यक्तिगत समस्या है, यह व्यक्ति भले एक मनुष्य हो अथवा एक राष्ट्र। सब कुछ व्यक्तिगत अभिवृत्तिपर निर्भर है। यदि जो होनेवाला है उसकी परिस्थितिमें तुम अपने लिये संभव अधिक-से-अधिक ऊंची अभिवृत्ति अपना सको — अर्थात्, यदि तुम अपनी चेतनाको अपनी पहुंचकी ऊंची-से-ऊंची चेतनाके संपर्कमें ला सको तो, पूरी तरह निश्चय रखो, जो होगा वह जो हो सकता है उसमें अच्छे-से-अच्छा होगा। लेकिन जैसे ही तुम उस चेतनासे निचले स्तरपर गिर पड़ो वैसे ही जो होगा वह स्पष्टतः अच्छे-से-अच्छा न होगा और कारण स्पष्ट है — तुम अपनी अच्छे-से-अच्छी चेतनामें नहीं हो . . .। मैं निश्चयपूर्वक यहांतक कह सकती हूं कि हर एकके तात्कालिक प्रभावके क्षेत्रमें उचित अभिवृत्तिमें इतनी शक्ति होती है कि हर परिस्थितिको लाभदायक बना सके, इतना ही नहीं वह स्वयं परिस्थितिको बदल सकती है। उदाहरणके लिये, अगर कोई तुम्हें मारने आये, उस समय तुम यदि साधारण चेतनामें रहो और डरकर होश-हवास खो दो तो संभवतः वह जो कुछ करनेके लिये आया है उसमें सफल हो जायगा; अगर तुम जरा ऊपर उठ सको और डरसे भरे होते हुए भी भागवत सहायताको बुलाओ तो वह जरा-सा चूक जायगा या तुम्हें जरा-सी चोट ही पहुंचा पायेगा; लेकिन अगर तुम्हारे अन्दर उचित अभिवृत्ति हो और तुम्हारे चारों ओर हर जगह भागवत उपस्थितिकी पूरी चेतना हो तो वह तुम्हारे विरुद्ध उंगली भी न उठा सकेगा।

यह सत्य रूपान्तरकी सारी समस्याकी ठीक चाबी है। हमेशा भागवत उपस्थितिके साथ संबंध बनाये रखो, उसे नीचे उतारनेकी कोशिश करो — तो हमेशा अच्छे-से-अच्छी चीज ही होगी। पर हां, सारा जगत् एकदम नहीं बदल जायेगा, लेकिन वह जितनी तेजी कर सकता है उतनी तेजीसे आगे बढ़ेगा। यह न भूलो कि यह तभी होगा जब तुम योगके सीधे मार्गपर चलते रहोगे, उस अवस्थामें नहीं जब तुम रास्ता छोड़कर जिधर मुंह उठे उधर भटकते फिरो या असहाय-से बनकर अजाने जंगलमें घूमते रहो।

अगर तुममेंसे हर एक अधिक-से-अधिक प्रयास करे तो ठीक सहयोग होगा और परिणाम बहुत अधिक जल्दी आ सकेगा। मैंने उचित अभिवृत्तिकी शक्तिके अनेक उदाहरण देखें हैं। मैंने देखा है कि अकेले आदमीकी उचित अभिवृत्तिके कारण जन-समूह महाविपत्तिसे बच गये हैं। लेकिन यह ऐसी अभिवृत्ति होनी चाहिये जो शरीरको अपनी साधारण प्रतिक्रियाओंमें छोड़कर कहीं किन्हीं ऊंचाइयोंपर नहीं रहती। अगर तुम इस तरह ऊंचाइयोंपर रहो और कहो, "भगवान्‌की इच्छा पूरी हो"; तो हो सकता है कि इसके होते हुए भी तुम मारे जाओ। क्योंकि हो सकता है कि तुम्हारा शरीर बिलकुल अदिव्य हो और भयसे कांपता रहे। जरूरी बात यह है कि सत्य चेतनाको स्वयं शरीरके अन्दर प्रतिष्ठित रखा जाय, जरा भी भय न हो, और सत्तामें भागवत शान्ति भरी हो। तब वास्तवमें कोई खतरा नहीं है। इस हालतमें मनुष्योंके आक्रमणसे बचा जा सकता है, इतना ही नहीं, बल्कि पशुओं और पंचतत्त्वोंपर भी प्रभाव डाला जा सकता है। मैं एक छोटा-सा उदाहरण दे सकती हूं। तुम्हें वह तूफानी रात याद है जब बहुत जोरकी गड़गड़ाहट हुई थी और चारों ओर झड़ी लगी थी। मैंने सोचा, मैं श्रीअरविन्दके कमरेमें जाकर खिड़कियां बन्द करनेमें उनकी मदद करूं। मैंने उनका दरवाजा खोला तो देखा वे चुपचाप अपनी मेजपर बैठे लिख रहे हैं। कमरेमें ऐसी ठोस शान्ति थी कि कोई कल्पना भी न कर सकता था कि बाहर इतने जोरका तूफान चल रहा है। सभी खिड़कियां पूरी-पूरी खुली थीं, लेकिन एक बूंद भी अन्दर नहीं आ रही थी।

कल्पनाकी शक्ति

कल्पना वास्तवमें मानसिक रचनाएं बनानेकी शक्ति है। जब यह शक्ति भगवान्‌की सेवामें लगायी जाती है तो यह केवल रचनाएं ही नहीं बनाती, अपितु सृजन भी करती है। तथापि, अवास्तविक रचना जैसी किसी वस्तुका अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि प्रत्येक आकृति मानसिक स्तरपर एक सत्य ही होती है। उदाहरणार्थ, एक उपन्यासका सारा कथानक मानसिक स्तरपर भौतिक स्तरसे स्वतंत्र रूपमें विद्यमान रहता है। हममेंसे हर एक कुछ हदतक उपन्यासकार है और उसमें मानसिक स्तरपर आकार बनानेकी क्षमता है;

वास्तवमें, हमारे जीवनका बहुत-सा भाग हमारी कल्पना-सृष्टिका ही मूर्त रूप है। प्रत्येक बार जब तुम किसी अस्वस्थ कल्पनामें रस लेते हो, अपने भयोंकी रूप-रेखा बनाते हो, दुर्घटनाओं और विपत्तियोंकी आशंका करते हो, तब तुम अपने भावी विनाशके लिये खाई खोदते हो। इसके विपरीत, तुम्हारी कल्पना जितनी अधिक आशापूर्ण होगी, अपने लक्ष्यको पूरा करना तुम्हारे लिये उतना ही अधिक संभव होगा। कूए महोदयको इस शक्ति-शाली सत्यका ज्ञान हो गया था और उन्होंने सैंकड़ों लोगोंको केवल यह सिखाकर अच्छा कर दिया कि वे अपनी कष्टमुक्त स्थितिकी कल्पना करें। एक बार उन्होंने एक स्त्रीकी घटना सुनायी जिसके बाल झड़ते जा रहे थे। उसने अपने-आपको सुझाव देना शुरू किया कि मैं दिन-पर-दिन अच्छी हो रही हूं और मेरे बाल निश्चय ही बढ़ रहे हैं। लगातार ऐसी कल्पना करनेसे उसके बाल सचमुच बढ़ने लगे, यहांतक कि अधिक आत्म-प्रेरणासे वह जितना चाहती थी उतने लंबे हो गये। मानसिक रचनाएं बनानेकी शक्ति योगमें भी अत्यंत उपयोगी है; जब भगवत्संकल्पके साथ मनका संपर्क स्थापित हो जाता है, अतिमानसिक 'सत्य' मन और उच्चतम 'प्रकाश'के मध्यवर्ती स्तरोंके द्वारा अवतरित होने लगता है और यदि मनमें पहुंचकर वह उसके अंदर रचनाएं बनानेकी शक्ति देखता है तो यह सहज ही मूर्त रूप धारण कर लेता है और तुम्हारे अंदर सर्जनशील शक्तिके रूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है। अतएव, मैं तुमसे कहती हूं कि उदास और निराश मत होओ; बल्कि ऐसा करो कि तुम्हारी कल्पना सदा आशापूर्ण और उच्चतर 'सत्य'के दबावके प्रति सहर्ष नमनशील रहे, जिससे वह सत्य जब आये तो तुम्हें उन रचनाओंसे परिपूर्ण पाये जो उसके सर्जनकारी प्रकाशको धारण करनेके लिये आवश्यक हैं।

कल्पना एक चाकूके समान है जो अच्छे या बुरे कामोंके लिये बरता जा सकता है। यदि तुम सदा इस विचार और भावमें निवास करो कि तुम्हारा रूपांतर होनेवाला है तो इससे तुम योगकी प्रक्रियामें सहायक होगे। इसके विपरीत, यदि तुम उदास हो जाते हो और यह रोना रोते हो कि तुम योग्य नहीं हो अथवा तुम उपलब्धिको आयत्त करनेमें असमर्थ हो, तो तुम अपनी सत्ताको विषसे भरते हो। इस अत्यंत महत्त्वपूर्ण सत्यको ध्यानमें रखकर ही मैं यह कहते कभी नहीं थकती कि चाहे कुछ भी हो जाय तुम, उदास कभी मत हो। बल्कि इस अटूट आशा और विश्वासमें निवास करो कि जो कार्य हम कर रहे हैं वह सफल होगा। दूसरे शब्दों-में, श्रीअरविंदमें तुम्हारी श्रद्धा तुम्हारी कल्पनाको निर्धारित करे। क्या ऐसी श्रद्धामें ही यह आशा और विश्वास उपस्थित नहीं है कि श्रीअरविंद-

का संकल्प पूरा होकर रहेगा, कि उनके रूपांतर-कार्यका परिणाम परम विजयके सिवा और कुछ नहीं हो सकता और कि जिसे वे अतिमानसिक जगत् कहते हैं वह इसी भूतलपर उतरेगा तथा अभी और इसी जीवनमें हममें चरितार्थ होगा ?

निष्काम प्रशंसा

भगवान्‌को अभिव्यक्त करनेवाली किसी भी चीजको मान्यता देनेमें लोग इतने अनिच्छुक होते हैं कि वे हमेशा दोष निकालनेके लिये, ऊपरसे दीखनेवाली भूलोंको खोजनेके लिये और जो ऊंची चीज है उसे भी अपने स्तरतक उतार लानेके लिये बड़े सतर्क रहते हैं। कोई उनसे बढ़ जाय तो बहुत क्रुद्ध हो उठते हैं और जब वे कुछ ऊपरी त्रुटियां पा लेते हैं तो बहुत खुश होते हैं। लेकिन वे भूल जाते हैं कि अगर वे अपने असंस्कृत भौतिक मनके साथ धरतीपर उपस्थित भगवान्‌के सामने भी आ जायं तो वे उनमें भी असंस्कृत ही देखेंगे। वे ऐसी चीज देखनेकी आशा नहीं कर सकते जिसे देखनेमें वे असमर्थ हैं या जिसे देखनेके लिये वे अनिच्छुक हैं। और वे भगवान्‌के नामोंकी ऊपरी सतहको ही देखें तो निश्चय ही गलत राय बना बैठेंगे, क्योंकि वे यह बात कभी न समझ पायंगे कि जो एकदमसे मानव क्रिया-कलाप मालूम होता है वह सचमुच उससे बहुत भिन्न है और एक अ-मानव स्रोतसे आता है।

भगवान् जब धरतीपर कामके लिये प्रकट होते हैं तो ऐसा लगता है कि वे पूरी तरह मानव रीतिसे काम कर रहे हैं लेकिन सचमुच ऐसा नहीं होता। प्रत्यक्ष और भासमानके मानकोंसे उनका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। परन्तु मनुष्य अपनी हीनतापर पूरी तरह मुग्ध होते हैं और किसी उच्चतर सत्यके आगे झुकने या उसे स्वीकार करनेके लिये बिलकुल तैयार नहीं होते। अपने अन्दरसे जिसे कोई चीज उच्चतर सत्य मानती है उसमें दोष ढूंढनेकी यह इच्छा, उसकी आलोचना करने और उसपर संदेह करनेका दुर्भावनापूर्ण आवेग मानवताकी मुहर है — यह क्षुद्र मानवका चिह्न है। जब कि दूसरी ओर, सत्य, सुन्दर, उदात्तके लिये सहज प्रशंसा निकलती है तो यह एक तरहकी भागवत अभिव्यक्ति है। तुम निश्चित रूपसे जान लो कि जब तुम किसी चीजको दिव्य स्रोतसे आया हुआ अनुभव करते

हो और तुम्हारा हृदय उसकी प्रशंसा और आराधना करनेके लिये उछल पड़ता है तो तुम्हारी भौतिक चेतना चैत्य पुरुषके, तुम्हारी अन्तरात्माके संपर्कमें आयी है।

जिस क्षण तुम इस प्रकारकी चीजके सामने आओ उसी क्षण तुम्हारी आंखोंमें आनन्दके आंसू छलक आने चाहिये। वह बहुत तुच्छ व्यक्ति है जो ऐसे समय रुककर यह सोचता है, "हां, यह बड़ी चीज है लेकिन इसकी सराहना तभी की जा सकती है जब यह मेरे हिस्सेमें आ जाय। काश ! मैं इस गुणका भाग्यवान स्वामी होता, इस उच्चतर अभिव्यक्तिका यंत्र होता।" तुम अपने अहंकी चिन्ता किसलिये करो जब कि मुख्य बात तो यह है कि भगवान् अपने-आपको जहां और जैसे चाहें अभिव्यक्त करें? जब वे इस तरह अभिव्यक्त हों तो तुम्हें परितोषका अनुभव होना चाहिये। तुम्हें अपने दयनीय व्यक्तित्वके तंग बंधनोंको तोड़कर निस्स्वार्थ आनन्दमें ऊंची उड़ान भरनी चाहिये। यह आनन्द इस बातका सच्चा चिह्न है कि तुम्हारी अन्तरात्मा जाग गयी है और उसने सत्यका बोध पा लिया है। और तभी तुम ऊपरसे उतरते हुए सत्यके प्रभावके प्रति खुल सकते हो और उसके द्वारा गढ़े जा सकते हो। मुझे ऐसे अवसर याद हैं जब मैं छोटे बच्चोंको, यहांतक कि शिशुओंको भी कोई ऐसी चीज करते देखती जो दिव्य रूपसे सुन्दर और सरल हो तो मेरी आंखोंमें पानी आ जाता था। उस आनन्दका अनुभव करो तो तुम अपने बीच भगवान्‌की उपस्थितिका लाभ उठा सकोगे।

पीछे हटना

तुममेंसे अधिकांश लोग अपनी सत्ताके ऊपरी भागमें रहते हैं और बाहरी प्रभावोंके स्पर्शके लिये खुले होते हैं। तुम लोग इस प्रकार रहते हो मानों अपने शरीरसे बाहरकी ओर बहुत कुछ फैले हुए हो और जब तुम ऐसे किसी व्यक्तिसे मिलते हो जो वैसे ही फैला हुआ होता है पर होता है तुम्हारे लिये दुःखदायी, तब तुम उद्विग्न हो उठते हो। इस सारी तकलीफका कारण यह होता है कि तुम पीछेकी ओर हट आनेके अभ्यासी नहीं होते। तुम्हें बराबर ही अपने अंदरकी ओर वापस हट आना चाहिये — भीतर गहराईमें पैठ जाना सीख लो — पीछे हट जाओ और तुम सुरक्षित हो जाओगे।

बाहरी जगत्में जो सामान्य शक्तियां काम कर रही हैं उनके हाथोंमें अपने-आपको मत छोड़ो। अगर तुम्हें कोई कार्य खूब जल्दी भी करना हो तो एक क्षणके लिये पीछे हट आओ, तब तुम देखोगे और आश्चर्यचकित हो जाओगे कि कितनी जल्दी और कितनी अधिक सरलताके साथ तुम्हारा काम पूरा हो जाता है। अगर कोई तुमसे नाराज हो तो उसके क्रोधके स्पंदनोंके जालमें मत फंस जाओ, बल्कि पीछेकी ओर हट-भर आओ और उसका क्रोध कोई आधार या प्रत्युत्तर न पानेके कारण काफूर हो जायगा। सर्वदा अपनी शांति बनाये रखो, उसे खोनेके सभी प्रलोभनों (प्रबल कारणों) का विरोध करो। बिना पीछे हटे कभी कोई निर्णय मत करो, बिना पीछे हटे कभी एक शब्दतक मत बोलो, बिना पीछे हटे कभी किसी काममें मत कूदो। सामान्य संसारसे संबंधित जो कुछ भी है वह सब क्षणिक और नाशवान् है, इसलिये उसमें ऐसी कोई चीज नहीं जिसके कारण तुम्हें बेचैन होनेकी जरूरत हो। जो कुछ स्थायी, सनातन, अमर और अनंत है — वही वास्तवमें इस योग्य है कि हम उसे पावें, जीतें, अपने अधिकारमें रखें। और वह है दिव्य ज्योति, दिव्य प्रेम, दिव्य जीवन — फिर वही है 'सर्वोच्च शांति', 'पूर्ण आनंद' और पृथ्वीपर प्राप्त 'समस्त प्रभुत्व' जिसका मुकुट-मणि है 'पूर्ण अभिव्यक्ति'। जब तुम यह समझ जाओगे कि सभी वस्तुएं सापेक्ष हैं, अर्थात्, अपने-आपमें उनका कोई अस्तित्व नहीं, वे अपने अस्तित्वके लिये दूसरी किसी चीजपर निर्भर हैं, तो कुछ भी क्यों न घटे, तुम पीछे हट सकोगे और वहांसे उसे देख सकोगे; उस समय तुम शांत-स्थिर रहकर भागवत शक्तिको पुकार सकते और उत्तरकी प्रतीक्षा कर सकते हो। उस समय तुम ठीक-ठीक यह जान जाओगे कि तुम्हें क्या करना चाहिये। अतएव, याद रखो कि जबतक तुम बहुत शांत-स्थिर नहीं हो जाओगे तबतक तुम उत्तर नहीं पा सकोगे। इस आंतरिक शांतिका अभ्यास करो, कम-से-कम थोड़ा आरंभ कर दो और तबतक अभ्यास करते रहो जबतक तुम्हें शांत रहनेकी आदत न पड़ जाय।

वैज्ञानिक और योगीका ज्ञान

साधारण चेतनाका चरम बिन्दु है विज्ञान्। विज्ञानके लिये, जो कुछ धरतीपर है सब सत्य है — केवल इसीलिये कि वह है। वह जिसे प्रकृति

कहता है, वही उसके लिये अन्तिम वास्तविकता है, और विज्ञानका लक्ष्य है ऐसे सिद्धान्त बनाना जो प्रकृतिके कार्योंकी व्याख्या कर सकें। इसलिये वह जहांतक भौतिक मन जा सकता है उतना ऊंचा जाता है और वह जिसे सत्य और वास्तविक जगत् मानता है उसके कारण जाननेकी कोशिश करता है। लेकिन वास्तवमें वह "कारणों"को "परिणामों"के अनुकूल बना लेता है क्योंकि वह पहले ही मान चुका है कि जो है वह सत्य है, वास्तविक है और वह मनके द्वारा उसकी व्याख्या करना चाहता है। लेकिन यौगिक चेतनाके लिये यह जगत् अन्तिम वास्तविकता नहीं है। वह मनके ऊपर अधिमानस और फिर अतिमानसतक चढ़कर प्रथम सत्योंके जगत्में प्रवेश करता है और वहांसे नीचे देखकर यह जान लेता है कि यहां उन सत्योंका क्या हुआ है। वे कितने विकृत हो गये हैं, कितने मिथ्या हो गये हैं! इसलिये योगीके लिये तथाकथित तथ्योंका जगत् एकमात्र सत्य नहीं, मिथ्यात्व है। यह इसे जो होना चाहिये वह नहीं है बल्कि उससे लगभग उल्टा है; जब कि वैज्ञानिकके लिये यह एकदम मूल-तत्त्व है।

चीजोंको बदलना हमारा उद्देश्य है। वैज्ञानिक कहता है: चाहे जो हो, वह स्वाभाविक है और उसका हृदय-परिवर्तन नहीं किया जा सकता। लेकिन, वास्तवमें, वह साधारणत: जिन विधानोंकी बात करता है वे उसके अपने मनके बनाये हुए हैं; वह चूंकि प्रकृतिको उसके वर्तमान रूपमें आधार मान लेता है इसलिये उसकी दृष्टिसे चीजें पूरी तरहसे नहीं बदलतीं, नहीं बदल सकतीं। लेकिन, हमारे अनुसार, यह सब बदला जा सकता है, क्योंकि हम जानते हैं कि इस सबके ऊपर कोई चीज है—एक दिव्य सत्य है जो अभिव्यक्त होना चाहता है। यहां कोई निश्चित विधान नहीं है; अपनी हठधर्मीके क्षणोंको छोड़कर विज्ञान भी यह मान लेता है कि उसके विधान केवल मानसिक रचनाएं हैं। जगत्में केवल उदाहरण होते हैं और अगर मन अपने-आपको सब परिस्थितियोंमें लगा सके तो देखेगा कि कोई दो उदाहरण एक-से नहीं होते। विधान मनकी सुविधाके लिये होते हैं, लेकिन अतिमानसकी पद्धति और ही है, यह हम भी कह सकते हैं कि वह मनसे उल्टी होती है। अतिमानसिक सिद्धिमें हर चीजके अन्दर उसका अपना सत्य होगा जो हर क्षण, पहले जो हो चुका है और आगे जो होनेवाला है उससे बंधे बिना अभिव्यक्त होगा। भूत और भविष्यकी वह जटिल कड़ी जो प्रकृतिको अपरिवर्तनशील नियतिवादका रूप देती है, वह पूरी तरह मनकी कल्पनाके कारण है और इस बातका प्रमाण नहीं है कि जो कुछ है अनिवार्य है और इससे भिन्न हो ही नहीं सकता।

योगीका ज्ञान इस भयानक सिद्धान्तका भी उत्तर है कि जो कुछ होता

है, सीधा भगवान्का कार्य होता है। एक बार तुम अतिमानसतक पहुंच जाओ तो तुरन्त देखोगे कि संसार विकृत और मिथ्या है। अतिमानसिक सत्यने बिलकुल अभिव्यक्ति नहीं पायी है। तब फिर संसार भगवान्की खरी अभिव्यक्ति कैसे हो सकता है? केवल तभी जब अतिमानस यहां स्थापित होकर शासन करने लगे, तभी यह कहा जा सकता है कि परम पुरुषकी इच्छा प्रामाणिक रूपसे अभिव्यक्त हो रही है। साथ ही हमें संसार-के मिथ्यात्वके बारेमें उस भयंकर अतिरंजनसे भी बचना चाहिये जो उन लोगोंमें उठता है जो उच्चतर चेतनामें उठ गये हैं। शंकर और उन जैसों-के साथ जो हुआ वह यह था कि उन्होंने सत्य चेतनाकी एक झांकी पायी। उन्होंने इस संसारके मिथ्यात्वको तुलनामें इतना उभारा कि उन्होंने घोषणा कर दी कि संसार केवल मिथ्या ही नहीं है बल्कि वास्तवमें एक असत् भ्रम है जिसे पूरी तरह त्याग देना चाहिये। इसके विपरीत, हम उसका मिथ्यात्व स्वीकार करते हैं लेकिन साथ ही यह भी अनुभव करते है कि भ्रम मानकर त्यागनेकी जगह इसे बदलना चाहिये। यहां सत्य गलत रूपमें आ गया है। संसार सचमुच भागवत सत्यको अभिव्यक्त करनेके लिये है, परन्तु बीचमें कोई ऐसी चीज टपक पड़ी है जिसने उसे विकृत कर दिया है। उस सत्यको प्रकट करना ही हमारा योग है।

संयोग

"संयोग" शब्दसे हम क्या समझते हैं? संयोग व्यवस्था और सामंजस्यका उल्टा हो सकता है। सच्चा सामंजस्य केवल एक ही है और वह है अति-मानसिक सामंजस्य — 'सत्य' का राज्य, भागवत विधानकी अभिव्यक्ति। इसलिये अतिमानसमें संयोगका कोई स्थान नहीं होता। लेकिन निचली प्रकृतिमें परम सत्य धुंधला जाता है और इस कारण उद्देश्य और कर्मकी दिव्य एकताका अभाव हो जाता है और इन्हींसे तो सुव्यवस्था बनती है। प्रकृतिके ऊपर उसका राज्य है जिसे हम संयोग कह सकते हैं — अर्थात्, वह एक ऐसा क्षेत्र है जहां एक और सुनिश्चित लक्ष्य न रखनेवाली शक्तियां आपसमें टकराती हुई मिलती हैं। इस प्रकार साथ-साथ दौड़-भाग करती हुई शक्तियोंसे जो पैदा होता है वह अस्तव्यस्तता, बेसुरेपन और मिथ्यात्वका परिणाम — संयोगकी उपज होता है। संयोग किसी चीजके

कारण न जाननेवाले अज्ञानको ढकनेके लिये एक धारणामात्र नहीं है। वह निम्न प्रकृतिके अनिश्चित-से झमेलेका नाम है जिसमें भागवत सत्यकी शांत एकाग्रता नहीं होती। जगत् अपने भागवत स्रोतको भूल गया है और अहंकारकी शक्तिकी रणस्थली बन गया है; लेकिन अब भी उसके लिये यह संभव है कि 'सत्य'की ओर खुले, अपनी अभीप्साके द्वारा उसे नीचे उतार लाये और संयोगके भंवरमें परिवर्तन ला सके। अपने मानसिक संयोजन, अनुभव और सामान्य अनुमान करनेके तरीकेके कारण लोग जिसे घटनाओंका यांत्रिक परिणाम मानते हैं वह सचमुच विभिन्न सूक्ष्म शक्तियों-द्वारा लाया जाता है जिनमेंसे हर एक अपनी इच्छा पूरी करना चाहती है। जगत् इन अदिव्य शक्तियोंके इतने आधीन हो गया है कि युद्ध किये बिना 'सत्य'की विजय नहीं हो सकती। उसका विजयपर अधिकार नहीं है: उसे मिथ्यात्व और विकारोंसे नाता तोड़ना होगा। इस विकृतिका एक सामान्य अंश यह धारणा है कि चूंकि अंततोगत्वा सभी चीजोंका मूलस्रोत भगवान् हैं इसलिये सभी सामयिक क्रियाएं भी सीधी भगवान्से ही आयी हैं। तथ्य यह है कि यहां, निम्न प्रकृतिमें, भगवान् एक वैश्व अविद्याके परदेसे ढके हुए हैं और यहां जो कुछ होता है वह सीधा भागवत ज्ञानसे नहीं आता। यह कहना कि हर चीज समान रूपसे भगवान्की इच्छासे है बहुत आसान है और यह उन विरोधी प्रभावोंका सुझाव है जो चाहते हैं कि सृष्टि उसी कुरूपता और अव्यवस्थाके साथ जोरसे चिपकी रहे जिनमें उसे पहुंचा दिया गया है। तुम पूछोगे कि फिर क्या किया जाय? सुनो, ऊपरसे 'प्रकाश'को नीचे बुलाओ और अपने-आपको 'रूपांतर'की शक्तिके प्रति खोलो। अनगिनत बार तुम्हें दिव्य शांति दी जा चुकी है और अनगिनत बार ही तुम उसे खो चुके हो — क्योंकि तुम्हारे अंदर कोई चीज अपने अहंकारमय तुच्छ नित्यक्रमको समर्पित करनेसे इंकार करती है। अगर तुम सदा जागरूक न रहो तो ऊपरसे आनेवाले 'सत्य'से भर जानेके बाद भी तुम्हारी प्रकृति अपनी पुरानी पुनरुद्धारवंचित आदतोंकी ओर वापिस चली जायगी। प्राचीन और नवीनका संघर्ष ही योगकी मुख्य पहेली है; लेकिन अगर तुम अपने अंदर प्रकट किये जानेवाले परम 'विधान' और 'व्यवस्था'के प्रति निष्ठा रखनेके लिये कटिबद्ध हो तो धीरे-धीरे तुम्हारे वे भाग, जो संयोग-के क्षेत्रसे संबंध रखते हैं, परिवर्तित होते जायंगे और दिव्य बन जायंगे।

देश और कालके कई प्रकार — प्राणिक जगत्पर निर्भयता

देश और काल केवल मानसिक चेतनामें ही पहले-पहल नहीं दिखायी देते और न उनका अंत ही वहां होता है: ये अधिमानसमें भी होते हैं। सारे विश्वकी विभिन्न सत्ताओंके बाहरी रूपोंके साथ ये लगे हुए हैं, बल्कि यों कहें कि ये वास्तवमें सभी आकारोंके सांचे हैं। पर प्रत्येक स्तर या केंद्रमें इनका स्वरूप बदल जाता है, प्रत्येक जगत्का अपना निजी देश और अपना निजी काल होता है।

इस तरह मानस-लोकमें जो देश और काल होता है वह हमारे इस भौतिक जगत् — पृथ्वीके देश और कालके जैसा नहीं होता। मानस-लोकमें हम अपनी इच्छाके अनुसार, एकदम अपनी मौजके अनुसार आगे या पीछे चल-फिर सकते हैं। वहां जैसे ही तुम किसी व्यक्तिकी बात सोचते हो वैसे ही वह तुम्हारे पास उपस्थित दीखता है। और जब कोई व्यक्ति तुम्हारे एकदम निकट होता है, पर तुम किसी दूसरेकी बात सोचनेमें डूबे होते हो तो वह पहला तुमसे अत्यंत दूर होता है। वहां यह सब, सारी क्रियाएं तुरत-फुरत होती हैं, क्योंकि वहांके देश-कालकी अवस्थाओंमें कोई बाधा-विघ्न नहीं होता, वहां सर्वत्र पूर्ण स्वाधीनता ओत-प्रोत रहती है। परंतु, इसके विपरीत, प्राण-लोकमें ऐसी बात नहीं होती। वहां किसी भी क्रियाके लिये तुम्हें अपनी इच्छा-शक्तिका प्रयोग करना पड़ता है: वैसे वहां भी दो वस्तुओंके बीचकी दूरी प्रायः मनोमय जगत्की दूरीकी तरह ही कम कठोर होती है, लेकिन वहांकी क्रिया उतनी बाधाहीन और तुरत-फुरत होनेवाली नहीं होती: वहां कोई क्रिया संपन्न होनेके लिये अपनी इच्छा-शक्तिका प्रयोग करना आवश्यक होता है।

जब मनुष्य योग करना आरंभ करता है तब देश और कालके इन विभिन्न रूपोंका ज्ञान प्राप्त करना, व्यावहारिक दृष्टिसे, बड़ा उपयोगी होता है। जब मनुष्य अपने प्राणमय या मनोमय शरीरमें जाता है, तब वहां ठीक-ठीक कार्य करनेमें असमर्थ होता है और कई तरहकी भूलें कर बैठता है। जैसे, जब तुम अपने स्वप्न-लोकोंमें विचरण करते हो तब तुम्हें यह याद ही नहीं रहता कि तुम प्राण-जगत्के देश और कालमें हो और तुम ठीक उसी तरह कार्य करते हो जैसे तुम स्थूल शरीरमें रहते हुए करते हो। यदि तुम्हें उन स्तरोंकी चीजोंकी अवस्थाओंका आवश्यक ज्ञान हो तो तुम बड़ी आसानीसे उन प्राणमय सत्ताओंसे दूर, स्वतंत्र रह सकते

हो जो तुम्हें संत्रस्त कर डालती और भयावह दुःस्वप्न दिखाती हैं। प्राणमय जगत्के देश और कालमें होनेवाली क्रियाओंकी एक विशेषता यह है कि उस लोककी सत्ताएं अपने इच्छानुसार भयंकर रूप ले सकती और तुम्हारे अंदर भीषण भयका संचार कर सकती हैं। यह तुम्हारे ऊपर आक्रमण करने और अधिकार जमानेका उनका अत्यंत शक्तिशाली उपाय होता है। उनके इस कौशलसे छुटकारा पानेके लिये यह आवश्यक है कि हम उस समय यह याद रखें कि उनकी भय दिखानेकी यह शक्ति झूठी है और हम उस समय भयको अपने पास न फटकने दें। जब तुम साहसके साथ उनका सामना करते हो, जरा भी इतस्ततः नहीं करते और सीधे उनकी आंखोंमें ताकते हो तो उसी क्षण मानों उनकी तीन-चौथाई शक्ति काफूर हो जाती है। और तुम यदि सहायताके लिये मुझे पुकारो तब तो उनकी रही-सही बाकी शक्ति भी स्वयं विलीन हो जाती है और वे भाग खड़ी होती हैं अथवा विलुप्त हो जाती हैं। मेरे एक परिचित व्यक्ति थे, उन्हें अपने प्राणमय शरीरमें निकल जानेकी आदत थी। उन्होंने एक दिन आकर कहा कि रोज ही स्वप्नमें उनके सामने एक बहुत बड़ा बाघ आ खड़ा होता है और वह उनकी रातोंको बड़ा भयानक बना देता है। मैंने उनको सलाह दी कि आप अपना सारा भय झाड़ फेंकिये, सीधे उस पशुकी ओर चले जाइये और अपनी नजर उसके चेहरेपर अच्छी तरह गड़ा दीजिये। अगर आवश्यक प्रतीत हो तो पूर्ण विश्वासके साथ सहायताके लिये पुकारिये। उन्होंने ऐसा ही किया और आश्चर्यकी बात है कि एकाएक बाघ छोटा होने लगा और अंतमें एक छोटी-सी नगण्य बिल्ली बन गया!

तुम्हें शायद इस बातका कोई अंदाज नहीं होगा कि प्राणमय सत्ताओंकी आंखोंमें निर्भयतापूर्वक ताकने-भरसे कितना बड़ा, प्रायः जादूका-सा परिणाम निकलता है। इस पृथ्वीपर भी, तुम यदि प्राणमय शक्तियोंके इन सब अवतारोंके साथ, जिन्हें कि हम साधारण तौरपर जीव-जंतु कहते हैं, इसी तरह व्यवहार करो तो तुम उन्हें आसानीसे वशमें कर सकते हो, इसमें कोई संदेह नहीं। अगर तुम्हारे सामने एक बाघ आ जाय और तुम बिना कांपे उसकी आंखोंमें सीधे ताको तो वह तुरत तुम्हारे सामनेसे भाग खड़ा होगा। यदि तुम जरा भी भयभीत हुए बिना एक सांपकी नजरोंमें अपनी नजर गड़ा दो तो वह तुम्हें डस नहीं सकेगा। परंतु तुम यदि सांपकी ओर आंख गड़ाकर देखो और साथ-ही-साथ तुम्हारे पांव भी थरथराते हों तो उससे कोई लाभ न होगा। यह अत्यंत आवश्यक है कि तुम्हारे शरीरमें कहीं तनिक भी कंपन न हो और तुम बिलकुल निर्भय बने

रहो। जब सांप तुम्हारे सामने आ जाय, तुम उसकी नजरोंको अपनी नजरोंसे कैद कर लो, पर यदि वह तुम्हें प्रभावित करनेके लिये अपना सिर हिलाते हुए बैठ जाय और तुम्हें भीषण भयसे भर देनेकी चेष्टा करे तो तुम्हें शांत-स्थिर, बने रहना चाहिये। पशुओंको मनुष्योंकी आंखोंमें एक ज्योति दिखायी देती है और यदि कोई उस ज्योतिको ठीक ढंगसे उनके ऊपर प्रयुक्त करे तो वे उसे सह नहीं सकते, मनुष्यकी दृष्टिमें एक ऐसी शक्ति होती है जो उन्हें निःशक्त बना देती है बशर्त्ते, कि वह दृष्टि खूब स्थिर और भयसे एकदम खाली हो।

अतएव, संक्षेपमें, दो बातें बराबर याद रखो : कभी, किसी अवस्थामें भी भयभीत मत होओ और सभी परिस्थितियोंमें सच्ची सहायताको पुकारो और वह तुम्हारी शक्तिको सौगुना अधिक प्रबल बना देगी।

भगवान्‌के साथ एकताके द्वारा ज्ञान— जगत्‌में भागवत संकल्प

चेतनामें किसी भी चीजके साथ तादात्म्यके द्वारा उसकी जानकारी पानेकी क्षमता है। लेकिन भागवत चेतना केवल जानती ही नहीं, उसे ज्ञान होता है, वह प्रभाव डालती है। केवल जानना ज्ञान नहीं है। उदाहरणके लिये, किसी स्पन्दनके बारेमें जानकारी होनेका मतलब यह नहीं है कि तुम उसके बारेमें सब कुछ जानते हो। जब चेतना भागवत चेतनामें भाग लेती है तभी वह किसी वस्तुके साथ तादात्म्य साधकर पूरा ज्ञान प्राप्त कर सकती है। साधारणतः, तादात्म्य ज्ञानकी जगह अज्ञानकी ओर ही ले जाता है, क्योंकि चेतना जो बनती है उसीमें खो जाती है और ठीक कारणों, सह-गामियों और परिणामोंके बारेमें विचार नहीं कर सकती। उदाहरणके लिये, तुम क्रोधकी एक गतिके साथ तादात्म्य करते हो और तुम्हारी सत्ता एक क्रोधमय स्पन्दन बन जाती है—अन्धी, अंधाधुंध और हर चीजके बारे-में विस्मरणशील। तुम सारी प्रक्रियाको जरा पीछे हटकर, आवेगमय खल-बलीके बीचमें भी अनासक्त रहकर ही एक जाननेवाली आंखसे देख सकते हो। चेतनाकी साधारण स्थितिमें किसी चीजका ज्ञान उससे जरा पीछे हटकर, उसके साथ एक हुए बिना निरीक्षण करनेसे पाया जाता है। लेकिन भागवत चेतना अपने-आपको वस्तुके साथ पूरी तरह एक करके ही ज्ञान

प्राप्त करती है, क्योंकि वह हमेशा हर तथ्यके अन्दर स्थित मौलिक सत्य या विधानके साथ एक होती है। और वह केवल जानती ही नहीं है बल्कि जाननेके द्वारा जो करना चाहती है वह करवा भी लेती है। सचेतन होने-का अर्थ है प्रभावशाली होना — उसकी हर एक गति सर्वशक्तिमत्ताकी एक कौंध होती है जो प्रकाशित करनेके अतिरिक्त सत्य-प्रकृतिके द्वारा आदिष्ट लक्ष्यकी ओर ले जाती है।

तुम्हारी साधारण चेतना निश्चेतनाके साथ बहुत ज्यादा मिली होती है — वह घपलेबाजी करती है, तनाव पैदा करती है और निष्फल हो जाती है जब कि परम प्रभुके साथ एक होकर तुम दिव्य प्रकृतिमें भाग लेते हो और जब कभी किसी चीजको जानना चाहते हो और उसके साथ तादात्म्य कर लेते हो तो उसके बारेमें पूरा ज्ञान प्राप्त कर लेते हो। हां, आवश्यक रूपसे इसका यह अर्थ नहीं है कि तुम भागवत चेतनाकी सभी अन्तर्वस्तुओं-को पा लोगे। तुम्हारी गतिविधि तो सत्य हो जाती है परन्तु तुम भगवान्-की नानाविध क्रियाओंकी समृद्धि नहीं पाते। फिर भी, अपने क्षेत्रमें, तुम ठीक-ठीक और वस्तुओंके सत्यके अनुसार देख पाते हो और यह निश्चित रूपसे योगकी परिभाषाके "तादात्म्यद्वारा ज्ञान"से बढ़कर है। क्योंकि, कई साधना-प्रणालियां जो तादात्म्य सिखाती हैं वह तुम्हारी दृष्टिकी सीमाओंको विस्तृत तो करता है पर वस्तुओंके अन्तरतम हृदयतक नहीं पहुंचता: वह उस वस्तुके अन्दरसे देखता है मानों उसीका एक विलक्षण अंग हो। उदाहरण-के लिये, अगर तुम किसी पेड़के साथ तादात्म्य स्थापित कर लो तो तुम्हें उसके बारेमें वैसी ही जानकारी प्राप्त होगी जैसी स्वयं पेड़को होती है, लेकिन तुम पेड़के बारेमें सब कुछ नहीं जान पाते क्योंकि स्वयं पेड़के पास वह ज्ञान नहीं होता। तुम पेड़की आन्तरिक भावनाओंमें हिस्सा बंटा सकते हो लेकिन निश्चय ही तुम उस सत्यको नहीं समझ सकते जिसका वह प्रतीक है, ठीक वैसे ही जैसे तुम अपने स्वाभाविक 'स्व'के बारेमें सचेतन होकर अपने सच्चे भागवत सत्यको नहीं पा सकते जो तुम गुप्त रूपसे हो। लेकिन, अगर तुम भागवत चेतनाके साथ एक हो जाओ, तो तुम जान सकते हो — पेड़ क्या अनुभव करता है उसके अतिरिक्त, उसके पीछे स्थित सत्य-को जान सकते हो। संक्षेपमें कहें तो तुम सब कुछ जान सकते हो क्योंकि भागवत चेतना सब कुछ जानती है।

वास्तवमें, यह ऐक्य प्राप्त करनेके बहुत-से तरीके हैं। यह अभीप्सा, समर्पण या किसी और तरीकेसे प्राप्त किया जा सकता है। इनमेंसे जिस किसी मार्गका आग्रह और सचाईके साथ अनुसरण किया जाय, वही उस ऐक्यकी ओर ले जायगा। अभीप्सा तुम्हारी सारी प्रकृतिका भगवान्तक

पहुंचनेके तुम्हारे संकल्पके पीछे पूरे जोरके साथ बढ़ना है। दूसरी ओर, कहा जा सकता है कि समर्पण अहंकारकी सभी सीमाओंको छोड़ना है। भगवान्‌के प्रति समर्पणका मतलब है अपनी संकुचित सीमाओंको त्यागकर अपने ऊपर भगवान्‌की चढ़ाई होने देना और अपने-आपको उनकी क्रीड़ाका केन्द्र बनने देना। लेकिन तुम्हें याद रखना चाहिये कि वैश्व चेतना, जो योगियोंको इतनी अधिक प्रिय है, भगवान् नहीं है: तुम चाहो तो अनुप्रस्थ सीमाएं तोड़ सकते हो लेकिन यदि तुम उससे आनेवाले विस्तार और वैश्व विविधताके भावको भगवान् मान बैठो तो यह तुम्हारी भूल होगी। आखिर वैश्व गति सत्य और मिथ्यात्वका मिश्रण है, इसलिये वहां रुकना अपूर्णतामें रहना होगा; क्योंकि तुम परात्पर 'सत्य'तक कभी पहुंचे बिना भी वैश्व चेतनामें भाग ले सकते हो। दूसरी ओर, भगवान्‌तक पहुंचनेके साथ वैश्व उपलब्धि भी होती है पर मिथ्यात्वसे मुक्त।

आत्म-समर्पण, चाहे वह 'विश्वरूप'के आगे हो या 'परात्पर'के, में सबसे बड़ी बाधा है व्यक्तिका अपनी सीमाओंसे अनुराग। यह एक स्वाभाविक प्रेम है, क्योंकि व्यक्तिगत सत्ताकी रचनामें ही सीमाओंपर केन्द्रित होनेकी वृत्ति रहती है। उसके बिना, विभिन्नताका कोई अर्थ ही न रह जाता — सब कुछ मिला-जुला रहता है जैसा कि प्रायः मन और प्राणकी चेतनाओंकी गतिमें होता है। शरीर ही इतना अधिक द्रव न होनेके कारण अलग व्यक्तित्व बनाये रखता है। लेकिन एक बार यह अलगाव स्थापित हो जाय तो उसे खोनेका भय घुस आता है — कई दृष्टियोंसे यह एक स्वस्थ वृत्ति है, परन्तु जब यह भगवान्‌से भी अलग रहना चाहती है तो इसका दुरुपयोग होता है। क्योंकि, सचमुच तुम भगवान्‌में अपना व्यक्तित्व खोते नहीं हो: तुम केवल अपने अहंकारको छोड़ते हो और सच्चे व्यक्ति बनते हो, दिव्य व्यक्ति बनते हो जो तुम्हारी भौतिक चेतनाकी रचनाकी तरह — जिसे सामान्यतः अपनी सत्ता माना जाता है — अस्थायी नहीं होता। भागवत चेतनाका जरा-सा स्पर्श मिलते ही तुम देखते हो कि इसमें कोई घाटा नहीं है। उसके विपरीत, तुम एक ऐसा व्यक्तिगत स्थायित्व पा लेते हो जो सैकड़ों शरीरोंकी मृत्यु और प्राण-मनके विकासके सभी प्रकारके उतार-चढ़ावके बावजूद स्थिर और स्थायी रहता है। इस रूपान्तरकारी स्पर्शके बिना तुम हमेशा भयभीत रहते हो; और यह साथ हो तो तुम्हारे अन्दर ऐसी शक्ति आ जाती है कि तुम अपनी भौतिक सत्ताको भी उसके व्यक्तित्व-को खोये बिना नमनीय बना सकते हो। अब भी, वह पूरी तरह जड़ तो नहीं है, वह दूसरोंकी सचेतन गतियोंको एक प्रकारकी सहानुभूतिके द्वारा अनुभव कर सकता है। यह सहानुभूति उनके सुख-दुःखके प्रति स्नायविक

प्रतिक्रियाका रूप ले लेती है : वह तुम्हारी आन्तरिक गतियोंको प्रकट कर सकती है -- यह तो जानी बात है न, कि चेहरा मनका सूचक या दर्पण होता है। लेकिन केवल भागवत चेतना ही शरीरको पर्याप्त रूपसे अनुकूल बना सकती है ताकि वह अतिमानसिक अमरताकी सभी गतियोंको प्रतिबिम्बित कर सके या यूं कहें, सच्ची अन्तरात्माकी अभिव्यक्ति बन सके और अपने-आप दिव्य बनकर, उस परम व्यक्तित्वके शिखरतक जा पहुंचे जो भौतिक रूपसे भी मृत्यु और विघटनकी आवश्यकतासे ऊपर उठ सके।

अन्तमें, एक बातकी ओर तुम्हारा ध्यान खींचना चाहूंगी क्योंकि वह बहुत बार सच्चे ऐक्यमें बाधा देती है। यह मानना एक बड़ी भूल है कि भागवत संकल्प हमेशा संसारमें खुले तौरपर काम करता है। जो कुछ होता है वह सचमुच दिव्य नहीं होता : भागवत संकल्प अपनी अभिव्यक्तिमें, उसे कार्यान्वित करनेवाली निम्न शक्तियोंके द्वारा विकृत हो जाता है। वे ऐसे माध्यम हैं जो उसकी प्रेरणाको मिथ्या बनाकर परिणामको अदिव्य बना देते हैं। अगर जो कुछ होता है वह भागवत संकल्पकी सच्ची कार्यान्विति हो तो तुम जगत्‌की विकृतियोंको किस मदमें डालोगे?... यह नहीं कहा जा सकता कि भागवत संकल्प वैश्व 'अविद्या'का कारण नहीं हो सकता। वह सर्वशक्तिमान है और सभी संभावनाएं उसमें छिपी हैं : वह अपनी मौलिक दृष्टिसे जिस किसी चीजकी गुप्त आवश्यकता देखे उसीको प्रकट कर सकता है। और वास्तवमें संसारका सबसे पहला कारण है भगवान्, लेकिन हमें यह सावधानी बरतनी चाहिये कि इस तथ्यका अपने तुच्छ नैतिक मूल्योंके अनुसार निर्णय न करें। जब एक बार सृष्टिकी अवस्थाका निर्णय कर दिया गया और अविद्यामें उतरना स्वीकार कर लिया गया और इसे आधार बनाकर एकदम विरोधी दीखनेवाले तत्त्वमेंसे भगवान्‌की उत्तरोत्तर अभिव्यक्ति शुरू हुई तो एक प्रकारसे 'उच्चतर' और 'निम्नतर'का विभाजन भी हो गया। जगत्‌का इतिहास 'सत्य' और 'असत्य'का युद्ध बन गया जिसमें ब्योरेकी सभी चीजें भगवान्‌की विकसनशील क्रियाओंसे नहीं आती हैं बल्कि निर्म्नतर प्रकृतिके घोर प्रतिरोधके कारण उनका विकृत रूप है। अगर इस तरहका प्रतिरोध न होता तो जगत्‌में जीतनेके लिये कोई चीज न रहती, जगत् एक सामंजस्यपूर्ण, पूर्णसे पूर्णकी ओर निम्नतर यात्रा होता जब कि आज वह संघर्ष है -- जोखिम-भरे संयोगों, विभिन्न संभावनाओंका खेल है जिसमें भगवान्‌को सच्चे विरोध, सच्ची कठिनाईका सामना करना पड़ता है और प्रायः अन्तिम विजयके मार्गपर वास्तविक अस्थायी पराजय स्वीकारनी पड़ती है। लीलाकी इस वास्तविकताके कारण ही यह खेल एक निरा मजाक नहीं है। भगवान्‌की इच्छा 'अविद्या'की विरोधी शक्तियोंको

छूते ही विकृत हो उठती है। इसलिये हमें संसारको बदलने और एक नयी व्यवस्था लानेके प्रयासमें कभी भी ढील नहीं करनी चाहिये। हमें निष्क्रिय रूपसे यह सोचनेकी जगह कि जो कुछ होता है हमेशा अच्छे-से-अच्छा ही होता है, जागरूक रहकर भगवान्‌के साथ सहयोग करना चाहिये। सब कुछ व्यक्तिगत अभिवृत्तिपर निर्भर है। जो परिस्थितियां पैदा होने-वाली हैं उनके सामने तुम यथासंभव ऊंचे-से-ऊंची अभिवृत्ति धारण करो — अर्थात्, तुम अपनी चेतनाको अपनी पहुंचकी ऊंचे-से-ऊंची चेतनाके संपर्कमें ले आओ, — तो विश्वास रखो कि उस स्थितिमें जो कुछ होगा अच्छे-से-अच्छा होगा। लेकिन जैसे ही तुम इस उच्चतर चेतनासे निचले स्तरपर गिरे वैसे ही, यह तो स्पष्ट है, अच्छे-से-अच्छी चीज नहीं होगी क्योंकि तुम स्वयं अपनी अच्छी-से-अच्छी चेतनामें नहीं होगे। जैसा कि श्रीअरविंदने एक बार कहा था: "जो हुआ वह तो होना ही था, लेकिन इससे बहुत अच्छा हो सकता था।" चूंकि वह व्यक्ति जिसके साथ यह बात हुई अपनी उच्च-तर चेतनामें नहीं था, इसलिये और कोई विकल्प ही नहीं था, और कोई परिणाम संभव ही न था; लेकिन अगर वह भगवान्‌को नीचे उतार पाता तो यदि सामान्य स्थिति अनिवार्य होती तो भी वह किसी और ही रूपमें आती। सारा फर्क इस बातसे पड़ जाता कि तुम भागवत संकल्पकी प्रेरणाको किस तरह स्वीकार करते हो।

भागवत इच्छाकी वास्तविक पूर्ण भव्यतातक पहुंचनेके लिये तुम्हें बहुत ऊंचा उठना होगा; जबतक तुम अपनी निम्न प्रकृतिको उसके प्रति खोल नहीं देते तबतक वह 'सत्य' रूपमें प्रकट होना शुरू नहीं कर सकती। इसलिये, अस्थायी विजयके नीत्शेके मानकसे दिव्य और अदिव्यमें भेद करनेसे बचो। क्योंकि, जीवन एक ऐसा युद्ध-क्षेत्र है जिसमें भगवान् विस्तारमें तभी जीत पाते हैं जब निम्न प्रकृति विरोधी शक्तियोंका साथ देनेकी जगह उसकी प्रेरणाओंके प्रति ग्रहणशील हो। और तब भी परीक्षा बाहरीकी जगह भीतरी ज्यादा होती है: किसी भागवत गतिको बाहरी चिह्नोंसे नहीं नापा जा सकता — एक प्रकारका स्पन्दन उसकी उपस्थितिका भान देता है — बाहरी परीक्षाओंका कोई मूल्य नहीं, क्योंकि हो सकता है जो बाहरी दृष्टिसे अस-फलता है वह वास्तवमें भागवत उपलब्धि हो...। तुम्हें जो करना चाहिये वह यह है: अपने-आपको भागवत कृपाके सुपुर्द कर दो क्योंकि भगवान्‌ने पहली बार अविद्यामें घुसकर संसारको ऊपर उठानेके लिये कृपा और प्रेम-के रूपको ही स्वीकारा था। भगवान्‌का प्रेम 'रूपांतर'की परम शक्ति है। उसमें यह शक्ति इसलिये है क्योंकि उसने अपने-आपको 'रूपांतर'के लिये ही संसारको दिया है और इसीलिये हर जगह अभिव्यक्त है। जगत्‌को अपने

प्रथम 'सत्य'की ओर वापिस लानेके लिये ही उसने अपने-आपको न केवल मनुष्यमें, बल्कि एकदम अंधकारमय 'जड़-तत्त्व'के अणु-परमाणुओंमें भी भर दिया है। इस अवतरणको ही भारतीय शास्त्रोंमें परम बलि कहा गया है। लेकिन यह केवल मानव दृष्टिसे बलि है। मानव मन सोचता है कि अगर उसे ऐसा कुछ काम करना होता तो उसकी दृष्टिसे यह बहुत बड़ी आत्म-बलि होती। लेकिन भगवान् चाहे जो "बलि" क्यों न देता रहे, वह छोटा नहीं हो सकता, उसका अनन्त तत्त्व कभी कम नहीं हो सकता ...। तुम जिस क्षण भागवत प्रेमकी ओर खुलते हो, तुम्हें 'रूपांतर'की शक्ति भी मिल जाती है। लेकिन तुम इसकी मात्राको नहीं नाप सकते। असली महत्त्वपूर्ण चीज है सच्चा संपर्क; क्योंकि, तब तुम देखोगे कि उसके साथ सच्चा संपर्क तुम्हारी सारी सत्ताको भर देनेके लिये काफी है।

अतिमानस और अधिमानस

श्रीअरविंदका काम है धरतीका अद्भुत रूपांतर।

मनके ऊपर सचेतन सत्ताके कई स्तर हैं, उनमें वास्तविक दिव्य जगत् वह है जिसे श्रीअरविंद अतिमानस कहते हैं, यह 'सत्य'का जगत् है। लेकिन बीचमें वैश्व देवताओंका जगत् है जिसे श्रीअरविंद अधिमानस कहते हैं। अभीतक हमारे संसारपर अधिमानसका राज्य रहा है: ज्योतिर्मय चेतनामें यही सबसे ऊंचा स्तर है जहांतक मनुष्य पहुंच पाया है। इसीको परम प्रभु मान लिया गया और जो लोग वहां पहुंचे उन्होंने क्षण-भरके लिये भी उसके परम सत्य चेतना होनेमें शंका नहीं की। क्योंकि, साधारण मानव चेतना-के लिये उसकी भव्यता और उसकी दीप्तियां इतनी महान् हैं कि वह उन्हें देखकर चौंधिया जाता है और मान लेता है कि आखिर यही सत्यका शिखर है। लेकिन तथ्य यह है कि अधिमानस सच्चे भगवान्से बहुत नीचे है। वह 'सत्य'का स्वधाम नहीं है। यह केवल निर्माताओंका और उन सर्जक शक्तियों और देवोंका लोक है जिनके आगे लोग इतिहासके आरंभसे झुकते आये। और वास्तविक भगवान्के अभिव्यक्त न होने और पार्थिव प्रकृतिको रूपांतरित न करनेका कारण ठीक यही है कि अधिमानसको अतिमानस माना गया है। वैश्व देवता पूरी तरह 'सत्य चेतना'में नहीं रहते: वे उसके

साथ संपर्कमें होते हैं और उनमेंसे हर एक उसकी महिमाके एक पक्षका प्रतिनिधित्व करता हैं।

निःसंदेह, जगत्के इतिहासमें अतिमानसने भी क्रिया की है, परंतु हमेशा की है अधिमानसके द्वारा ही। जीवनको 'आत्मा'के अर्थोंमें केवल अतिमानसिक चेतना और शक्तिका अवतरण ही पूरी तरहसे नया रूप दे सकता है क्योंकि, अधिमानसमें संभावनाओंका खेल शुरू हो जाता है जो 'मन', 'प्राण' और जड़के निचले गोलार्धका आरंभ है जिसमें हम रहते हैं। और जहां कहीं सहज 'सत्य' और 'आत्मा'की स्वाभाविक अमोघ क्रिया नहीं बल्कि यह खेल होता है वहीं विकृति और अविद्याका बीज होता है।' अधिमानस अविद्याका क्षेत्र नहीं है, लेकिन वह 'उच्च' और 'निम्न'के बीचकी सीमा-रेखा है; क्योंकि, संभावनाओंकी लीला अभीतक विभक्त न सही, पृथक् चुनावकी संभावना वस्तुओंके 'सत्य'से भटकनेको संभव बना देती है।

इसलिये, अधिमानसमें मानवको दिव्य प्रकृतिमें रूपांतरित करनेकी क्षमता न तो हो सकती है, न है। उसके लिये, अतिमानस ही एकमात्र साधन है। जो चीज प्राचीन कालके जीवनको अध्यात्म बनानेके प्रयासोंसे हमारे योगको अलग करती है वह यही है कि हम जानते हैं कि अधिमानसकी दीप्तियां उच्चतम सत्य नहीं, मन और सच्चे भगवान्के बीच केवल बीचका कदम है।

सच्ची नम्रता – अतिमानसिक नमनीयता – आध्यात्मिक पुनर्जन्म

मुझसे बहुत बार इस बारेमें पूछा गया है, मैं संक्षेपमें पहले सच्ची नम्रताका अर्थ लूंगी, फिर अतिमानसिक नमनीयता और आध्यात्मिक पुनर्जन्म। नम्रता चेतनाकी वह अवस्था है जिसमें तुम्हारी उपलब्धि चाहे जितनी क्यों न हो, तुम्हें यह भान रहता है कि अब भी अनंत तुम्हारे सामने है। निःस्वार्थ प्रशंसाका विरल गुण, जिसके बारेमें मैं पहले कह चुकी हूं, सच्ची नम्रताका एक और पहलू है; क्योंकि शुद्ध अक्खड़पन या अहंकार ही हमेशा सामने रहनेवाले अनंतको भूलकर प्रशंसा करनेसे इंकार करता है और अपनी तुच्छ प्राप्तियोंसे आत्म-संतुष्ट रहता है। फिर भी, जब तुम्हारे अंदर कुछ भी सार-तत्त्व या दिव्य न हो, तभी नम्र होनेकी जरूरत नहीं होती, नम्रता तब भी जरूरी होती है जब तुम रूपांतरके मार्ग-

पर हो। यह विरोधाभास भले लगे, पर भगवान् जो पूर्णतः पूर्ण हैं वे ही पूर्णतः नम्र हैं — वे इतने नम्र हैं कि कोई और इतना नम्र नहीं हो सकता। वे अपनी ही प्रशंसा करनेमें नहीं लगे रहते : यद्यपि वे सब कुछ हैं फिर भी वे अपने-आपको उसमें ढूंढनेमें लगे रहते हैं जो उनका अपनापन नहीं है — इसीलिये उन्होंने अपनी सत्तामें उस विराट् सत्ताको बनाया है जो उनका अपना रूप नहीं है, हमारा मतलब इस प्रपंचमय जगत्से है। वे एक ऐसे रूपमें प्रवेश कर गये हैं जिसमें उन्हें अनंत कालतक उस अनंत पदार्थको ढूंढना पड़ता है जो उनकी अनंत चेतनामें पूरी तरह उनके अधिकारमें है।

उस 'जड़-पदार्थ'का रूपांतर जो प्रत्यक्ष रूपमें सबसे अधिक अदिव्य है, भगवान्की अकथनीय नम्रताकी सबसे कड़ी विजयोंमेंसे एक होगी। अतिमानसिक नमनीयता अनंततः रूपांतरित 'जड़-पदार्थ'का एक गुण है। जिस अतिमानसिक शरीरको यहां प्रकट करना है उसके चार मुख्य गुण होंगे : हल्कापन, अनुकूलनशीलता, नमनीयता और ज्योति। जब भौतिक शरीर पूरी तरह दिव्य हो जायगा तो ऐसा लगेगा कि मानों वह हमेशा हवापर चल रहा है, जिसमें कोई भारीपन या तमस् या निश्चेतना न होगी। उसकी अनुकूलनशीलताकी कोई सीमा न होगी : वह चाहे जिन परिस्थितियोंमें हो, तुरंत अपने-आपको उनकी मांगके अनुकूल बना लेगा, क्योंकि उसकी पूर्ण चेतना उस तमस् और अक्षमताको निकाल बाहर करेगी जो 'जड़-पदार्थ'को 'आत्मा'के लिये बोझ बना देती है। अतिमानसिक नमनीयता उसे भेदनेकी कोशिश करनेवाली हर विरोधी शक्तिके आक्रमणका सामना करनेके योग्य बना देगी : वह आक्रमणका निर्जीव प्रतिरोध न करेगी, बल्कि, इसके विपरीत, इतनी लचीली होगी कि उसे निकल जानेका रास्ता दे देगी और इस तरह उसे निष्क्रिय बना देगी। इस तरह कोई हानिकर परिणाम न आ पायेंगे और अत्यन्त घातक आक्रमण भी उसे सही-सलामत छोड़ जायेंगे। और अन्तमें, वह एक ज्योतिर्मय पदार्थमें बदल जायगा जिसका हर कोषाणु अतिमानसिक भव्यताको विकीरित करेगा। केवल वे ही नहीं जो इतने विकसित हैं कि उनकी सूक्ष्म दृष्टि खुल गयी हो, साधारण मनुष्य भी इस ज्योतिको देख सकेगा। यह हर एकके लिये एक स्पष्ट तथ्य होगा, रूपान्तरका एक स्थायी प्रमाण होगा जो बड़े-से-बड़े शंकाशील व्यक्तिको भी विश्वास दिला देगा।

शारीरिक रूपान्तर परम आध्यात्मिक पुनर्जन्म होगा — यह सामान्य भूतको एकदम दूर कर देगा। क्योंकि आध्यात्मिक पुनर्जन्मका अर्थ है अपने पिछले संबंधों, संसर्गों और परिस्थितियोंको दूर हटाकर, मानों हर अछूते क्षण

एक नया जीवन जीना। वह कर्मभोगसे, अपने पुराने कर्मोंकी धारासे मुक्त होगा: दूसरे शब्दोंमें कहें तो प्रकृतिकी सामान्य कार्य-कारणवाली गति-विधिके बन्धनोंसे मुक्त होगा। जब हम अपनी चेतनामें विजयी होकर भूतको एकदम काटकर अलग कर सकेंगे तो ये सब भूलें, अपराध, मूर्खताएं आदि जो अभीतक हमारी स्मृतिमें बहुत जीवन्त रूपमें चिपकी हुई हैं और जौंकोंकी तरह हमारा जीवन-रक्त पी रही हैं, अपने-आप झड़ जायंगी और हमें आनन्दमग्न और स्वतंत्र छोड़ जायंगी। यह स्वाधीनता केवल विचारोंकी चीज नहीं है; यह अत्यधिक ठोस, व्यावहारिक और भौतिक तथ्य हैं। सचमुच हम स्वतंत्र हैं, हमें कोई चीज नहीं बांधती, हमारे ऊपर कोई चीज असर नहीं करती और जिम्मेदारीका कोई भूत हमारे सिरपर सवार नहीं है। अगर हम प्रतिक्रिया करना चाहें, अपने भूतको मिटाना या उससे बाहर निकलना चाहें तो यह केवल पश्चात्ताप या इसी तरहकी और चीजोंके द्वारा नहीं हो सकता। हमें यह भूल जाना होगा कि अरूपान्तरित भूतका कभी अस्तित्व भी था, चेतनाकी एक ऐसी ज्योतिर्मय अवस्थामें प्रवेश करना होगा जो सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो। पुनर्जन्म लेनेका मतलब है, सबसे पहले, अपनी चैत्य चेतनामें प्रवेश करना जहां हम भगवान्‌के साथ एक होते हैं और कर्मफलसे पूरी तरह मुक्त होते हैं। चैत्यका परिचय पाये बिना यह संभव नहीं है; लेकिन एक बार हम अपनी सच्ची अन्तरात्माके बारेमें निश्चित रूपसे सचेतन हो जायं, जो हमेशा भगवान्‌को समर्पित रहती है, तो सब बन्धन समाप्त हो जाते हैं। तब जीवन निरन्तर नये रूपमें शुरू होता है और भूत हमारे साथ चिपका नहीं रहता। तुम्हें आध्यात्मिक पुनर्जन्मके उच्च शिखरोंका कुछ आभास देनेके लिये मैं कह सकती हूं कि तुम्हें ऐसी अनुभूति हो सकती है कि सारा विश्व सचमुच हर क्षण गायब होता रहता है और हर क्षण नया पैदा होता जाता है!

अतिमानसिक उपलब्धि

यह जाननेके लिये कि 'अतिमानसिक उपलब्धि' क्या है 'पहला कदम, पहली शर्त यह है कि हमें यह मालूम हो कि अतिमानसिक चेतना क्या है। जिनका, किसी-न-किसी रूपमें, उसके साथ सम्पर्क हुआ है उन्हें उस उपलब्धिकी कुछ झांकी मिली है। लेकिन जिन्हें झांकी नहीं मिली है वे भी जैसे

अतिमानसिक ज्ञानके लिये अभीप्सा करते हैं उसी तरह अतिमानसिक उप-लब्धिके लिये भी अभीप्सा कर सकते हैं। सच्चे ज्ञानका मतलब है तादात्म्य-के द्वारा जानना: तुम अतिमानसिक अवतरणके बारेमें तभी कुछ कह सकते हो जब तुम्हारा अतिमानसिक जगत्‌के साथ सम्पर्क हो जाय, उससे पहले नहीं। उससे पहले तुम बस यही कह सकते हो कि धरतीपर एक नयी सृष्टि होगी; यह बात तुम श्रद्धाके आधारपर ही कह सकते हो, क्योंकि उसका असली स्वरूप तुम्हें नहीं मालूम होता। और अगर तुमसे पूछा जाय कि सिद्धि क्या है तो तुम कह सकते हो कि, व्यक्तिगत रूपसे, उसका अर्थ है साधारण मानव चेतनाका दिव्य अतिमानसिक चेतनामें रूपान्तर।

चेतना एक सोपानकी तरह है: हर बड़े युगमें एक महान् व्यक्ति हुआ जो सीढ़ीमें एक डंडा और बढ़ा सकता था और इतनी ऊंचाईपर पहुंच सकता था जहांतक साधारण चेतना पहले कभी नहीं पहुंची। एक ऊंचे स्तरको प्राप्त करके भौतिक चेतनाकी पहुंचसे एकदम बाहर पहुंच जाना संभव है; लेकिन तब सीढ़ी बनी नहीं रहती, जब कि महान् युगोंकी महान् उपलब्धियां वे हैं जिन्होंने भौतिकसे नाता तोड़े बिना सोपानपर एक और सीढ़ी लगायी है। 'उच्चतम'तक पहुंचनेकी क्षमता और साथ-ही-साथ शिखरका निचली सतहके साथ सम्बन्ध जोड़ना महान् उपलब्धि है, न कि अलग-अलग स्तरों, लोकोंके सम्बन्ध काटकर बीच-बीचमें खालीपनको आने देना। ऊपर और नीचे जाना, उच्चतमका निम्नतमसे नाता जोड़ना ही सिद्धि या उपलब्धिका परम रहस्य है, और यही अवतारका काम है। जब-जब अवतार सोपानमें एक नयी सीढ़ी जोड़ता है तब-तब धरतीपर एक नयी सृष्टि जन्म लेती है...। अब जो सीढ़ी जोड़ी जा रही है उसे श्रीअरविन्दने 'अतिमानस'का नाम दिया है; उसके परिणामस्वरूप, चेतना अतिमानसिक लोकमें प्रवेश पा सकेगी और फिर भी अपना व्यक्तिगत रूप रख सकेगी और फिर यहां लौटकर एक नयी सृष्टि स्थापित करेगी। निश्चय ही, यही अन्तिम सीढ़ी नहीं है, इसके ऊपर सत्ताकी और भी श्रेणियां हैं; लेकिन अभी हम अतिमानसको नीचे लानेके प्रयासमें लगे हैं ताकि संसारका पुनर्गठन कर सकें, ताकि जगत्-को सच्ची दिव्य व्यवस्थामें वापिस ला सकें। यह तत्त्वतः एक व्यवस्थाकी सृष्टि होगी, हर चीज अपने सच्चे स्थानपर होगी; इस समय जो शक्ति क्रियाशील है वह है महासरस्वती — पूर्णव्यवस्थाकी देवी।

अविच्छिन्नता प्राप्त करनेका काम, जो ऊपर-नीचे चढ़ने-उतरनेकी क्षमता देता है और जो ऊपर है उसे नीचे भौतिकमें लाता है, चेतनाके अन्दर किया जाता है। अवतार यह काम करनेके लिये आता है। अगर उसे

कारागारमें बन्द कर दिया जाय, न वह किसीसे मिले-जुले और न कहीं हिले-डुले; फिर भी वह कार्य करता रहेगा, क्योंकि यह चेतनाके अन्दरका काम है, अतिमानस और भौतिक सत्ताको जोड़नेका काम है। उसे पहचाने जानेकी जरूरत नहीं होती, यह सचेतन सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये उसे किसी बाहरी शक्तिकी जरूरत नहीं होती। लेकिन, एक बार सम्बन्ध स्थापित हो जाय तो बाहरी जगत्‌पर उसका प्रभाव नव सर्जनके रूपमें अवश्य होगा — एक आदर्श नगरीसे लेकर पूर्ण जगत्‌तक पहुंचेगा।

अतिमानसिक अवतरण

क्या तुम जानते हो कि जब तुम्हें "सफल भविष्य" कहानेवाला फूल दिया जाता है तो उसका क्या मतलब होता है? वह इस आशाका — नहीं, इस प्रतिज्ञाका — प्रतीक होता है कि तुम संसारमें अतिमानसिक अवतरणमें भाग लोगे। क्योंकि वह अवतरण हमारे कार्यकी सफल परिणति होगी। उस अवतरणकी पूरी महिमा अभीतक नहीं आयी है अन्यथा जीवनका सारा चेहरा ही बदल जाता। धीरे-धीरे अतिमानस अपना प्रभाव डाल रहा है; कभी सत्ताका एक तो कभी दूसरा भाग उसके दिव्य स्पर्शका अनुभव करता है; लेकिन जब वह अपनी सारी स्वयंभू शक्तिके साथ नीचे उतरेगा तो समस्त प्रकृतिमें एक बहुत बड़ा मौलिक परिवर्तन आ जायेगा। हम उसकी पूर्ण विजयके निकट और निकटतर आते जा रहे हैं। एक बार जगत्‌की परिस्थितियां तैयार हो जायं तो उसका पूर्ण अवतरण होगा जो अपने आगे हर चीजको बहा ले जायगा। उसकी उपस्थितिके बारेमें कोई भूल नहीं हो सकती, उसकी शक्तिके आगे कोई बाधा नहीं टिक सकती, उसके आनेपर सन्देह और कठिनाइयां तुम्हें कष्ट न दे सकेंगे। क्योंकि तब भगवान् अपनी संपूर्ण पूर्णताके साथ प्रत्यक्ष रूपमें प्रकट होंगे। मैं यह नहीं कहती कि सारी दुनिया एकदम उनकी उपस्थितिको अनुभव कर सकेगी या रूपान्तरित हो जायगी; लेकिन मेरा यह मतलब जरूर है कि मानव जातिका एक भाग, शायद हमारी यह छोटी-सी दुनिया, उसे जानेगा और अवतरणमें भाग लेगा। वहांसे रूपान्तरित करनेवाली कृपा बड़े प्रभावशाली ढंगसे फैलेगी। और, अभीप्सा करनेवालोंके सौभाग्यवश, पुनरुद्धार-वंचित मानव प्रकृतिके लगाये गये सभी अड़ंगोंके बावजूद, वह सफल भविष्य मूर्त रूप लेगा!

धम्मपदं

यमकवग्गो (जुड़वाँ)

प्रत्येक शुक्रवारको मैं तुम्हें 'धम्मपद'के कुछ पद सुनाऊंगी, फिर हम लोग उस विषयपर ध्यान करेंगे। यह तुम्हें मानसिक संयम सिखानेके लिये है। आवश्यक समझूंगी तो स्पष्टीकरण दूंगी।

'धम्मपद' यमकवग्गोसे शुरू होता है; यह लो उसका पहला पद:

मनोपुब्बङ्गमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया:।
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा॥
ततो'नं दुक्खमन्वेति चक्कं'व वहतो पदं॥१॥

सभी धर्मों (सब प्रकारकी क्रियाओं) में मन सर्वप्रथम है, मन (उन सबसे) श्रेष्ठ है, (वे सब) मनोमय हैं, अर्थात्, उन सबमें मन प्रविष्ट है।

स्वभावत: ही, यहां प्रश्न भौतिक जीवनका है, विश्वका कोई प्रश्न नहीं है।

यदि कोई दुष्ट मनसे बोलता या कार्य करता है तो दु:ख उसका वैसे ही पीछा करता है जैसे गाड़ीका पहिया बैलोंके पैरोंका पीछा करता है।

वर्तमान संसारमें मनुष्यका साधारण जीवन, जैसा अभी है, मनके द्वारा शासित है; अतएव सबसे अधिक महत्त्वकी बात है अपने मनको संयमित करना; अत:, अपने मनको विकसित और संयमित करनेके लिये हम एक क्रमबद्ध साधनाका अनुसरण करेंगे जिसका वर्णन 'धम्मपद'के इन सूत्रोंमें किया गया है।

चार क्रियाएं हैं जो सामान्यतया क्रमश: एकके बाद एक आती हैं, पर जो अंतमें चलकर एक साथ भी की जा सकती हैं। उनमेंसे पहली है: अपने विचारोंका अवलोकन करना; दूसरी है: सतर्कतापूर्वक उनकी चौकसी रखना; तीसरी है: अपने विचारोंको संयमित करना; और चौथी है: अपने विचारोंपर प्रभुत्व पाना। देखना, चौकसी रखना, संयमित करना और अधिकारमें लाना — यह सब हमें दुष्ट या पथभ्रष्ट मनसे मुक्त होनेके लिये करना होगा, क्योंकि यहां कहा गया है कि जो मनुष्य एक सदोष मनसे बोलता या कार्य करता है उसका पीछा दु:ख वैसे ही पास-पास रहकर

करता है जैसे पहिया गाड़ी या हल खींचनेवाले बैलोंके खुरोंका पीछा करता है।

यही हमारा पहला ध्यान है।

३०-८-५७

मनो पुब्बङ्गमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पसन्नेन भासति वा करोति वा।
ततो 'नं सुखमन्वेति छाया 'व अनपायिनी ॥२॥

सभी धर्मों (सब प्रकारकी क्रियाओं)में मन सर्वप्रथम है, मन (उन सबसे) श्रेष्ठ है, (वे सब) मनोमय हैं, अर्थात्, उन सबमें मन प्रविष्ट है। यदि (कोई) स्वच्छ मनसे बोलता या कार्य करता है तो सुख उसका वैसे ही अनुसरण करता है जैसे कभी साथ न छोड़नेवाली छाया मनुष्यका अनुसरण करती है।

यह पहले सूत्रका ही परिपूरक अंश है। 'धम्मपद' स्वच्छ मनको दूषित मनके विरोधमें रखता है। हम ऊपर कह चुके हैं कि मनको शुद्ध करनेकी प्रक्रियाके चार क्रमबद्ध स्तर हैं। शुद्ध या स्वच्छ मन स्वभावत: एक ऐसा मन होता है जो किसी बुरे विचारको अपने अन्दर नहीं आने देता, और हमने यह देखा है कि इस परिणामको प्राप्त करनेके लिये विचारोंपर जिस पूर्ण प्रभुत्वकी आवश्यकता है वह मेरे बताये हुए चारों स्तरोंके अन्तमें प्राप्त होता है। उनमें पहला है: मनका निरीक्षण करना।

यह न मान बैठो कि यह बड़ा आसान है, क्योंकि अपने विचारोंको देखनेके लिये तुम्हें सबसे पहले अपने-आपको उनसे पृथक् करना होगा। साधारण अवस्थामें, साधारण मनुष्य अपनेको अपने विचारोंसे भिन्न नहीं देखता। वह यह भी नहीं जानता कि वह सोचता है। वह अभ्यासवश सोचता है। और, यदि एकाएक उससे यह पूछा जाय: "तुम क्या सोच रहे हो?", तो वह इस विषयमें कुछ नहीं जानता। कहनेका मतलब, १०० में ९५ बार तो वह यही उत्तर देगा: "मैं नहीं जानता।" इस स्थितिमें चिन्तनकी क्रिया और मनुष्यकी चेतनाके बीच एक प्रकारका पूर्ण तादात्म्य होता है।

विचारोंका निरीक्षण करनेके लिये पहली क्रिया होगी अपने-आपको पृथक् करनेकी, उनकी ओर देखनेकी, अपने विचारोंसे अपने-आपको अलग

करनेकी ताकि चेतनाकी गति और चिन्तनकी गति परस्पर उलझी हुई और अस्पष्ट न हों। अतएव, जब हम यह कहते हैं कि हमें अपने विचारोंको देखना चाहिये तब यह न समझ बैठो कि यह बड़ा सरल है; यह सबसे पहला कदम है। मेरा प्रस्ताव है कि आज शामको अपने ध्यानके समय हम इसीका अभ्यास करें, अर्थात्, अपने-आपको अपने विचारोंसे पृथक् करके उनकी ओर देखनेका प्रयत्न करें।

६-९-१९५७

अक्कोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे।
ये च तं उपनय्हन्ति वेरं तेसं न सम्मति ॥३॥

"मेरी निन्दा की," "मुझे मारा," "मुझे पराजित किया," "मुझे लूट लिया" — जो (ऐसे विचारोंको मनमें) पालते हैं उनका बैर कभी शान्त नहीं होता।

'धम्मपद' ने सबसे पहले यह कहा है कि बुरे विचार दुःख लाते हैं और अच्छे विचार सुख। अब वह बुरे विचारोंके उदाहरण देता है और कहता है कि दुःखसे कैसे बचा जा सकता है। यह है पहला उदाहरण, मैं दुहराती हूं: "मेरी निन्दा की, मुझे मारा, मुझे हराया, मुझे लूट लिया"; और फिर वह कहता है: "जो लोग ऐसे विचारोंका पोषण करते हैं उनका बैर कभी शान्त नहीं हो सकता।"

हमने अपनी मानसिक साधनाका आरंभ किया है और इसके लिये मानसिक विकासके क्रमबद्ध स्तरोंको अपना आधार बनाया है: हमने यह देखा है कि इस साधनामें एकके बाद एक यदि तुम्हें भली-भांति याद हो, क्रमसे आनेवाली चार क्रियाएं हैं जिनका हमने इस प्रकार वर्णन किया है: निरीक्षण करना, चौकसी करना, संयमित करना और प्रभुत्व स्थापित करना। और अपने पिछले पाठमें — मुझे ऐसी आशा है — हमने यह सीखा है कि अपने विचारोंसे अपने-आपको कैसे पृथक् करें ताकि हम उन्हें एक सतर्क द्रष्टाकी तरह देख सकें।

आज हम लोग यह सीखेंगे कि इन विचारोंपर चौकसी कैसे रखी जाय। सबसे पहले तुम उनकी ओर ताको और फिर उनकी निगरानी करो। हम एक ज्ञानवान् जजकी तरह उनको ध्यानपूर्वक देखना सीखते हैं ताकि हम अच्छे और बुरे विचारोंके बीच, लाभदायी और हानिकारक विचारोंके बीच, 'विजय'की ओर ले जानेवाले रचनात्मक विचारों और 'विजय'से दूर

ले जानेवाले पराजयवादी विचारोंके बीच विभेद कर सकें। यही वह विवेक-शक्ति है जिसे हमें अब अवश्य प्राप्त करना चाहिये, यही हमारे आज रातके ध्यानका विषय होगा।

जैसा कि मैं तुमसे कह चुकी हूं, 'धम्मपद' हमें उदाहरण देगा, पर उदाहरण तो उदाहरण ही हैं। हमें स्वयं यह सीखना होगा कि अच्छे विचारोंको हम बुरे विचारोंसे अलग कैसे कर सकते हैं, और इसके लिये, जैसा कि मैं कह चुकी हूं, तुम्हें एक ज्ञानवान् जजकी तरह ध्यानपूर्वक देखना होगा — अर्थात्, जितना अधिक संभव हो उतना अधिक पक्षपातशून्य होकर देखना होगा। यह उन शर्तोंमेंसे एक अनिवार्य शर्त है।

१३-९-१९५७

अक्कोच्छि मं अवधि मं अजिनी मं अहासि मे।
ये तं न उपनय्हन्ति वेरं तेसूपसम्मति ॥४॥

"मेरी निन्दा की," "मुझे मारा," "मुझे हरा दिया," "मुझे लूट लिया" — जो (लोग ऐसे विचार मनमें) नहीं रखते उनका बैर शान्त हो जाता है।

हमने उस दिन जो पढ़ा था उसीका यह परिपूरक अंश है। यहां प्रश्न केवल उन विचारोंका ही नहीं है जो घृणा उत्पन्न करते हैं। क्योंकि, ईर्ष्याके साथ-साथ, घृणा भी मानवी दुःखके अत्यन्त व्यापक कारणोंमेंसे एक है।

परन्तु घृणा कैसे न रखी जाय? एक विशाल और उदार हृदय ही वास्तवमें इसका सबसे अच्छा साधन है, परन्तु इसे प्राप्त करना सबकी पहुंचके भीतर नहीं है। अपने विचारोंको संयमित करना संभवतः कहीं अधिक व्यवहार्य हो सकता है।

विचारोंको संयमित करना हमारी मानसिक साधनाका तीसरा पग है: एक बार जब हमारी चेतनाके ज्ञानी न्यायाधीशने उपयोगी और हानिकारक विचारोंके बीच विभेद कर दिया तो हमारा आन्तरिक पहरेदार सामने आ जायगा और केवल स्वीकृत विचारोंको ही गुजरने देगा और बड़ी कड़ाईके साथ सभी अवांछनीय तत्त्वोंका प्रवेश निषिद्ध कर देगा।

खूब शानदार अदासे हमारा पहरेदार प्रत्येक बुरे विचारका प्रवेश बन्द कर देगा और उसे यथासंभव अधिक-से-अधिक दूर धकेल देगा।

स्वीकार करने या अस्वीकार करनेकी इस क्रियाको ही हम विचारोंका

संयम कहते हैं और आज रातके लिये हमारे ध्यानका यही विषय होगा।

२०-९-५७

न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तो॥५॥

यहां (संसारमें) बैरसे बैर कभी शान्त नहीं होता, अबैरसे ही शान्त होता है, यही सनातन धर्म (=नियम) है।

यह 'धम्मपद' का एक अत्यन्त प्रसिद्ध श्लोक है, उनमेंसे एक है जो बहुत अधिक उद्धृत किये जाते हैं—मैं यह कहना कहीं अधिक पसन्द करती कि यह ऐसा श्लोक है जिसका सबसे अधिक अनुसरण किया जाता है, परन्तु दुर्भाग्यवश यह बात सच्ची नहीं होगी। क्योंकि लोग इस शिक्षाके विषयमें बातें तो बहुत करते हैं पर इसका पालन नहीं करते।

फिर भी, इस समस्याका एक पहलू ऐसा है जिसकी चर्चा कम ही की जाती है, पर यदि तुम चाहो कि जगत्की चीजोंमें परिवर्तन आये तो वह अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह चीज ऐसी है जिसकी ओर लोग बहुत कम ध्यान देते हैं। मैं तुम लोगोंको आश्चर्यमें डाल दूंगी। वह यह है: यदि प्रेम घृणाका उत्तर दे ताकि संसार परिवर्तित हो सके तो क्या यह बात कहीं अधिक स्वाभाविक नहीं होगी कि प्रेम भागवत प्रेमको उत्तर दे?

यदि कोई मनुष्योंका जीवन, कर्म और हृदय देखे, जैसे कि वे हैं, तो उसे उस सारी घृणा, अवज्ञा, अथवा, कम-से-कम, उदासीनता देखकर उचित रूपमें ही आश्चर्य होगा जो इस असीम भागवत प्रेमके बदलेमें लौटायी जाती हैं जिसे भागवत करुणा धरतीपर उंडेलती है—उस भागवत प्रेमके जो संसारको भागवत आनंदकी ओर ले जानेके लिये यहां प्रत्येक क्षण कार्य कर रहा है और जिसे मानव हृदयमें इतना कम प्रत्युत्तर मिलता है। परंतु लोग दया दिखाते हैं केवल दुष्टोंके प्रति, अधमोंके प्रति, अवांछनीयोंके प्रति, सूखे और सड़े फलोंके प्रति — वास्तवमें इससे दुष्टता और असफलताको एक प्रकारका बढ़ावा मिलता है।

यदि कोई समस्याके इस पहलूपर कुछ अधिक विचार करे तो शायद उसे घृणाका उत्तर प्रेमसे देनेकी आवश्यकतापर बल देनेकी जरूरत कम होगी, क्योंकि यदि मानव हृदय अपने अंदर निरंतर उंडेले जानेवाले भागवत प्रेमका प्रत्युत्तर संपूर्ण सच्चाईके साथ, समझनेवाले और मूल्य आंकनेवाले

हृदयकी स्वाभाविक कृतज्ञताके साथ देता तो जगत्‌में चीजें बड़ी तेजीसे बदलने लगतीं।

२७-९-५७

परे च न विजानन्ति मयमेत्थ यमामसे।
ये च तत्थ विजानन्ति ततो सम्मन्ति मेधगा ॥६॥

अन्य (अज्ञ लोग) नहीं जानते कि हम इस (संसार)से जानेवाले हैं। जो लोग इसे जानते हैं फिर (उनके) मनके (सभी विकार) शांत हो जाते हैं।

जब तुम यह समझते हो कि अगले ही मुहूर्त्त तुम मर सकते हो, तो तुरत तुम्हारे अंदर भौतिक वस्तुओंके प्रति अनासक्तिका भाव उदय हो जाता है; यह बिलकुल युक्तिसंगत बात है कि उसके बाद तुम केवल उसी बातका विचार करते हो जो इस भौतिक जीवनपर निर्भर नहीं करती और जो एकमात्र वह चीज है जो इस शरीरको छोड़ देनेके बाद भी तुम्हारी है, अर्थात्, शाश्वत सत्ता है। बुद्ध "भगवान्" शब्दका व्यवहार नहीं करते, पर मूलत: यह वही वस्तु है।

पहले, प्राचीन दीक्षाओंमें यह सोचना कि मैं अगले ही क्षण मर सकता हूं, साधनाका एक अंग था। इस साधनाका अनुसरण लोगोंको कुछ समयतक करना पड़ता था और इसका कारण यही था जिसका मैंने अभी वर्णन किया है; साथ ही, यह भी कि मनुष्य मृत्युके समस्त भयको पार कर जाय और इस विषयमें अभ्यस्त हो जाय। जिस युगमें और जिस समय बुद्धने 'धम्मपद'की शिक्षा दी थी उस युगमें और उस समय पार्थिव अमरत्वकी संभावनाकी बात कभी व्यक्त नहीं की गयी थी, क्योंकि यह संभावना इतने सुदूर भविष्यके गर्भमें निहित थी कि उसके विषयमें कुछ कहनेका कोई मतलब ही नहीं हो सकता था।

आज श्रीअरविंद हमसे कहते हैं कि यह संभावना निकट आ गयी है और, बस, हमें इसकी तैयारी करनेकी आवश्यकता है। परन्तु तैयार होनेकी संभावनाको भी ले आनेकी प्रधान शर्त यह है कि मृत्युके संपूर्ण भयको पूरी तरह निकाल दिया जाय।

तुम्हें न तो इससे डरना चाहिये और न इसकी कामना ही करनी चाहिये।

इससे ऊपर उठ जाओ, एक अखण्ड साम्यावस्थामें पहुंच जाओ, न तो इससे डरो, न इसकी कामना करो।

४-१०-१९५७

सुभानुपस्सिं विहरन्तं इन्द्रियेसु असंवुतं।
भोजनम्हि अमत्तञ्ञुं कुसीतं हीनवीरियं।
तं वे पसहति मारो वातो रुक्खं' व दुब्बलं ॥७॥

(जो) शुभ, अर्थात् सुखद वस्तुओंकी खोजमें घूमता फिरता है, (जो) अपनी इन्द्रियोंमें असंयत होता है, (जो) अपने भोजन-की मात्राको नहीं जानता, जो आलसी और पुरुषार्थहीन होता है, उसे मार (मनकी दुष्प्रवृत्तियां) ठीक (वैसे ही) गिरा देता है जैसे-वायु दुर्बल वृक्षको।

बौद्ध साहित्यमें मार 'अशुभ शक्ति'को सूचित करता है, उन सब चीजोंको लक्षित करता है जो आध्यात्मिक जीवनके विरुद्ध हैं अथवा उसका विरोध करती हैं; कुछ विशेष प्रसंगोंमें वह मृत्युको सूचित करता है — उतना भौतिक मृत्युको नहीं जितना सत्यके प्रति, आध्यात्मिक जीवनके प्रति मृत्यु-को सूचित करता है।

यहांपर, इसका अर्थ यह है कि जबतक मनुष्य अपनी इन्द्रियों और कामनाओंको संयमित नहीं करता, और जबतक वह अपनी बाह्य स्थूल तुष्टियोंको ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वस्तु समझकर उन्हींमें व्यस्त रहता है, तबतक उसमें विरोधी शक्तियोंके, नीचे खींच ले जानेवाली तथा आध्यात्मिक सत्यसे दूर हटा ले जानेवाली वस्तुओंके आक्रमणका सामना करनेके लिये आवश्यक संकल्प-बल नहीं होता।

'धम्मपद' नैतिक दृष्टिकोणको उतना अधिक आधार नहीं बनाता, यह वह पाप नहीं है जैसा कि मनुष्य उसे अपनी अन्ध न्याय-भावना और भले-बुरेकी मनमानी भावनाके द्वारा समझते हैं। आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे पाप वास्तव-में वह वस्तु है जो हमें लक्ष्यसे दूर ले जाती है, जो कभी-कभी हमें जीवन-के मूल अभिप्रायसे भी, हमारी सत्ताके सत्यसे भी दूर ले भागती है और उसे प्राप्त करनेसे हमें रोक देती है।

बस, इसी तरह इसे समझना चाहिये।

११-१०-१९५७

असुभानुपस्सिं विहरन्तं इन्द्रियेसु सुसंवुतं।
भोजनम्हि च मत्तञ्ञुं सद्धं आरद्धवीरियं।
तं वे नप्पसहति मारो वातो सेलं 'व पब्बतं ॥८॥

(जो, अशुभ, अर्थात् असुखद वस्तुओंकी खोजमें इधर-उधर

> घूमता है, (जो) अपनी इन्द्रियोंको अच्छी तरह वशमें रखता है, (जो) अपने भोजनकी मात्राको जानता है, जो श्रद्धावान् और पुरुषार्थी है, उसे मार (वैसे ही) नहीं गिरा पाता जैसे कि वायु शिलामय पर्वतको नहीं गिरा पाता।

'धम्मपद' जब श्रद्धाकी बात कहता है तब उसका अर्थ किसी मतवाद या किसी धर्मपर होनेवाला विश्वास नहीं होता, वह गुरुकी शिक्षापर होनेवाली श्रद्धा भी नहीं होती, वह तो होता है स्वयं अपनी संभावनाओंपर विश्वास, यह दृढ़ प्रतीति कि चाहे जितनी भी कठिनाइयां क्यों न हों, चाहे जितनी बाधाएं क्यों न आयें, चाहे जितनी अपूर्णताएं क्यों न हों, अपनी सत्ताके अन्दर चाहे जितनी नकारात्मक भावनाएं भी क्यों न हों, हम इस सिद्धिको प्राप्त करनेके लिये पैदा हुए हैं और उसे अवश्य प्राप्त करेंगे।

संकल्पको कभी डगमगाना नहीं चाहिये, प्रयास निरन्तर बना रहना चाहिये और श्रद्धा अडिग होनी चाहिये। फिर जो कुछ सिद्ध करना है उसे सिद्ध करनेके लिये वर्षों लगानेके बदले हम उसे कुछ ही महीनोंमें सिद्ध कर लेंगे, कभी-कभी कुछ दिनोंमें भी कर सकेंगे और, यदि हमारे अन्दर पर्याप्त तीव्रता हो तो, कुछ घंटोंमें भी कर सकेंगे। कहनेका तात्पर्य यह है कि तुम अपने अन्दर एक मनोभाव बना सकते हो और फिर सिद्धिको आक्रान्त करनेवाली सब अशुभ इच्छाओंमें तुम्हें परास्त करनेकी शक्ति नहीं होगी जैसे आंधीमें शिलाको हिलानेकी कोई शक्ति नहीं होती।

उसके बाद रास्ता जरा भी कठिन नहीं होता, वह अत्यन्त अधिक मनोरम बन जाता है।

१८-१०-१९५७

> **अनिक्कसावो कासावं यो वत्थं परिदहेस्सति।**
> **अपेतो दमसच्चेन न स कासावमरहति**
>
> जो (व्यक्ति) अपनी अशुद्धियोंका त्याग किये बिना काषाय वस्त्र धारण करता है और जिसके पास न आत्म-संयम है, न सत्य, (वह) काषाय (वस्त्र)का अधिकारी नहीं है।

निःसन्देह, काषाय वस्त्र, अपने शाब्दिक अर्थमें, बौद्ध संन्यासियोंका वस्त्र है; यह उन सब लोगोंका वस्त्र बन गया जो त्यागकी साधना करते हैं। परन्तु यहांपर 'धम्मपद' वास्तवमें इस बातकी चर्चा नहीं कर रहा है।

क्योंकि ऐसे आदमियोंका कोई अभाव नहीं जो गेरुआ वस्त्र पहनते हैं पर अपने दोषोंसे मुक्त नहीं हुए हैं। काषाय वस्त्र इस बातके प्रतीकके रूपमें लिया जाता है कि उसे ग्रहण करनेवाला आध्यात्मिक जीवनके लिये अपना उत्सर्ग कर रहा है, वह इस बातका बाह्य चिह्न है कि मनुष्य उन सब चीजोंको त्याग रहा है जो आध्यात्मिक जीवनके लिये किये जानेवाली अनन्य एकाग्रतासे मेल नहीं खातीं।

बौद्ध धर्मके अनुसार "अशुद्धियों" का मुख्य अर्थ है अहंभाव और अज्ञान; क्योंकि, बौद्धधर्मकी दृष्टिसे, सबसे महान् दोष है अज्ञान, बाह्य वस्तुओंका अज्ञान नहीं, प्रकृतिके विधानोंका अथवा उन सब वस्तुओंका अज्ञान नहीं जिन्हें तुम स्कूलमें सीखते हो, बल्कि वस्तुओंके गभीरतम सत्यका अज्ञान, सत्ताके विधानका, धर्मका अज्ञान।

यहां यह ध्यान देनेकी बात है कि जिन दो बुराइयोंपर जोर दिया गया है वे हैं आत्म-संयमका अभाव और निष्ठाका अभाव। निष्ठाका यहां अर्थ है सहृदयता, ईमानदारी; 'धम्मपद' अत्यन्त कठोर रूपमें जिस चीजकी निन्दा करता है वह है पाखण्ड : इस बातका झूठा दिखावा करना कि तुम आध्यात्मिक जीवन बिताना चाहते हो और न बिताना, यह दिखावा करना कि तुम सत्यकी खोज करना चाहते हो और न करना, दिव्य जीवनके प्रति अपनेको उत्सर्ग कर देनेका बाहरी चिह्न प्रदर्शित करना — यहां गेरुआ वस्त्र उस उत्सर्गका प्रतीक है — पर भीतर स्वयं अपने साथ, अपने ही स्वार्थ और अपनी ही आवश्यकताओंमें संलग्न रहना।

यहां मजेकी बात है आत्म-संयमपर 'धम्मपद'का आग्रह, क्योंकि बौद्ध शिक्षाके अनुसार, प्रत्येक बातमें अतिका होना बुरा है। बुद्ध सदा "मज्झम निकाय" (मध्यम पथ) पर सबसे अधिक जोर देते हैं। तुम्हें कभी इस ओर या उस ओर बहुत अधिक नहीं चले जाना चाहिये, किसी इस या उस वस्तुको अतिरंजित नहीं करना चाहिये। तुम्हें सभी बातोंमें एक मात्रा, सब चीजोंमें संतुलन, मिताचारका संतुलन बनाये रखना चाहिये।

अतएव, जो गुण तुम्हें आध्यात्मिक जीवन यापन करनेका अधिकारी बनाते हैं वे हैं आन्तरिक संतुलन, अपने कर्ममें संतुलन बनाये रखना और प्रत्येक विषयमें संयत होना, सच्चा, ईमानदार, सत्यनिष्ठ होना।

संतुलन, संयम, सत्यनिष्ठा, ईमानदारी : बस, यही आज हमारे ध्यानका विषय है।

८-११-१९५७

यो च वन्तकसावस्स सीलेसु सुसमाहितो।
उपेतो दमसच्चेन स वे कासावमरहति ॥१०॥

जिसने समस्त अशुद्धियोंको त्याग दिया है, जो शील, अर्थात्, नैतिक आचार-विचारमें अच्छी तरह समाहित है, जो आत्म-संयम और सत्यसे भरपूर है, वही काषाय (वस्त्र)का अधिकारी है।

मैं नहीं चाहती कि तुम लोग धम्मपदके इन वचनोंको नैतिक प्रश्नोत्तरी-के रूपमें स्वीकार करो। वास्तवमें, इनका भाव बहुत अधिक गभीर और सच्चा है, क्योंकि सभी यथार्थ आध्यात्मिक शिक्षाओंका उद्देश्य उस नैतिकता-की शिक्षा देना नहीं होता जिसकी कल्पना लोग अपने मनके द्वारा करते हैं।

यही बात "अशुद्धि" शब्दके बारेमें भी कही जा सकती है। नैतिक दृष्टि-से शुद्ध शब्दको जिस रूपमें समझा जाता है वही भाव उस शब्दको किसी सच्ची आध्यात्मिक शिक्षामें नहीं दिया जाता; और विशेषकर बौद्ध धर्मकी दृष्टिसे शुद्धिका अर्थ है अज्ञानका अभाव जैसा कि मैं पिछली बार तुम्हें बता चुकी हूं, और अज्ञानका मतलब है आन्तरिक विधानकी, सत्ताके सत्यकी उपेक्षा। और सत्यनिष्ठाका अर्थ है मिथ्याको ही सत्य न मान बैठना, परिवर्तनशील और क्षणिक बाह्य रूपको ही सत्ताका आन्तरिक और यथार्थ स्थायी रूप न स्वीकार करना।

अतएव, हम कह सकते हैं कि जो लोग आध्यात्मिक जीवन प्राप्त करने-की साधना करना चाहते हैं उनके लिये अति आवश्यक कार्य है आत्म-संयम और आत्म-प्रभुत्व, संतुलन तथा निष्काम भावको प्राप्त करना, सत्ताके आन्तरिक सत्य एवं उसकी आत्माभिव्यक्तिके नियमोंको खोज निकालना। अपने प्रति और अपने लक्ष्यके प्रति सच्चा होना, अव्यवस्थित आवेगोंके द्वारा परिचालित न होना, परिवर्तनशील बाह्य रूपोंको ही सद्वस्तु न मान बैठना आदि वे गुण हैं जो अध्यात्म-पथपर प्रगति करनेकी इच्छा रखने-वाले मनुष्यमें अवश्य होने चाहिये।

१५-११-१९५७

असारे सारमतिनो सारे चासारदस्सिनो।
ते सारं नाधिगच्छन्ति मिच्छासङ्कप्पगोचरा ॥११॥

जो असारको सार समझते हैं और सारको असारके रूपमें

> देखते हैं, वे कभी सार (सत्य) को नहीं प्राप्त कर सकते, क्योंकि वे मिथ्या संकल्पोंपर अपनी दृष्टि रखते हैं (अर्थात्, झूठी कामनाओं, झूठी समझका अनुसरण करते हैं)।

यहां एक टिप्पणी जोड़ी जा सकती है। क्योंकि, यदि कोई असत्यको सत्य और सत्यको असत्य माननेमें ही सन्तुष्ट हो तो उसके लिये न्यायतः ही चुनाव करना बड़ा आसान हो जायगा: किसी कारणवश या कहींसे आनेवाली किसी सहायतासे जब उसे मालूम हो जायगा कि वास्तवमें क्या सत्य है और क्या असत्य तो वह सत्यको ले लेगा और असत्यको छोड़ देगा। परन्तु, दुर्भाग्यवश, मनुष्य अपनी भूलोंसे प्यार करता है, मनुष्यकी सत्तामें कहींपर जो कुछ सत्य है उसे स्वीकार करनेकी अनिच्छा विद्यमान होती है।

मेरा अनुभव इसी प्रकारका है : जब कभी तुम सच्चाईके साथ सत्यको जाननेकी इच्छा करते हो तो तुम उसे जान ही जाते हो। सदा ही कोई चीज होती है जो तुम्हें भूल दिखा देती है और सत्यको स्वीकार करनेमें तुम्हारी सहायता करती है। और यदि तुम ध्यानसे देखो तो तुम्हें पता चलेगा कि चूंकि तुम भूलको ही पसन्द करते हो इसीलिये सत्यको नहीं ढूंढ पाते।

छोटे-छोटे व्यौरेकी बातोंमें, अत्यन्त छोटी-छोटी चीजोंमें भी (जीवनकी बड़ी-बड़ी बातोंकी, जो बड़े-बड़े निर्णय तुम्हें करने हैं उनकी तो बात ही क्या), सबसे छोटी बातोंमें भी, जब सत्यको जाननेकी अभीप्सा और सच्चा बननेकी इच्छा पूरी तरहसे सच्ची होती है तो सूचनाएं हमेशा आती हैं। और बौद्ध साधना-पद्धतिका ठीक-ठीक अनुसरण कर यदि तुम अपने अन्दर अपनी सत्ताकी प्रवृत्तिका कारण खोजो तो तुम सर्वदा यही पाओगे कि भूलपर आग्रह करनेका कारण है तुम्हारी कामना। चूंकि तुम्हारे अन्दर पक्षपात है, एक विशेष ढंगसे अनुभव करनेकी, एक विशेष ढंगसे काम करनेकी, एक विशेष ढंगसे विचार करनेकी इच्छा है इसीलिये तुम भूल करते हो। इसका कारण यह नहीं है कि तुम सिर्फ सत्यकी अवज्ञा करते हो; तुम इसे ठीक-ठीक इसलिये नहीं जानते कि तुम कहते तो हो : "ओह, मैं सत्य चाहता हूं," पर कहते हो एकदम अस्पष्ट, सामान्य, अनिश्चित रूपमें। वास्तवमें, तुम यदि व्यौरेवार देखो, प्रत्येक छोटे-छोटे व्यौरेको देखो और उसपर अपनी अंगुलि रखो तो तुम्हें पता लगेगा कि तुम न देखनेके लिये ठीक शुतुर्मुर्गकी तरह आंख बन्द कर लेते हो ताकि तुम देख न सको। तुम पीछेकी ओर न देखनेके लिये कुछ अनिश्चित, अस्पष्ट वस्तु, कोई पर्दा डाल देते हो।

जब कभी तुम्हारे अन्दर सच्चाई होती है तब तुम देखते हो कि सहायता, पथ-प्रदर्शन, कृपा-शक्ति सर्वदा तुम्हें उत्तर देनेके लिये मौजूद है और तुम फिर दीर्घकालतक अपने-आपको धोखा नहीं देते।

प्रगति करनेकी अभीप्सामें, सत्य पानेके संकल्पमें, वास्तवमें शुद्ध — आध्यात्मिक जीवनमें जिसे शुद्ध समझा जाता है — बननेकी आवश्यकता महसूस करनेमें जो सच्चाई है यही सच्चाई सब प्रकारकी उन्नति करनेकी चाभी है। इसके होनेपर तुम जान जाते हो और तुम कर सकते हो।

हमारी सत्तामें सदा ही एक अंग, कोई एक चीज ऐसी होती है जो अपने-आपको धोखा देना पसन्द करती है, अन्यथा ज्योति सर्वदा विद्यमान है, सर्वदा पथ दिखानेके लिये प्रस्तुत है; पर तुम न देखनेके लिये अपनी आंखें बन्द कर लेते हो।

२२-११-१९५७

सारञ्च सारतो ञत्वा असारञ्च असारतो।
ते सारं अधिगच्छन्ति सम्मासङ्कप्पगोचरा ॥१२॥

को सार जानते हैं और असारको असार, वे सार प्राप्त करते हैं, क्योंकि वे सच्ची कामनाओं और सच्ची समझका अनुसरण करते हैं।

इससे पिछली बार हम देख चुके हैं कि सत्य और असत्यकी पहचान करने-में समर्थ होना ही पर्याप्त नहीं है। प्रथम दृष्टिमें यह बात अत्यन्त कठिन प्रतीत होती है। स्पष्ट ही, यदि प्रत्येक व्यक्तिको स्वयं अपने प्रयाससे यह पता लगाना हो तो यह एक बड़ा लम्बा कार्य होगा; तुम्हें ऐसी असंख्य अनुभूतियोंमेंसे गुजरनेमें अपना सारा जीवन ही बिता देना होगा जो तुम्हें ऐसा प्रकाश दें कि तुम यह समझ सको कि क्या उचित है और क्या नहीं।

इसलिये, यह अधिक आसान है कि तुम किसी ऐसे आदमीके पास जाओ जो तुमसे पहले यह काम कर चुका है और जिससे तुम्हें बस इतना ही पूछना है: "क्या यह सत्य है? क्या यह असत्य है?" इसमें स्पष्ट ही एक बहुत बड़ा लाभ है, लेकिन दुर्भाग्यवश यह सर्वदा पर्याप्त नहीं होता; क्योंकि यदि तुम चाहो कि एक विशेष तरीकेसे ही चीजें हों और जो तुम पसन्द करते हो वही उचित हो तो तुम अच्छी राय सुननेके लिये हमेशा तैयार नहीं होगे।

अंतिम वाक्य, "और वे उचित कामनाओंका अनुसरण करते हैं", प्रतीत तो होता है बड़ा ही साधारण, परन्तु इस समस्याका शायद यही सबसे कठिन भाग है।

इस पुस्तकमें, इस शिक्षामें छोटे-छोटे वाक्य कहे गये हैं जो कितने सरल प्रतीत होते हैं! यदि तुम पर्याप्त सोच-विचारकर न पढ़ो तो तुम अपने मनमें कहोगे: "परन्तु यह तो स्वयं ही स्पष्ट है, जो सत्य है उसे तुम सत्य जान लेते हो और जो असत्य है उसे असत्य; फिर उसे कहनेका क्या मतलब है?" परन्तु सर्वप्रथम सत्यको असत्यसे अलग करना इतना आसान नहीं है, और फिर यह मान लेना, अर्थात्, यह स्वीकार कर लेना कि यह चीज सत्य है इतना आसान नहीं है। और यह मान लेना तो विशेष रूपसे और भी अधिक कठिन है कि अमुक चीज असत्य है।

वास्तवमें, ठीक-ठीक यह निर्णय करनेके लिये कि असत्य क्या है हमारी अभीप्सामें इतनी सच्चाई, सच्चे होनेके संकल्पमें इतना दृढ़ निश्चय होना आवश्यक है कि यह छोटा-सा वाक्य: "सत्यको सत्य जानना और असत्यको असत्य" एक बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धि बनता है। और यह निष्कर्ष कि: "वे सर्वोच्च उद्देश्य प्राप्त करते हैं," एक महान् प्रतिज्ञा बन जाता है।

कुछ ऐसी शिक्षाएं हैं जो कहती हैं कि मनुष्यमें कोई कामना बिलकुल नहीं होनी चाहिये; ये वे शिक्षाएं हैं जो जीवनसे पूर्णतः अलग हट जानेको अपना लक्ष्य मानती हैं ताकि मनुष्य आत्माकी अचल अवस्थामें प्रवेश कर जाय, समस्त कर्म, समस्त क्रिया-कलाप, समस्त रूप, समस्त बाह्य वस्तु-स्थितिका लोप हो जाय। उस स्थितिमें पहुंचनेके लिये मनुष्यमें कोई कामना बिलकुल नहीं होनी चाहिये, अर्थात्, मनुष्यको प्रगति करनेकी समस्त इच्छासे दूर हट जाना चाहिये; तब स्वयं प्रगति भी एक असत्य और बाहरी वस्तु बन जाती है। परन्तु तुम यदि योग-सम्बन्धी अपनी धारणाओंमें प्रगतिकी भावनाको रखो और यदि यह स्वीकार करो कि समूचा विश्व एक प्रगति-धारामें चल रहा है तो तुम्हें कामनाके विषयको ही बदल देना होगा; जो वस्तुएं बाह्य, कृत्रिम, ऊपरी और अहंभावपूर्ण हों उनकी ओर मुड़नेके बदले तुम्हें इस (कामना)को सिद्धिकी एक शक्तिके रूपमें सत्यकी ओर प्रयुक्त अभीप्साके साथ जोड़ देना होगा।

ये कुछ शब्द कि "वे उचित कामनाओंका अनुसरण करते हैं," इस बातके प्रमाण हैं कि बुद्धकी शिक्षाने, मूलतः, पृथ्वीपर प्राप्त सिद्धिसे मुंह नहीं मोड़ा था, बल्कि उस चीजसे मुंह मोड़ा था जो जगत्की कल्पनामें और जगत्में किये जानेवाले कर्मोंमें असत्य है। इस तरह जब यह शिक्षा कहती

है कि मनुष्यको जीवनसे दूर भाग जाना चाहिये तब यह उस जीवनसे भागनेको नहीं कहती जो सत्यकी अभिव्यक्ति है, बल्कि उस भ्रमात्मक जीवनसे भागनेको कहती है जिसे साधारणतया लोग इस जगत्में बिताते हैं।

श्रीअरविंद हमें बताते हैं कि 'सत्य'तक पहुंचने और इस 'सत्य'को उपलब्ध करनेकी शक्ति पानेके लिये तुम्हें आध्यात्मिक चेतनाको उन्नतशील मानसिक चेतनाके साथ जोड़ देना चाहिये।

और ये थोड़े-से शब्द निश्चय ही यह सिद्ध करते हैं कि बौद्ध शिक्षाकी मौलिक परिकल्पना ऐसी ही थी।

६-१२-१९५७

यथागारं दुच्छन्नं वुट्ठी समतिविज्झति।
एवं अभावितं चित्तं रागो समतिविज्झति॥१३॥

जैसे ठीकसे न छाये घरमें वृष्टि घुस जाती है, वैसे ही अभावित (असंयमित) चित्तमें राग घुस जाता है।

चीन, जापान और बर्मा आदि देशोंमें सब प्रकारके असंख्य छोटे-छोटे बौद्ध संप्रदाय हैं और इनमेंसे प्रत्येक अपनी निजी पद्धतिका अनुसरण करता है; परन्तु उन सबमें जो सबसे अधिक फैले हुए मत हैं उनकी एकमात्र साधना है मनको चुप करना।

वे दिनमें और रातको भी घंटों बैठे अपने मनको शान्त करते हैं। यही उनके लिये समस्त अनुभूतियोंकी मूल कुंजी है — शान्त मन, वह मन जिसको बिना हिले-डुले घंटों शान्त रहना आता है। परन्तु तुम्हें यह विश्वास नहीं बना लेना चाहिये कि यह बहुत आसान है, परन्तु उन लोगोंका दूसरा कोई उद्देश्य नहीं है। वे किसी विचारपर अपने मनको एकाग्र नहीं करते, वे बहुत अच्छा समझनेकी, अधिक जाननेकी, ऐसी कोई चीज करनेकी चेष्टा नहीं करते, उनके लिये बस यही पथ है कि शान्त-स्थिर मनको प्राप्त किया जाय और कभी-कभी इस परिणामपर पहुंचनेके लिये — मनको नीरव बनानेके लिये, उसे एकदम मौन और निश्चल बनाये रखनेके लिये प्रयास करनेमें उन्हें बरसों-पर-बरस लगा देने पड़ते हैं। क्योंकि, जैसा कि यहां 'धम्मपद'में कहा गया है, यदि मन असंयमित हो तो एक-दूसरेके बाद आनेवाले विचारोंकी, एक-दूसरेका खण्डन और विरोध करनेवाले विचारोंकी, वस्तुओंके ऊपर कल्पना-जल्पना करनेवाले और मस्तिष्कके अंदर

जो कुछ धुक्कम-धुक्का करते हैं उन सबकी यह सतत क्रिया मानों छतमें बहुत सारे छेदकी भांति होती हैं। और इन छिद्रोंमेंसे होकर सब प्रकारकी अवांछित क्रियाएं चेतनामें घुस आती हैं, जैसे चूनेवाली छतमेंसे होकर पानी घरमें घुस आता है।

पर बात जो हो, मैं समझती हूं कि यह एक ऐसा अभ्यास है जो प्रत्येक व्यक्तिको यह परामर्श देता है कि मनको स्थिर, शान्त, निश्चल बनानेकी चेष्टा करनेके लिये प्रतिदिन थोड़ा-सा समय निश्चित कर लेना चाहिये। और इस बातको अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि तुम्हारा मन जितना ही अधिक विकसित होगा उतना ही शीघ्र तुम यह कार्य करनेमें सफल होओगे; और मन जितनी अधिक अविकसित स्थितिमें होगा यह कार्य उतना ही अधिक कठिन होगा।

जो लोग इस क्रम-सोपानके, अर्थात्, मनके विभिन्न स्तरोंके निचले भागमें हैं, जिन्होंने कभी अपने मनको शिक्षित या सुसंयमित करनेका प्रयास नहीं किया है, उन्हें विचार करनेके लिये बोलना आवश्यक प्रतीत होता है। यहांतक होता है कि उनकी अपनी आवाज ही उन्हें विचारोंको जोड़नेकी क्षमता प्रदान करती है; यदि वे मुंहसे नहीं बोलते तो वे विचार भी नहीं करते। उससे उच्च स्तरपर वे लोग हैं जिन्हें विचार करनेके लिये शब्दोंको अभीतक अपने मस्तिष्कमें चलाते रहनेकी जरूरत है, यद्यपि वे जोरसे उनका उच्चारण नहीं करते। जो लोग वास्तवमें विचार करना आरंभ करते हैं वे ऐसे व्यक्ति होते हैं जो बिना शब्दके विचार करनेमें सक्षम होते हैं, अर्थात्, वे विचारोंके संस्पर्शमें आते हैं और उन्हें अत्यंत भिन्न शब्दों और वाक्योंके द्वारा व्यक्त करते हैं। स्तर बहुत-से हैं — बहुत-से उच्चतर स्तर हैं — पर जो बिना शब्दके सोचते हैं वे ही यथार्थमें एक बौद्धिक अवस्थामें पहुंचते हैं और ऐसे लोगोंके लिये मनको स्थिर करना बहुत अधिक आसान है, अर्थात्, सार्वजनिक स्थानोंमेंसे गुजरनेवाले राहगीरोंकी तरह चलनेवाले संलग्न विचारोंकी क्रियाको बन्द करना और नीरव होकर किसी विचारपर एकाग्र होना सरल होता है।

इस बातपर मैं जरा जोर दे रही हूं, क्योंकि कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनमें यदि गुह्य तरीकोंसे मानसिक शान्ति भर दी जाय तो वे तुरत संत्रस्त हो उठते हैं और समझने लगते हैं कि उनकी बुद्धिका लोप हो गया है। क्योंकि उस हालतमें वे चिन्तन ही नहीं कर सकते, उन्हें यह भय हो जाता है कि वे जड़भरत हो जायंगे! परन्तु चिन्तन बन्द कर देना बेहद विचारोंकी लड़ी बुनते जानेसे कहीं उच्चतर प्राप्ति है और उसके लिये मनके बहुत अधिक विकासकी आवश्यकता होती है।

अतएव, न केवल आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे, बल्कि सभी दृष्टिकोणोंसे कुछ क्षण, कम-से-कम दो बार प्रतिदिन, नीरवता प्राप्त करनेका अभ्यास करना सर्वदा ही बहुत अच्छा है, परन्तु वह सच्ची नीरवता होनी चाहिये, केवल बातचीत बन्द करना ही नहीं होना चाहिये।

आओ, अब कुछ मिनट पूर्णतः नीरव हो जानेकी कोशिश करें।

(ध्यान)

१३-१२-१९५७

यथागारं सुच्छन्नं वुट्ठी न समतिविज्झति।
एवं सुभावितं चित्तं रागो न समतिविज्झति ॥१४॥

जैसे ठीकसे छाये घरमें वृष्टि नहीं घुसती, वैसे ही सुभावित (=सुसंयमित) चित्तमें राग नहीं घुसता।

(वर्षा शुरू होती है) तो बस, शायद आसमानका मन ही असंतुलित है। (हंसी) वर्षा हो रही है।

इसलिये मैं समझती हूं कि आसमान संतुलित नहीं है और घर लौटना अच्छा होगा। (वर्षा बढ़ जाती है) अब कुछ नहीं किया जा सकता! संतुलन फिरसे स्थापित नहीं हो रहा है। तुम सब घर लौटोगे और एक संतुलित मनकी आवश्यकतापर ध्यान करोगे। तो बस!

२०-१२-१९५७

इध सोचति पेच्च सोचति पापकारी उभयत्थ सोचति।
सो सोचति सो विहञ्ञति दिस्वा कम्मकिलिट्ठमत्तनो ॥१५॥

वह यहां (इस लोकमें) शोक करता है, मरनेके बाद शोक करता है। पाप करनेवाला दोनों (लोकों) में शोक करता है। वह अपने मलिन कर्मोंको देखकर शोक करता है, पीड़ित होता है।

यह बिलकुल स्पष्ट ही है कि जब तुम कुत्सित और निकृष्ट रूपमें काम करते हो तब तुम स्वभावतः दुःखी होते हो। परन्तु अपने कर्मोंकी कुरूपता-के विषयमें सचेतन होनेके कारण दुःखी होना मेरी समझमें एक बहुत उन्नत अवस्था है, क्योंकि अपने कर्मोंकी बुराईको समझनेके लिये मनुष्य-

को बहुत अधिक सचेतन होनेकी आवश्यकता होती है, और अपनी की हुई बुराईके विषयमें सचेत हो जाना ही उसे फिरसे बिलकुल न करनेकी स्थिति-में पहुंचनेकी पहली सीढ़ी है।

सामान्यतया, लोग अपने निजी कार्योंकी कुरूपताके विषयमें एकदम अन्धे होते हैं। वे अज्ञानवश, अचेतनावश, संकीर्णतावश गलती करते हैं, वे अचेतनता और अज्ञानके कारण स्वयं अपनेमें घुस जाते हैं और फिर उसी-के कारण भूल करते हैं, आत्मसंरक्षणकी उस अन्ध सहजात प्रवृत्तिके कारण भूल करते हैं जो मनुष्यको स्वयं अपनी भलाईके लिये सारे संसारका बलि-दान कर देनेके लिये तैयार कर देती है। और जो जितना तुच्छ हो उसे अपनी तुच्छताके लिये उतना ही बड़ा बलिदान करना स्वाभाविक प्रतीत होता है।

हम जो कुछ करते हैं उसकी बीभत्सताको देखनेके लिये हमें बहुत अधिक ऊंचा उठना होता है। इसके लिये मनुष्यके अन्तरतम प्रदेशमें इस बातका पूर्वज्ञान होना चाहिये कि सौन्दर्य, महानता, उदारता क्या वस्तु है, उसके अन्दर इन सब चीजोंका कभी अभाव न हो सके।

मैं समझती हूं कि 'धम्मपद' यहांपर उन लोगोंकी बात कहता है जो यह अच्छी तरह जान गये हैं कि कौन-सी चीज सुन्दर और महान् है और जो समझ-बूझकर, इच्छा करके अशुभ कार्य करते हैं। ऐसे लोगोंके लिये निःसन्देह जीवन भीषण दुःखदायी बन जाता है। जब हम यह जानते हैं कि यह कार्य नहीं करना चाहिये और फिर उसीको लगातार करते रहते हैं तो उसका अर्थ यह होता है कि हम जो कुछ आराम, जो कुछ संभव-नीय शान्ति, जो कुछ सुख-समृद्धि प्राप्त कर सकते हैं उसे मूल्यमें देकर ही ऐसा कर रहे हैं। जो मनुष्य झूठ बोलता है वह इस भयसे निरन्तर बेचैन रहता है कि उसकी मिथ्या बात प्रकट हो जायगी; जो व्यक्ति गलत रूपमें कार्य करता है वह इस भावनासे सदा चिन्तित रहता है कि शायद उसे दण्ड दिया जायगा; जो आदमी धोखा देनेकी चेष्टा करता है वह शान्ति नहीं पाता और इस बातसे संत्रस्त रहता है कि कहीं यह न पता चल जाय कि वह धोखा देता है।

वास्तवमें, विशुद्ध अहंकारपूर्ण हेतुसे भी शान्त-स्थिर बने रहने तथा अपनी दुश्चिताको घटाकर कम-से-कम कर देनेका सबसे उत्तम साधन है अच्छा काम करना, सच्चा होना, सरल होना और न्यायपरायण होना। और इसके साथ-साथ यदि कोई बिना लेखे-जोखे और स्वार्थ-बुद्धिके निष्काम और अनासक्त हो सके, तो फिर उसके लिये वास्तवमें सुखी होना संभव हो जायगा।

तुम अपने कर्मोंसे उत्पन्न वातावरणको अपने साथ, अपने चारों ओर, अपने अन्दर लिये फिरते हो, और तुम जो कुछ करते हो वह यदि सुन्दर, भला और सुसमंजस हो तो तुम्हारा वातावरण भी सुन्दर, अच्छा और सुसमंजस बना रहेगा, दूसरी ओर यदि तुम क्षुद्र स्वार्थपरतामें, अविवेकपूर्ण आत्म-हितचिन्तनमें, निष्ठुर अशुभ इच्छामें निवास करो तो तुम अपने जीवनके प्रत्येक मुहूर्त उसीमें सांस लोगे और उसका अर्थ होगा दुःख, निरंतर बेचैनी; उसका अर्थ होगा कुत्सित होनेके कारण निराशामय बीभत्सता।

और यह न सोचो कि इस शरीरको छोड़ देनेपर तुम इस वातावरणसे मुक्त हो जाओगे; बल्कि शरीर तो अचेतनाके एक पर्दे जैसा है जो दुःख-क्लेशकी तीव्रताको कम कर देता है। यदि तुम शरीरके संरक्षणसे रहित होकर अत्यन्त स्थूल प्राणिक जीवनमें चले जाओ तो दुःख-कष्ट बहुत अधिक तीव्र हो जायगा और फिर तुम्हें ऐसा सुयोग नहीं मिलेगा कि जो बदलने लायक है उसे बदल दिया जाय, जो संशोधन योग्य है उसे संशोधित कर दिया जाय, एक अधिक उच्च, अधिक सुखमय और अधिक ज्योतिर्मय जीवन तथा चेतनाकी ओर अपना उद्‌घाटन किया जाय।

तुम्हें अपना काम यहीं शीघ्र कर लेनेकी कोशिश करनी चाहिये, क्योंकि वास्तवमें वह यहीं हो सकता है।

मृत्युसे किसी चीजकी आशा मत करो। जीवन ही तुम्हारे लिये सुरक्षा है।

बस, जीवनमें रहकर ही तुम्हें अपनेको रूपान्तरित करना चाहिये। इस पृथ्वीपर ही तुम उन्नति कर सकते हो और इस पृथ्वीपर ही उपलब्ध कर सकते हो। इस शरीरमें ही तुम 'विजयश्री'को अधिकृत कर सकते हो।

२७-१२-१९५७

इध मोदति पेच्च मोदति कतपुञ्ञो उभयत्थ मोदति।
सो मोदति सो पमोदति दिस्वा कम्मविसुद्धिमत्तनो॥१६॥

वह यहां प्रमुदित होता है, मरनेके बाद प्रमुदित होता है, पुण्यात्मा दोनों जगह प्रमुदित होता है। वह प्रमुदित होता है, वह अपने कर्मोंकी पवित्रताको देखकर और भी अधिक प्रमुदित होता है।

इध तप्पति पेच्च तप्पति, पापकारी उभयत्थ तप्पति।
पापं मे कतंति तप्पति, भीय्यो तप्पति दुग्गतिङ्गतो॥१७॥

वह यहां संतप्त होता है, मरनेके बाद संतप्त होता है, पापकारी दोनों जगह संतप्त होता है। "मैंने पाप किया है" — यह सोच वह संतप्त होता है। (वह) दुर्गति (बुरे लोकों) को प्राप्त होकर और भी अधिक संतप्त होता है।

इध नन्दति पेच्च नन्दति, कतपुञ्ञो उभयत्थ नन्दति।
पुञ्ञं मे कतंति नन्दति, भीय्यो नन्दति सुग्गतिङ्गतो ॥१८॥

वह यहां आनन्दित होता है, मरनेके बाद आनन्दित होता है। पुण्य करनेवाला दोनों जगह आनन्दित होता है। "मैंने पुण्य किया है" — यह सोच वह आनन्दित होता है। (वह) सुगति (सुखमय लोकों) को प्राप्त होकर और भी अधिक आनन्दित होता है।

इन सूत्रोंसे प्रायः ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्म नरक और स्वर्गकी भावनाको स्वीकार करता है; परन्तु समझनेका यह एक बिलकुल ही छिछला तरीका है; क्योंकि गंभीर रूपमें बुद्धका विचार यह नहीं था। जिस विचारपर उन्होंने बराबर जोर दिया है वह यह है कि तुम अपने आचरण तथा अपनी चेतनाकी अवस्थाके द्वारा उस जगत्को उत्पन्न करते हो जिसमें तुम रहते हो। प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्दर उस जगत्को वहन करता है जिसमें कि वह रहता है और जिसमें वह अपना शरीर छोड़ देनेके बाद भी निवास करता रहेगा, क्योंकि बुद्धकी शिक्षाके अनुसार, ऐसा कह सकते हैं कि, शरीरके जीवन और शरीरके बाहरके जीवनमें कोई भेद नहीं है।

कुछ लोग विश्वास करते हैं, कुछ परंपराएं शिक्षा देती हैं कि शरीरसे बाहर आ जाना एक वरदान है और सभी कठिनाइयां दूर हो जाती हैं, बशर्ते कि तुम किन्हीं विशेष धार्मिक क्रियाओंको पूरा कर दो, जैसा कि कुछ धर्मोंमें किया जाता है; और यही कारण है कि धार्मिक क्रियाओंको इतना अधिक महत्त्व भी दिया गया है, मानों वे शरीर छोड़नेके बाद किसी सुखमय लोकमें जानेके पासपोर्ट हों। कुछ लोग तो यहांतक कल्पना करते हैं कि जैसे ही तुम शरीर छोड़ देते हो वैसे ही, तुरत सभी दुःख-क्लेशको भी छोड़ देते हो; परन्तु यह सत्यसे कोसों दूर है और इस बातको 'धम्मपद' यहां सूचित करता है: जिसे बुरा लोक या दुर्गति कहा गया है वह उन सब मनोवैज्ञानिक स्तरोंसे, चेतनाकी उन विशिष्ट अवस्थाओंसे बना होता है जिसमें तुम बुरे कर्म करनेपर जाते हो, अर्थात्, उस समय जाते हो जब तुम जो कुछ सुन्दर, शुद्ध और सुखदायी है उससे अलग भटक जाते

हो और कुत्सितता तथा दुष्टताके अन्दर निवास करते हो। दुष्टताके वातावरणमें निवास करनेकी अवस्थासे अधिक अवसाद उत्पन्न करनेवाली दूसरी कोई अवस्था नहीं है।

यहांपर 'धम्मपद' जो कुछ प्रायः बचकाने रूपमें कहता है वह मूलतः सत्य है। स्वभावतः ही, वह उन लोगोंकी बात नहीं कहता जो यह सोचते हैं: "ओह, मैं कितना भला हूं, कितना अच्छा हूं!" और इस तरह वे अपनेको सुखी अनुभव करते हैं। यह तो लड़कपन है। परन्तु, जब तुम अच्छे हो, जब तुम उदार हो, महान्, निःस्वार्थ और परोपकारी हो तो तुम अपने अन्दर, अपने चारों ओर एक वातावरण उत्पन्न करते हो और यह वातावरण एक प्रकारकी ज्योतिर्मय शान्तिकी तरह होता है। तुम सूर्यकी रोशनीमें एक फूलकी तरह सांस लेते और विकसित होते हो, और कटुता, विद्रोह और संतापमें अपनी ओर मुड़नेकी दुःखद अवस्थामें नहीं लौटते। सहज, स्वाभाविक रूपमें, वातावरण ज्योतिर्मय बन जाता है। और जो हवा तुम सांसमें लेते हो वह आनन्दसे भरी होती है। बस, तुम इसी हवाको सांसमें लेते हो जब शरीरमें रहते हो या शरीरसे बाहर, जाग्रत् अवस्थामें होते हो या नींदकी अवस्थामें, जीवनमें होते हो या जीवनसे बाहर चले जाते हो, पार्थिव जीवनसे बाहर, जबतक तुम नया जीवन नहीं प्राप्त कर लेते।

सभी दोषपूर्ण कार्य चेतनापर उस हवाके जैसा प्रभाव उत्पन्न करते हैं जो सुखा देती है, उस ठंडकके जैसा प्रभाव डालते हैं जो जमा देती है, अथवा उस जलती लौके जैसा प्रभाव डालते हैं जो जलाकर भस्म कर देती है।

सभी अच्छे और सौजन्यपूर्ण कार्य ज्योति, विश्रान्ति और आनन्द प्रदान करते हैं—ऐसा सूर्यका प्रकाश ले आते हैं जिसमें फूल खिलते हैं।

३-९-१९५८

बहुंपि चे संहितं भासमानो, न तक्करो होति नरो पमत्तो।
गोपो'व गावो गणयं परेसं, न भागवा सामञ्ञस्स होति॥१९॥

चाहे कितनी ही संहिताओं (वेदमंत्रों)का पाठ क्यों न करे, पर वह यदि प्रमादी बनकर उनके अनुसार आचरण नहीं करता तो उस ग्वालेके जैसा बन जाता है जो केवल दूसरेकी गायोंको गिनता है; वह श्रमणपन (= पवित्र शिष्यत्व) का भागी नहीं होता।

अप्पम्पि चे संहितं भासमानो, धम्मस्स होति अनुधम्मचारी।
रागञ्च दोसञ्च पहाय मोहं, सम्मप्पजानो सुविमुत्तचित्तो।
अनुपादियानो इध वा हुरं वा, स भागवा सामञ्ञस्स होति॥२०॥

चाहे बहुत कम ही संहिताओंका पाठ क्यों न करे, पर वह यदि धर्म (पवित्र शिक्षा) के अनुसार आचरण करता हो तो राग, द्वेष और मोहको त्याग कर, सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर, संपूर्ण मुक्त चित्तवाला होकर, यहां या वहां (कहीं) किसी चीजकी चाह न रख श्रमणपन (=पवित्र शिष्यत्व)का भागी होता है।

यह बात इतनी अधिक बार कही जा चुकी और दुहरायी जा चुकी है कि इसपर जोर देना बिलकुल बेकार प्रतीत होता है कि थोड़ा-सा आचरण भी बातचीतके पहाड़ोंसे अनन्तगुना अधिक मूल्यवान् है। निश्चय ही, किसी सिद्धान्तकी व्याख्या करनेमें जितनी शक्ति खर्च की जाती है उसका उससे कहीं अधिक अच्छा उपयोग अपने अन्दरकी किसी कमजोरी या दोषको दूर करनेमें किया जा सकता है।

अतएव, इस शिक्षाकी बुद्धिमत्ताका समर्थन करनेके लिये हम प्रस्ताव करते हैं कि हम राग, द्वेष और मोहका त्याग करनेके सर्वोत्तम उपायपर विचार करें।

मोहका अर्थ है बाहरी रूपको ही सद्वस्तु समझना और क्षणभंगुर वस्तुओंको ही एकमात्र अनुकरणीय वस्तु, चिरस्थायी सत्य मानना।

यहां यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है कि 'धम्मपद' स्पष्ट रूपमें स्थापित करता है कि केवल इसी जगत्के बन्धनोंसे मुक्त होना पर्याप्त नहीं है वरन् जगतोंके बन्धनोंसे मुक्त होना होगा।

सच्चा और उत्साही बौद्ध तुमसे कहेगा कि साधारण धर्म उन लाभोंका लोभ दिखाकर तुम्हें प्रभावित करते हैं जो उनके सिद्धान्तोंका अनुसरण करनेपर तुम्हारी मृत्युके बाद तुम्हें उनके स्वर्गमें मिलेंगे। परन्तु बौद्ध धर्ममें न तो स्वर्ग है न नरक। वह तुम्हें न तो शाश्वत दण्डका भय दिखाता है और न स्वर्गीय सुख-भोगका प्रलोभन देता है।

इस धर्मके अनुसार विशुद्ध 'सत्य'में पहुंचकर तुम अपनी पूर्ण तृप्ति प्राप्त करोगे और अपने प्रयासोंका पुरस्कार प्राप्त करोगे।

१०-१-१९५८

२. अप्पमादवग्गो (जागरूकता)

अप्पमादो अमत-पदं पमादो मच्चुनो पदं।
अप्पमत्ता न मीयन्ति ये पमत्ता यथा मता ॥१॥

अप्रमाद (अर्थात्, जागरूकता) अमरत्व या निर्वाणका पथ है, प्रमाद (अर्थात्, आलस्य) मृत्युका पथ है। अप्रमादी (=जागरूक मनुष्य) कभी नहीं मरता; प्रमादी (=असावधान) मनुष्य मृतके जैसे हैं।

यहां 'धम्मपद'में, जैसा कि तुम देखते हो, निर्वाण शब्दका प्रयोग "लय"के अर्थमें नहीं हुआ है, बल्कि एक शाश्वत जीवनके अर्थमें हुआ है जो जीवन और मृत्युके, जैसा कि हम उन्हें इस वर्तमान पार्थिव जीवनमें जानते हैं, विपरीत हैं। ये जीवन और मृत्यु एक-दूसरेके विपरीत हैं: जीवन मृत्युके विपरीत है और मृत्यु जीवनके विपरीत। यहां **इस** जीवनकी नहीं, बल्कि शाश्वत जीवनकी बात कही गयी है जो जन्म-मृत्युके परे है—सच्चा जीवन है।

जागरूकताका अर्थ है जगे रहना, अपने विषयमें सावधान रहना, सच्चा होना—कभी बेखबरीमें आक्रांत न होना। जब तुम साधना करना चाहते हो तो तुम्हें अपने जीवनके प्रत्येक क्षणमें चुनाव करना होगा—या तो तुम वह पग उठाओगे जो तुम्हें लक्ष्यकी ओर ले जायगा अथवा तुम सो जाओगे या कभी-कभी पीछे भी हट जाओगे, रास्तेमें बैठकर कहोगे, "ओह! बादमें, अभी तुरत नहीं।"

जागरूक होनेका अर्थ केवल यही नहीं है कि जो चीज तुम्हें नीचेकी ओर खींचती है उसका प्रतिरोध करो, बल्कि उसका अर्थ है सजग होना ताकि तुम प्रगति करनेका, किसी कमजोरीको जीतनेका, किसी प्रलोभनका प्रतिरोध करनेका, कोई चीज सीखनेका, कोई चीज सुधारनेका, किसी चीज-पर संयम स्थापित करनेका कोई अवसर न खो दो। यदि तुम जागरूक हो तो अपने जीवनकी प्रत्येक परिस्थितिको, प्रत्येक कार्य, प्रत्येक गतिविधि-को लक्ष्यके अधिक समीप जानेके एक सुयोगमें परिवर्तित कर लोगे।

जागरूकता दो प्रकारकी होती है, निष्क्रिय जागरूकता और सक्रिय जाग-रूकता। एक जागरूकता ऐसी है जो तुम्हें ठीक उसी समय चेतावनी देती है जिस समय तुम कोई भूल करनेवाले होते हो, तुम कोई गलत चुनाव करनेवाले होते हो, तुम दुर्बल बनने जाते हो अथवा किसी प्रलोभनमें पड़ जाते हो; दूसरी जागरूकता सक्रिय होती है जो प्रगति करनेका अवसर

ढूंढती है, अधिक तेजीसे आगे बढ़नेके लिये प्रत्येक परिस्थितिका उपयोग करना चाहती है।

तुम्हें गिरनेसे बचाने और तुम्हें अधिक तेजीसे आगे बढ़ा ले जानेमें बड़ा भेद है।

और दोनों प्रकारकी जागरूकता एकदम आवश्यक हैं।

जो जागरूक नहीं है वह मरा हुआ ही है। उसने अस्तित्वके, जीनेके सच्चे कारणके साथ अपना संपर्क खो दिया है।

अतएव, घंटे, परिस्थितियां, जीवन, सभी बिना कुछ दिये चले जाते हैं और तुम अपनी नींदसे एक ऐसी खाईमें जगते हो जहांसे बाहर निकलना बड़ा कठिन होता है।

१७-१-१९५८

एतं विसेसतो ञत्वा अप्पमादम्हि पण्डिता।
अप्पमादे पमोदन्ति अरियानं गोचरे रता ॥२॥

अप्रमादशील पंडितगण इसे खूब अच्छी तरह जानते हैं और महान् पुरुषों (=आर्यों) के सान्निध्यमें सदा रहते हुए अपने अप्रमादका आनंद भोगते हैं।

इस सारी शिक्षामें एक बात ध्यान देने योग्य है; वह यह है कि तुमसे कहीं यह नहीं कहा गया है कि अच्छी तरह जीवन बिताना, अच्छी तरह सोचना-समझना किसी संघर्ष या किसी त्यागका परिणाम है; इसके विपरीत, यह एक आनंदपूर्ण स्थिति है जो सभी कष्टोंको दूर करती है। उस युगमें, बुद्धके कालमें, आध्यात्मिक जीवन यापन करना एक हर्षकी, आनंदकी अवस्था थी, अत्यंत प्रसन्नतापूर्ण स्थिति थी, वह चीज थी जो तुम्हें संसारकी सभी विपत्तियोंसे मुक्त करती है, सभी दुःख-कष्टों, सभी दुश्चिंताओंसे छुटकारा देती है, तुम्हें प्रसन्न, संतुष्ट, परितृप्त बनाती है।

आधुनिक युगके जड़वादने आध्यात्मिक प्रयासको एक दुःखपूर्ण प्रयास और एक बलिदान, जीवनके सभी तथाकथित सुखोंके एक कठोर त्यागका रूप दे दिया है।

भौतिक जगत्को, भौतिक सुख-भोग, भौतिक आनंद, भौतिक वैभवको ही एकमात्र सद्वस्तु समझनेका जो यह आग्रह है, यह मानव-सभ्यताकी समस्त जड़वादी प्रवृत्तिका ही परिणाम है। प्राचीन युगोंमें इसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था। बल्कि, संसारसे अलग होना, एकाग्रता, सभी

भौतिक चिंताओंसे मुक्ति, आध्यात्मिक आनंदके लिये उत्सर्ग आदि चीजें ही वास्तवमें प्रसन्नता देनेवाली थीं।

इस दृष्टिसे देखें तो यह बिलकुल स्पष्ट है कि मनुष्यजाति प्रगतिसे कोसों दूर है; और जो लोग संसारमें जड़वादी सभ्यताके केंद्रोंमें पैदा हुए हैं उनकी अवचेतनामें यह भयंकर भावना भरी हुई है कि केवल जड़-जगत्के तथ्य ही सत्य हैं और जो चीजें जड़-जगत्की नहीं हैं उनमें उसका रहना एक अद्भुत बलिदानकी भावना है, करीब-करीब एक अलौकिक प्रयास है। सवेरेसे शामतक और शामसे सवेरेतक, सभी छोटी-छोटी भौतिक तृप्तियों, भौतिक संवेदनों, भौतिक व्यापारोंमें व्यस्त न बने रहना एक प्रकारके विलक्षण चरित्रका प्रमाण है। मनुष्य इसके विषयमें सचेत नहीं है; पर समूची आधुनिक सभ्यता इसी परिकल्पनाके ऊपर निर्मित हुई है: "ओह! जो कुछ तुम छूते हो उसके विषयमें तुम निश्चित हो कि वह सत्य है; जो कुछ तुम देखते हो वह निश्चय ही वह चीज है जो सत्य है; जो कुछ तुम खाते हो वह निश्चय ही वही चीज है जिसे तुमने खाया है; और बाकी जो सब है — फुस! हम बिलकुल निश्चित नहीं हैं कि वे निरर्थक स्वप्न हैं या नहीं, और हम मिथ्याके लिये सत्यको, परछाईंके लिये शिकारको छोड़ रहे हैं या नहीं। आखिरकार, तुम क्या पाने जा रहे हो? कुछ थोड़े-से स्वप्न! परंतु तुम्हारी जेबमें जब ठोस सिक्के हों तो तुम्हें विश्वास होता है कि वे तुम्हारे पास हैं।"

और यह बात सर्वत्र है, सभी चीजोंके पीछे है। ऊपरी सतहको बस थोड़ा-सा खुरचो और इसे तुम वहां, अपनी चेतनाके अंदर पाओगे; और समय-समयपर यह चीज तुम्हारे कानोंमें फुसफुसाती है: "सावधान, उल्लू मत बनो।" वास्तवमें, यह बात बड़ी ही शोचनीय है।

लोग कहते हैं कि क्रम-विकास धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा है और यह ऊर्ध्वविकासकी चक्राकार गतिका अनुसरण करता है। मुझे इसमें कोई संदेह नहीं कि जिसे हम आधुनिक शहरोंमें सुख-सुविधाका नाम देते हैं वह गुहामानवकी सुख-सुविधासे बहुत ऊंचे स्तरका विकास है। परंतु प्राचीन इतिहासोंमें लोगोंने बराबर ही दूरदर्शनकी शक्तिका, भविष्यवाणी करनेकी भावनाका, सूक्ष्म-दर्शनद्वारा भावी घटनाओंकी घोषणा करनेका, किसी अधिक सूक्ष्म वस्तुके साथ जीवनकी घनिष्ठताका वर्णन किया है। ये सब बातें उस युगके सीधे-सरल लोगोंके लिये अधिक ठोस सत्य थीं।

अब सुंदर-सुंदर शहरोंमें, जो इतनी सुख-सुविधाओंसे भरपूर हैं, जब लोग किसी चीजके विरुद्ध अपनी राय देना चाहते हैं तब भला वे क्या कहते हैं? "अरे — यह एक सपना है, यह एक कपोल-कल्पना है।"

और यदि कोई व्यक्ति ठीक-ठीक किसी आंतरिक अनुभूतिके साथ जीवन बिताता है तब लोग उसकी ओर संदेहकी दृष्टिसे ताकते हैं और पूछते हैं कि क्या इस व्यक्तिका दिमाग सचमुच ठीक है। जो व्यक्ति धन इकट्ठा करनेमें अथवा अपनी सुख-समृद्धिको बढ़ानेमें, एक अच्छा पद प्राप्त करनेमें और एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति बननेमें अपना समय नहीं बिताता, जो मनुष्य ऐसा नहीं होता उसपर लोग विश्वास नहीं करते, पूछते हैं कि क्या उसका दिमाग ठिकाने है।

और यह सब इस हदतक वातावरणका उपादान बना हुआ है, जिस हवाको तुम सांसमें लेते हो उसमें भरा हुआ है, जो विचार दूसरोंसे तुम ग्रहण करते हो उनका आधारभूत तत्त्व बना हुआ है कि यह बिलकुल स्वाभाविक प्रतीत होता है। तुम्हें ऐसा नहीं लगता कि यह एक वीभत्स विरूपता है।

अपने विषयमें थोड़ा अधिक सचेतन होना, ऊपरी आकारके पीछे विद्यमान् जीवनके साथ संपर्क स्थापित करना आदि तुम्हें सबसे श्रेष्ठ संपत्ति नहीं लगते। जब तुम एक सजी हुई मेजके सामने एक आरामदेह कुर्सीपर बैठते हो, जब तुम अपने पेटको एक सुस्वादु भोजनसे भरते हो तो वह निश्चय ही तुम्हें बहुत अधिक स्पष्ट और बहुत अधिक रुचिकर प्रतीत होता है। और यदि तुम उस दिनकी ओर ताकते हो जो बीत चुका, उस दिनके खातेको देखते हो और यदि उस दिन तुम्हें कोई भौतिक लाभ, कोई सुख, कोई स्थूल तृप्ति हुई हो तो तुम उस दिनको अच्छा मानते हो; परंतु तुमने यदि जीवनसे कोई अच्छी शिक्षा पायी हो, यदि उसने तुम्हारी नाकपर यह बतानेके लिये एक घूंसा दिया है कि तुम एक मूर्ख हो, तुम भागवत कृपाके प्रति कृतज्ञता नहीं प्रकट करते, तुम कहते हो: "ओह, जीवित रहना हमेशा विनोदपूर्ण नहीं होता!"

जब मैं इन सब प्राचीन ग्रंथोंको पढ़ती हूं तो मुझे ठीक ऐसा लगता है कि आंतरिक दृष्टिसे, सत्य-जीवनके दृष्टिकोणसे, हम लोग बहुत पीछे हट गये हैं और कुछ थोड़ी-सी सुकल्पित मशीनोंके लिये, अपने आलस्यको थोड़ा-सा प्रोत्साहन देनेके लिये, जीवन यापन करनेके प्रयासको कम करनेवाले यंत्रों और औजारोंको प्राप्त करनेके लिये हमने आंतरिक जीवनके सत्यका ही त्याग कर दिया है, हमने उस बोधको ही खो दिया है। और यदि हम जीवन-संबंधी इस बोधको, अपने अस्तित्वके प्रधान कारणको, जिस लक्ष्यकी ओर हमें आगे बढ़ना चाहिये, जिसकी ओर समस्त जीवन चाहते हुए या बिना चाहे अग्रसर हो रहा है, उस लक्ष्यको जाननेकी बात सोचना चाहें तो इसके लिये भी प्रयास करनेकी आवश्यकता होती है। लक्ष्यकी ओर एक

पग भी बढ़ना चाहें तो, आह! उसके लिये कितने अधिक प्रयासकी आवश्यकता होती है! और साधारणतया, इसकी बात कोई केवल तभी सोचता है जब बाहरी परिस्थितियां सुखदायी नहीं होतीं।

उस युगसे हम कितनी दूर आ गये हैं जब गड़रिया पाठशाला गये बिना और तारोंसे जगमगाती रातमें अपनी भेड़ोंपर पहरा देते हुए तारोंको देखकर यह पढ़ लेता था कि क्या होनेवाला है, उस चीजके साथ संपर्क स्थापित कर लेता था जो प्रकृतिके भीतरसे अपनेको व्यक्त करती है और उस गंभीर सौंदर्य और उस शांतिको समझ लेता था जो जीवनकी सरलता प्रदान करती है!

यह बड़े दुर्भाग्यकी बात है कि एक चीजको पानेके लिये एक दूसरी चीजको छोड़ देना पड़ता है। जब मैं तुमसे आंतरिक जीवनकी बात कहती हूं तब मैं आधुनिक आविष्कारोंका विरोध नहीं करती, बिलकुल नहीं करती; परंतु इन आविष्कारोंने हमें कितना अधिक कृत्रिम और मूढ़ बना दिया है! हमने सच्चे सौंदर्यके बोधको खो दिया है, निरर्थक आवश्यकताओंका कितना बड़ा बोझ हमारे सिरपर आ पड़ा है!

शायद समय आ गया है जब हम क्रम-विकासकी चक्राकार गतिमें ऊपर उठना जारी कर सकते हैं और जड़-तत्त्वके इस ज्ञानने हमें जो कुछ प्रदान किया है उसकी सहायतासे अपनी आध्यात्मिक प्रगतिको एक अधिक मजबूत आधार दे सकते हैं। प्रकृतिके रहस्योंके विषयमें हमने जो कुछ सीखा है उससे लैस होकर हम सत्ताके दोनों चरम छोरोंको एक साथ जोड़ देंगे तथा परमाणुके एकदम हृदयमें परात्पर सत्यको ढूंढ निकालनेमें समर्थ होंगे।

२४-१-१९५८

ते झायिनो सातत्तिका निच्चं दळ्हपरक्कमा।
फुसन्ति धीरा निब्बाणं योगक्खेमं अनुत्तरं॥३॥

जो बुद्धिमान्, ध्यान-परायण, अध्यवसायी हैं और निरंतर अपने विरुद्ध संघर्ष करते हैं, वे निर्वाणको प्राप्त होते हैं जो अनुपम योग-क्षेम (=परमानंद) है।

उट्ठानवतो सतिमतो सुचिकम्मस्स निसम्मकारिणो।
सञ्ञतस्स च धम्मजीविनो अप्पमत्तस्स यसोऽभिवड्ढति॥४॥

जो उत्साही, स्मृतिमान्, पवित्र कर्म करनेवाला और सोच-

समझकर काम करनेवाला है, जो आत्मसंयमी है और धर्मके अनुसार जीवन बिताता है एवं अप्रमादी है, (वह) अपने यशको सदा बढ़ते हुए देखता है।

अच्छा नाम-यश पानेकी यह प्रतिज्ञा मुझे बौद्ध धर्मकी शिक्षाके एकदम अनुकूल नहीं प्रतीत होती। संभवतः इसका अर्थ कुछ और ही है। और नैतिक नियमोंके अनुसार जीवन बितानेके लिये मनुष्यको यह जरूर जानना चाहिये कि यहां कौन-सा नैतिक नियम अभिप्रेत है। कारण, यह वह सामान्यतया स्वीकृत सामाजिक नैतिकता ही हो तो वह भी मुझे बहुत आकर्षक प्रतिज्ञा नहीं प्रतीत होती। जिन लोगोंने सभी सांसारिक दुर्बलताओंको त्याग देनेका निश्चय किया है वे निश्चय ही सामाजिक नैतिकताको तुष्ट करनेकी परवाह नहीं करते हैं... नाम-यश कमानेकी !

उत्साहसे भरपूर रहना एक बहुत अच्छी बात है, कार्यमें पवित्र होना भी अति आवश्यक है, सोच-विचारकर काम करना भी उत्तम है, लोग कभी पर्याप्त मात्रामें ऐसा नहीं करते; अपने आवेगोंको संयमित करनेके विषयमें तो कुछ कहनेकी गुंजायश ही नहीं, यह तो आरंभ है... पर वह निष्कर्ष !!

लेकिन, मैं देखती हूं कि "धम्म"का अनुवाद यहां "ला" (नियम, विधान) शब्दसे किया गया है और "यश" का "फेम" (सुनाम) शब्दसे, जहां "धम्म" का अर्थ होना चाहिये, "आंतरिक सत्य" और "यश" का "आध्यात्मिक गरिमा"। अतएव, हम इस वचनका अर्थ इस प्रकार कर सकते हैं: "जो भी उत्साहसे भरपूर है, कर्ममें पवित्र है, सोच-समझकर कार्य करता है, अपने आवेगोंको संयमित करता है, आंतरिक सत्यके अनुसार जीवन बिताता है, वह अपनी आध्यात्मिक गरिमाको सदा बढ़ते हुए देखेगा।"

इस तरह देखनेसे यह पद उत्तम है। हम इसके अनुसार चलनेसे बढ़कर और कुछ नहीं कर सकते।

३१-१-१९५८ और ७-२-१९५८

उट्ठानेन'प्पमादेन सञ्ञमेन दमेन च।
दीपं कयिराथ मेधावी यं ओघो नाभिकीरति॥५॥

मेधावी (मनुष्यको अपने) उत्साह, अप्रमाद, संयम और दम (=अनुशासन और आत्म-संयम) के द्वारा (अपने लिये एक ऐसे) द्वीपका निर्माण करना चाहिये जिसे कोई बाढ़ डुबा न सके।

पमादमनुयुञ्जन्ति बाला दुम्मेधिनो जना।
अप्पमादञ्च मेधावी धनं सेट्ठं'व रक्खति ॥६॥

मूर्ख, बुद्धिसे रहित लोग प्रमादमें मनोयोग देते हैं। मेधावी (बुद्धिमान् मनुष्य) श्रेष्ठ धनकी तरह अप्रमाद (सजगता) की रक्षा करता है।

मा पमादमनुयुञ्जेथ मा कामरतिसन्थवं।
अप्पमत्तो हि झायन्तो पप्पोति विपुलं सुखं ॥७॥

प्रमादमें मन मत दो, न आवेगके भोगमें लिप्त होओ। प्रमाद-रहित (व्यक्ति) ही ध्यान करते हुए विशाल सुखको प्राप्त होता है।

पमादं अप्पमादेन यदा नुदति पण्डितो।
पञ्ञापासादमारुय्ह असोको सोकिनिं पजं।
पब्बतट्ठो'व भूम्मट्ठे धीरो बाले अवेक्खति ॥८॥

पंडित (=ज्ञानी) लोग अप्रमादके द्वारा प्रमादको दूर हटाते हैं; वे प्रज्ञाके प्रासादपर आरोहण करते हैं और स्वयं शोकरहित होकर मानों पर्वतपरसे भूमिपर स्थित अज्ञानियोंको शोक करते हुए देखते हैं।

अप्पमत्तो पमत्तेसु सुत्तेसु बहुजागरो।
अबलस्सं'व सीघस्सो हित्वा याति सुमेधसो ॥९॥

प्रमादियोंके बीच अप्रमादी, सोनेवालोंके बीच बहुत जागनेवाला बुद्धिशाली (व्यक्ति) उस घोड़ेके समान तेज जाता है जो दुर्बल घोड़ेको (पीछे) छोड़ देता है।

अप्पमादेन मघवा देवानं सेट्ठतं गतो।
अप्पमादं पसंसन्ति पमादो गरहितो सदा ॥१०॥

अप्रमाद होनेके कारण इन्द्र देवताओंमें श्रेष्ठ बने हैं। अप्रमाद प्रशंसायोग्य है। प्रमाद सदा गर्हित (=निंदनीय) है।

अप्पमादरतो भिक्खु पमादे भयदस्सि वा।
सञ्ञोजनं अणुं थूलं डहं अग्गीव गच्छति ॥११॥

(जो) भिक्षु अप्रमादमें रत है और प्रमादसे कतराता (है)

(वह) आगकी तरह बड़े-छोटे, सभी बंधनोंको जलाते हुए आगे बढ़ता है।

अप्पमादरतो भिक्खु पमादे भयदस्सि वा।
अभब्बो परिहृणाय निब्बाणस्सेव सन्तिके ॥१२॥

(जो) भिक्षु अप्रमादमें रत है और प्रमादसे भय खाता है, वह कभी पथभ्रष्ट नहीं होता, (वह) निर्वाणके समीप पहुंचता है।

मैंने तुम्हारे सामने पूरा अध्याय पढ़ा है, क्योंकि मुझे ऐसा लगा कि ये सभी श्लोक एक साथ मिलकर एक वातावरण उत्पन्न करते हैं और ये एक साथ ही पढ़नेके लिये अभिप्रेत हैं, अलग-अलग नहीं। पर मैं बड़े जोरसे तुमसे यह सिफारिश करती हूं कि तुम यहां प्रयुक्त शब्दोंको उनके ठीक प्रचलित शाब्दिक अर्थोंमें मत ग्रहण करो।

उदाहरणार्थ, मुझे पूरा विश्वास है कि मूल विचारका मतलब यह नहीं था कि तुम्हें इसलिये जागरूक होना चाहिये कि लोग तुम्हारी प्रशंसा करें और तुम्हें इसलिये प्रमादी (असावधान) नहीं होना चाहिये कि लोग तुम्हारी निंदा न करें। इसके अतिरिक्त, यहांपर दिया हुआ उदाहरण यह साबित करता है कि निश्चय ही, हिन्दू-परंपराके अनुसार अधिमानसिक देवताओंके राजा इंद्रने प्रशंसा प्राप्त करनेके उद्देश्यसे ही जागरूकताका अभ्यास नहीं किया था। यह बात कहनेका एक बहुत ही बचकाना तरीका है। फिर भी, यदि तुम इन श्लोकोंको एक साथ लो तो इनके अपने पुनर्कथन और आग्रहके कारण इनमें एक ऐसी शक्ति विद्यमान है जो अभिव्यक्तिकी इच्छा रखनेवाली चीजको उद्बुद्ध करती है। ये श्लोक तुम्हें एक ऐसा मानसिक भाव प्रदान करते हैं, जो, यदि तुम इस साधनाका अनुसरण करो तो, बहुत लाभदायी होता और बहुत अधिक सामर्थ्य रखता है।

अंतके दो श्लोक विशेष रूपसे बहुत उद्बोधक हैं। भिक्षु अभीप्साकी जलती लौकी तरह आगे बढ़ता है और प्रमादका त्याग कर देता है।

प्रमादका वास्तवमें अर्थ है संकल्प-शक्तिकी शिथिलता जिससे मनुष्य अपने लक्ष्यको भूल जाता है और अपना समय ऐसी सब प्रकारकी चीजें करनेमें बिताता है जो प्राप्तव्य लक्ष्यकी ओर जानेमें सहायता करनेके बदले, उल्टे तुम्हें रास्तेमें रोक देती हैं और बहुत बार उसे पथभ्रष्ट करती हैं। इसलिये अभीप्साकी लौ भिक्षुके अंदर प्रमादके प्रति घृणा उत्पन्न कर देती है। प्रत्येक मुहूर्त वह याद रखता है कि अपेक्षाकृत समय बहुत थोड़ा है, हमें उसे रास्तेमें नष्ट नहीं करना चाहिये, हमें तेज चलना चाहिये, एक

क्षण भी खोये बिना अपनी शक्ति-भर तेज चलना चाहिये। और जो व्यक्ति जागरूक होता है, जो अपना समय नहीं खोता, वह देखता है कि उसके सब बंधन एक-एक करके गिरते जा रहे हैं — चाहे वे बड़े हों या छोटे — उसकी सारी कठिनाइयां, उसकी जागरूकताके कारण, विलीन हो जाती हैं। यदि वह अपने मनोभावको निरंतर बनाये रखे और उसमें उसे पूरा संतोष प्राप्त हो जैसा कि कुछ समयके बाद होता है, तो जागरूक होनेका आनंद इतना अधिक तीव्र हो जाता है कि यदि वह उस जागरूकताको खो दे तो तुरत अपनेको दुःखी अनुभव करने लगता है।

यह एक तथ्य है कि जब कोई मार्गपर समय नष्ट न करनेपर तुल जाता है तो जो भी समय नष्ट होता है वह एक दुःख बन जाता है और उसमें उसे किसी प्रकारका सुख नहीं प्राप्त हो सकता। और जब एक बार तुम उस स्थितिमें आ जाते हो, जब एक बार प्रगति और रूपांतरका यह प्रयास तुम्हारे जीवनमें अत्यंत महत्त्वपूर्ण बन जाता है, ऐसी चीज बन जाता है जिसपर तुम निरंतर विचार करते रहते हो, तब, निस्संदेह, तुम शाश्वत जीवन, अपनी सत्ताका सत्य पानेके पथपर आ जाते हो।

निश्चय ही, आंतरिक प्रगतिकी धारामें एक क्षण ऐसा आता है जब तुम एकाग्र होनेके लिये, सत्यको पाने और उसे उत्तम रूपमें अभिव्यक्त करने-की खोज करने और उसीका चिंतन करनेमें संलग्न होनेके लिये — जिसे बौद्ध लोग ध्यान कहते हैं — बिलकुल प्रयास नहीं करते और, उसके विपरीत, तुम एक प्रकारकी राहत, चैन, आराम, सुख अनुभव करते हो; तथा उसके बाहर आकर उन चीजोंमें व्यस्त होना जो बिलकुल आवश्यक नहीं हैं, जो सब समयका अपव्यय जैसी प्रतीत होती हैं, भयंकर दुःखदायी प्रतीत होता है। उस समय बाहरी क्रियाएं बस उतनी ही रह जाती हैं जो एक-दम आवश्यक होती हैं, बस, वे ही रह जाती हैं जो भगवानकी सेवाके रूपमें की जाती हैं। जो कुछ निःसार, अनुपयोगी होता है, जो कुछ निश्चित रूपसे समय और शक्तिके अपव्यय जैसा प्रतीत होता है वह सब — जरा भी संतोष देनेकी बात तो दूर — एक प्रकारकी बेचैनी और थकान उत्पन्न करता है; तुम बस उसी समय प्रसन्न रहते हो जब अपने लक्ष्यपर केंद्रित होते हो।

उस समय ऐसा कहा जा सकता है कि तुम अपने पथपर हो।

१४-२-१९५८

३. चित्तवग्गो (चित्त)

फन्दनं चपलं चित्तं दुरक्खं दुन्निवारयं।
उजुं करोति मेधावी उसुकारो'व तेजनं ॥१॥

चंचल चित्तकी चौकसी रखना, उसे संयमित करना कठिन है। मेधावी (मनुष्य) (उसे वैसे ही) सीधा करता है जैसे कोई बाण बनानेवाला बाणको सीधा करता है।

वारिजो'व थले खित्तो ओकमोकत उब्भतो।
परिफन्दति'दं चित्तं मारधेय्यं पहातवे ॥२॥

जैसे पानीसे उत्पन्न, मछली अपने जलमय निवास-स्थानसे बाहर भूमिपर फेंक दी जानेपर तड़फड़ाती है, (वैसे ही) मार (=राग, द्वेष, मोह) के फंदेसे निकलनेके लिये यह चित्त (भी तड़फड़ाता है)।

दुन्निग्गहस्स लहुनो यत्थ कामनिपातिनो।
चित्तस्स दमथो साधु चित्तं दन्तं सुखावहं ॥३॥

निग्रह करनेमें कठिन, अस्थिर और स्वेच्छाचारी है यह चित्त। इसे संयमित करना उत्तम है। संयमित चित्त सुख-प्रद होता है।

सुदुद्दसं सुनिपुणं यत्थ कामनिपातिनं।
चित्तं रक्खेय्य मेधावी, चित्तं गुत्तं सुखावहं ॥४॥

कठिनाईसे जानने योग्य, अत्यंत चतुर, जहां चाहे वहां जानेवाले चित्तको बुद्धिमान् (मनुष्य) अपने वशमें रखे। सुरक्षित चित्त सुखप्रद होता है।

दूरङ्गमं एकचरं असरीरं गुहासयं।
ये चित्तं सञ्ञमेस्सन्ति मोक्खन्ति मारबन्धना ॥५॥

यह दूर-दूरतक विचरण करता है, अकेला विचरण करता है, यह अशरीरी है, यह हृदयकी गुहामें निवास करता है। जो मनुष्य इसे वशमें कर लेता है वह मारके बंधनोंसे मुक्त हो जाता है।

अनवट्ठितचित्तस्स सद्धम्मं अविजानतो।
परिप्लवपसादस्स पञ्ञा न परिपूरति ॥६॥

जिसका चित्त सुस्थिर नहीं है, जो सच्चे धर्मको नहीं जानता, जिसकी प्रांजलता आच्छादित है, वह कभी पूर्ण प्रज्ञा (= परम ज्ञान) नहीं प्राप्त कर सकता।

अनवस्सुतचित्तस्स अनन्वाहतचेतसो।
पुञ्ञपापपहीणस्स नत्थि जागरतो भयं ॥७॥

जिसका चित्त कभी तितर-बितर नहीं होता, जिसका मन कभी घबड़ाता नहीं, जो पाप और पुण्यसे परे जा चुका है, जो इस प्रकार जागरूक है, उसे कोई भय नहीं है।

कुम्भूपमं कायमिमं विदित्वा नागरूपमं चित्तमिदं ठपेत्वा।
योधेथ मारं पञ्ञायुधेन जितं च रक्खे अनिवेसनो सिया ॥८॥

इस शरीरको महज मिट्टीका घड़ा (= भंगुर) समझ। इस चित्तको गढ़ (=नगरके) समान स्थापित कर। प्रज्ञारूपी (अपने) हथियारसे मारके साथ युद्ध कर। जो कुछ तुमने जीता है उसकी उत्तम रूपमें रक्षा कर।

अचिरं वत'यं कायो पठविं अधिसेस्सति।
छुद्धो अपेतविञ्ञाणो निरत्थं 'व कलिङ्गरं ॥९॥

अहो! यह तुच्छ शरीर बहुत शीघ्र एक मूल्यहीन, चेतनाहीन, निरर्थक काठकी भांति पृथ्वीपर गिरकर मर जायगा।

दिसो दिसं यन्तं कयिरा वेरी वा पन वेरिनं।
मिच्छापणिहितं चित्तं पापियो'नं ततो करे ॥१०॥

जितनी (हानि) द्वेषी द्वेषीके प्रति कर सकता है, और (जितनी हानि) बैरी बैरीके प्रति कर सकता है, उससे भी अधिक बुराई पथभ्रष्ट चित्त करता है।

न तं माता पिता कयिरा अञ्ञे चापि च ञातका।
सम्मापणिहितं चित्तं सेय्यसो 'नं ततो करे ॥११॥

जितनी (भलाई) माता-पिता नहीं कर सकते और न दूसरा

> कोई भाई-बंधु ही कर सकता है, उससे (अधिक) भलाई ठीक (मार्गपर) लगा चित्त करता है।

ऊपरके कुछ श्लोक उन लोगोंकी सभी आवश्यकताओंको बतलाते हैं जिन्होंने अपने मनको नहीं जीता है। वे उस आसक्तिकी ओर संकेत करते हैं जिसे मनुष्य अपने जीवन, विचार और प्रतिक्रियाके पुराने तरीकोंके प्रति उस समय भी बनाये रखता है जब वह उनसे बाहर निकलनेका प्रयास करता है। अपने प्रयाससे उनके बाहर आते ही, तुम पानीसे बाहर आयी मछलीके जैसे हो जाते हो और सांस लेनेके लिये छटपटाते हो, क्योंकि अब तुम अपनी अंधकारपूर्ण कामनाओंके घेरेमें नहीं होते।

जब तुम संकल्प कर लेते हो तब भी तुम्हारा मन अस्थिर बना रहता है। वह अतिसूक्ष्म होता है और उसे पकड़ना कठिन होता है। वह निरंतर अपनी निजी तुष्टिकी ताकमें रहता है, पर ऐसा करता हुआ प्रतीत नहीं होता और इसके आशय हृदयके मर्मस्थलमें इस तरह छिपे होते हैं कि उनका सच्चा स्वरूप नहीं दिखायी देता।

और अपने शरीरकी दुर्बलताको भूले बिना तुम्हें मनकी निजी दुर्बलताको दूर करके उसे शक्तिशाली बनानेकी कोशिश करनी चाहिये; तुम्हें ज्ञानकी तलवारसे विरोधी शक्तियोंके विरुद्ध युद्ध करना चाहिये, और जो प्रगति तुमने की है उसे बहुत अच्छी तरह सुरक्षित रखना चाहिये, ताकि ये शक्तियां तुम्हारी प्रगतिमें बाधा न उपस्थित करें, क्योंकि ये भीषण चोर हैं।

और फिर एक छोटा-सा श्लोक है उन लोगोंके लिये जो मृत्युसे डरते हैं, और उसका उद्देश्य है उन्हें उस भयसे मुक्त करनेकी कोशिश करना। अंतमें एक श्लोक उन लोगोंके लिये है जो अपने परिवारसे आसक्त हैं और वह उन्हें इस आसक्तिके खोखलेपनको स्पष्ट दिखा देता है।

अंतमें, एक आखिरी चेतावनी है: सभी कुपथगामी, असंयत विचार इतनी अधिक हानि पहुंचाते हैं जितना एक बैरी अपने शत्रुको, अथवा एक द्वेषी दूसरे द्वेषीको नहीं पहुंचा सकता। यह कहनेका अर्थ यह है कि जो लोग संसारमें सबसे सुंदर इरादे रखते हैं वे भी यदि अपने विचारपर विवेकपूर्ण संयम नहीं रखते तो वे स्वयं अपनी और जिन्हें वे प्यार करते हैं उनकी इतनी अधिक हानि करेंगे जितनी हानि बैरी एक बैरीकी अथवा द्वेषी दूसरे द्वेषीकी नहीं कर सकता।

मनमें स्वयं अपनेको धोखा देनेकी बेहिसाब शक्ति है। मन अपनी कामनाओं और रुचियोंको सब प्रकारके अद्‌भुत उद्देश्योंसे ढक देता है तथा

अपने छल-छद्मों, आक्रोशों एवं निराशाओंको कहीं अधिक अनुकूल आकारों-के नीचे छिपाता है।

इन सब चीजोंको जीतनेके लिये तुम्हारे अंदर एक योद्धाकी निर्भयता होनी चाहिये तथा होनी चाहिये, ईमानदारी, निर्भीकता एवं सद्हृदयता या सचाई जो सभी चीजोंसे हमारी रक्षा करती है।

२८-२-१९५८

४. पुप्फवग्गो (पुष्प)

को इमं पठविं विजेस्सति, यमलोकञ्च इमं सदेवकं।
को धम्मपदं सुदेसितं, कुसलो पुप्फमिव प्पचेस्सति ॥१॥

कौन इस पृथ्वीको और इस यमलोक तथा साथ ही देवताओंके लोकको जीतेगा ? पुष्प चयन करनेवाले एक कुशल (व्यक्ति)की तरह कौन पथको ढूंढ़ निकालेगा तथा दिखायेगा ?

सेखो पठविं विजेस्सति, यमलोकञ्च इवं सदेवकं।
सेखो धम्मपदं सुदेसितं, कुसलो पुप्फमिव प्पचेस्सति ॥२॥

शिष्य इस पृथ्वीको और इस मृत्युलोकको तथा साथ ही देवताओंके लोकको भी जीतेगा। पुष्प-चयन करनेवाले एक कुशल (व्यक्ति) की तरह शिष्य धर्मके पथको ढूंढ़ निकालेगा और दिखायेगा।

फेणूपमं कायमिमं विदित्वा, मरीचिधम्मं अभिसम्बुधानो।
छेत्वान मारस्स पपुप्फकानि, अदस्सनं मच्चुराजस्स गच्छे ॥३॥

वह इस शरीरको फेनके जैसा जानता है, वह इसे (मरु-) मरीचिकाके जैसे स्वभाववाला मानता है। वह मारके पुष्पमय बाणोंको काट देता है और मृत्युके राजा यमकी दृष्टिसे परे चला जाता है।

पुप्फानि हेव पचिनन्तं ब्यासत्तमनसं नरं।
सुत्तं गामं महोघोव मच्चू आदाय गच्छति ॥४॥

जैसे भीषण बाढ़ सोये हुए गांवको बहा ले जाती है, ठीक वैसे ही मृत्यु आकर उस मनुष्यको ले जाती है जो आसक्त मनके द्वारा यहां केवल (राग आदि के) पुष्पोंको चुननेमें व्यस्त रहते हैं।

पुप्फानि हेव पचिनन्तं व्यासत्तमनसं नरं।
अतित्तं येव कामेसु अन्तको कुरुते वसं॥५॥

जो मनुष्य अपनी कामनाओंमें सदा अतृप्त रहता है और यहां आसक्त मनके द्वारा केवल (राग आदिके) पुष्पोंको एकत्र करनेमें व्यस्त रहता है उसे मृत्यु (अपने) वशमें कर लेती है।

यथापि भमरो पुप्फं वण्णगन्धं अहेठयं।
पलेति रसमादाय एवं गामे मुनी चरे॥६॥

जैसे भ्रमर फूलके वर्ण और गंधको बिना हानि पहुंचाये उसके रसको लेकर चला जाता है, वैसे ही मुनि (=ज्ञानी व्यक्ति) गांवमें विचरण करे।

न परेसं विलोमानि न परेसं कताकतं।
अत्तनो'व अवेक्खेय्य कतानि अकतानि च॥७॥

दूसरोंके दोषोंको तथा उन्होंने क्या किया है और क्या नहीं किया है इसको मत देखो। तुमने स्वयं जो कुछ किया है और नहीं किया है केवल उसीको देखो।

यथापि रुचिरं पुप्फं वण्णवन्तं अगन्धकं।
एवं सुभासिता वाचा अफला होति अकुब्बतो॥८॥

जिस तरह कोई सुन्दर और वर्णयुक्त फूल बिना गंधके होता है, वैसे ही कोई सुभाषित (=सुंदर ढंगसे कही गयी) वाणी आचरणमें लाये बिना निष्फल होती है।

यथापि रुचिरं पुप्फं वण्णवन्तं सगन्धकं।
एवं सुभासिता वाचा सफला होति कुब्बतो॥९॥

जैसे कोई सुंदर और वर्णयुक्त फूल गंधवाला होता है, वैसे ही कोई सुभाषित वाणी आचरित होनेपर फलप्रद होती है।

यथापि पुप्फरासिम्हा कयिरा मालागुणे बहू।
एवं जातेन मच्चेन कत्तब्बं कुसलं बहुं॥१०॥

जैसे फूलोंकी राशिमेंसे कोई बहुत-सी मालाएं बना सकता है, वैसे ही कोई मर्त्य मानव इस जन्ममें बहुत-से अच्छे कार्य कर सकता है।

न पुप्फगन्धो पटिवातमेति न चन्दनं तगरमल्लिका वा।
सतञ्च गन्धो पटिवातमेति सब्बा दिसा सप्पुरिसो पवाति॥११॥

फूलकी सुगंध हवाके विरुद्ध नहीं जाती, न चंदन, न धूप और न चमेली (की ही सुगंध हवाके विपरीत जाती हैं)। परंतु संतकी सुगंध हवाके विपरीत जाती है; पवित्रात्मा सब दिशाओं-में प्रसारित हो जाता है।

चंदनं तगरं वापि उप्पलं अथ वस्सिकी।
एतेसं गन्धजातानं सीलगंधो अनुत्तरो॥१२॥

चाहे चंदन हो या धूप, जूही हो या कुमुदिनी, इन सब (की) सुगंधोंसे सदाचारकी सुगंध उत्तम है।

अप्पमत्तो अयं गन्धो यायं तगरचन्दनी।
या च सीलवतं गन्धो वाति देवेसु उत्तमो॥१३॥

धूप और चंदनमें जो गंध है वह अल्पमात्रामें है। परंतु सच्चरित्र मनुष्यसे जो गंध निकलती है (वह) सर्वोत्तम होती और देवताओंतक फैलती है।

तेसं सम्पन्नसीलानं अप्पमादविहारिनं।
सम्मदञ्ञाविमुत्तानं मारो मग्गं न विन्दति॥१४॥

(जो) लोग शीलसंपन्न हैं, बिना भूल और भ्रमके रहते और विचरण करते हैं, सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं और इसलिये विमुक्त हैं, (उनके) मार्गको मार नहीं जान सकता।

यथा संकारधानस्मिं उज्झितस्मिं महापथे।
पदुमं तत्थ जायेथ सुचिगन्धं मनोरमं॥१५॥
एवं संकारभूतेसु अन्धभूते पुथुज्जने।
अतिरोचति पञ्ञाय सम्मासम्बुद्धसावको॥१६॥

> जैसे महापथपर फेंके कूड़ेके ढेरपर मनोरम और सुन्दर गंध-
> वाला कमल खिल जाता है, ठीक वैसे ही अंधे और अज्ञानी
> लोगोंमेंसे सम्यक्-संबुद्ध (= यथार्थ ज्ञानी)का शिष्य (अपनी)
> प्रज्ञासे प्रकाशमान होता है।

यहां कुछ बड़े सुंदर और ज्ञानपूर्ण उपदेश हैं — जैसे, दूसरे जो कुछ करते हैं और वे जो भूलें करते हैं उनके विषयमें व्यस्त नहीं होना चाहिये, बल्कि अपने निजी दोषों और लापरवाहियोंको देखना चाहिये और उन्हें सुधारना चाहिये। दूसरी उत्तम सलाह है कि कभी बहुत अधिक ऐसी सुभाषित वाणी नहीं बोलनी चाहिये जो कर्ममें परिणत न की गयी हो — थोड़ा बोलो और उत्तम रूपमें काम करो। उनका कहना है कि जो सुंदर शब्द बस शब्द ही हैं, वे सुगंधहीन फूलकी तरह हैं।

और अंतमें, तुम अपने दोषोंके कारण कहीं हतोत्साह न हो जाओ इसलिये धम्मपद तुम्हें यह आश्वासन देनेवाली उपमा देता है: सड़कके किनारे पड़े हुए कूड़े-करकटके ढेरमेंसे विशुद्ध कमल उत्पन्न हो सकता है। कहनेका तात्पर्य यह कि कोई चीज इतनी रद्दी नहीं है कि उसमेंसे अत्यंत पवित्र उपलब्धि उत्पन्न न हो सके।

हमारा भूतकाल चाहे जो भी रहा हो, हमने चाहे जो भी भूलें की हों, हम चाहे जितने अज्ञानमें क्यों न रह चुके हों, हम अपने गभीरतम प्रदेशमें परम पवित्रताको धारण किये हुए हैं जो एक अनुपम अनुभूतिके रूपमें रूपांतरित हो सकती है।

बस, प्रधान बात है उसीके विषयमें सोचना, उसीके ऊपर एकाग्र होना और अपनी समस्त कठिनाइयों और विघ्न-बाधाओंके विषयमें भी संलग्न न रहना।

जो कुछ तुम बनना चाहते हो, बस, उसीपर पूर्ण रूपसे एकाग्र होओ और जो कुछ तुम नहीं होना चाहते उसे यथासंभव समग्र रूपमें भूल जाओ।

७-३-१९५८

५. बालवग्गो (मूढ़)

दीघा जागरतो रत्ति दीघं सन्तस्स योजनं।
दीघो बालानं संसारो सद्धम्मं अविजानतं॥१॥

जागनेवालेके लिये रात लंबी होती है; थके हुएके लिये योजन लंबा होता है; सच्चे धर्मको न जाननेवाले मूढ़ोंके लिये संसार (= जीवन-चक्र) लंबा होता है।

चरञ्चे नाधिगच्छेय्य सेय्यं सदिसमत्तनो।
एकचरियं दळ्हं कयिरा नत्थि बाले सहायता॥२॥

यदि अपनी खोजमें किसीको कोई अपनेसे श्रेष्ठ या स्वयं अपने बराबरका न मिले तो (उसे) दृढ़तापूर्वक अकेले ही चलना चाहिये; मूढ़ (व्यक्ति) से कोई सहायता नहीं मिल सकती।

पुत्ता म'त्थि धनम्म'त्थि इति बालो विहञ्ञति।
अत्ता हि अत्तनो नत्थि कुतो पुत्तो कुतो धनं॥३॥

"पुत्र मेरा है," "धन मेरा है" — ऐसा (कहकर) अज्ञ (व्यक्ति) अपनेको दुःख पहुंचाता है। स्वयं (अपनी) आत्मा (= शरीर) भी अपनी नहीं है, तब भला पुत्र और धन (अपना) कैसे (हो सकते हैं)?

यो बालो मञ्ञती बाल्यं पण्डितो वापि तेन सो।
बालो च पण्डितमानी, स वे बालो'ति वुच्चति॥४॥

जो मूढ़ (अपनी) मूढ़ताको समझता है वह उतने (अंश) में पंडित (= जानकार) है। (परंतु) जो मूढ़ अपनेको ज्ञानी समझता है वही वास्तवमें मूढ़ है।

यावजीवम्पि चे बालो पण्डितं पयिरुपासति।
न सो धम्मं विजानाति दब्बी सूपरसं यथा॥५॥

चाहे अज्ञ (= बाल, जड़) (व्यक्ति) (अपने) जीवन-भर किसी ज्ञानीकी सेवा क्यों न करे, (पर) वह (उसी तरह) धर्म-को नहीं जानता जैसे कि कलछी (= दबली) सूप (= दाल आदि) के रसको (नहीं जानती)।

मुहुत्तमपि चे विञ्ञू पण्डितं पयिरुपासति।
खिप्पं धम्मं विजानाति जिव्हा सूपरसं यथा ॥६॥

चाहे विज्ञ (व्यक्ति) एक मुहूर्त्त ही ज्ञानीकी सेवा क्यों न करे, (पर वह) उसी तरह धर्मको तुरत जान जाता है जैसे कि जीभ सूपके रसको (जान जाती है)।

चरन्ति बाला दुम्मेधा अमित्तेनेव अत्तना।
करोन्तो पापकं कम्मं यं होति कटुकप्फलं ॥७॥

मूढ़ (व्यक्ति) दुर्बुद्धि होनेके कारण स्वयं अपने शत्रुके रूपमें काम करता है, वह पाप-कर्म करता है, जो उसे कड़ुआ फल प्रदान करता है।

न तं कम्मं कतं साधु यं कत्वा अनुतप्पति।
यस्स अस्सुमुखो रोदं विपाकं पटिसेवति ॥८॥

वह कार्य ठीक कार्य नहीं जिसे करके (पीछे) अनुताप (=पछतावा) करना पड़े और जिसके फलको अश्रु बहाते और रोते हुए भोगना पड़े।

तञ्च कम्मं कतं साधु यं कत्वा नानुतप्पति।
यस्स पतीतो सुमनो विपाकं पटिसेवति ॥९॥

वही कर्म ठीक कर्म है जिसे करके (पीछे) पछताना न पड़े और जिसके फलको प्रसन्न और सुखी मनसे भोग किया जाय।

मधू'व मञ्ञति बालो याव पापं न पच्चति।
यदा च पच्चती पापं अथ दुक्खं निगच्छति ॥ १०॥

जबतक पापका कोई फल नहीं उत्पन्न होता तबतक मूर्ख (मनुष्य) उसे मधुके जैसा मीठा मानता है। जब पापका फल उत्पन्न हो जाता है तब (वह) दुःखी होता है।

मासे मासे कुसग्गेन बालो भुञ्जेथ भोजनं।
न सो संखतधम्मानं कलं अग्घति सोळसिं ॥११॥

यदि अज्ञ (मनुष्य) मास-पर-मास कुशकी नोकसे[1] भोजन करे

[1] कुशकी नोकसे भोजन करनेका अर्थ यहां कठोर तपस्या करना है।

तो भी (वह) धर्मके जाननेवालेके सोलहवें भागके बराबर भी नहीं होगा।

न हि पापं कतं कम्मं सज्जु खीरं'व मुच्चति।
डहन्तं बालमन्वेति भस्माच्छन्नो'व पावको ॥१२॥

ताजे दूधकी भांति किया गया पाप-कर्म भी (तुरंत) विकार नहीं लाता; वह भस्मसे ढकी आगकी भांति दग्ध करता हुआ अज्ञ (जन) का पीछा करता है।

यावदेव अनत्थाय ञत्तं बालस्स जायति।
हन्ति बालस्स सुक्कंसं मुद्धमस्स विपातयं ॥१३॥

जो कुछ ज्ञान मूर्ख (मनुष्य) प्राप्त करता है (वह उसके लिये) (केवल) अनर्थ (= विपत्ति) ही ले आता है। वह उसके सिरको घुमा देता है और उसके उज्ज्वलतर अंशको नष्ट कर देता है।

असतं भावनमिच्छेय्य पुरेक्खारञ्च भिक्खुसु।
आवासेसु च इस्सरियं पूजा परकुलेसु च ॥१४॥

(मूढ़) व्यक्ति असत्य वस्तुको पानेकी इच्छा करता है, भिक्षुओंमें सबसे आगे बैठना (चाहता है), (अर्थात्, उनमें सबसे श्रेष्ठ होना चाहता है), अपने आवास-स्थानमें स्वामित्व (=ऐश्वर्य) और दूसरे कुलोंमें पूजा (की कामना करता है)।

ममेव कतमञ्ञन्तु गिही पब्बजिता उभो।
ममेवातिवसा अस्सु किच्चाकिच्चेसु किस्मिचि।
इति बालस्स संङ्कप्पो इच्छा मानो च वड्ढति ॥१५॥

"गृही और परिव्राजक दोनों ही मेरे लिये हुए कार्यको मानें, किसी भी कृत्य-अकृत्यमें मेरे ही वशवर्ती हों" — ऐसा मूढ़ (व्यक्ति) का संकल्प होता है, (इससे) उसकी कामना और दर्प बढ़ते जाते हैं।

अञ्ञा हि लाभूपनिसा अञ्ञा निब्बान-गामिनी।
एवमेतं अभिञ्ञाय भिक्खू बुद्धस्स सावको।
सक्कारं नाभिनन्देय्य विवेकमनुब्रूहये ॥१६॥

> एक पथ लाभकी ओर ले जाता है, दूसरा पथ निर्वाणकी ओर। बुद्धका अनुगामी, भिक्षु इसे जानता है और सत्कार (= प्रतिष्ठा) की खोज नहीं करता, वह विवेक (= संसारसे निवृत्ति) का अनुशीलन करता है।

ऐसा लगता है कि ये श्लोक सीधे पाखंडी लोगोंकी ओर इशारा करते हैं जो ज्ञानके बाहरी रूपों और आकारोंको तो ग्रहण करते हैं, पर अपने हृदयमें सभी कामनाओं, महत्त्वाकांक्षाओं और दिखावेकी आवश्यकताको बनाये रखते हैं तथा इन महत्त्वाकांक्षाओं और कामनाओंको संतुष्ट करनेके लिये ही जीवन यापन करते हैं, जिस एक चीजके लिये जीना उचित है उसकी ओर ध्यान नहीं देते। वह एक चीज है: सत्य-चेतनाकी प्राप्ति, भगवान्‌के प्रति संपूर्ण आत्मदान, शांति, ज्योति और आनंद जो सच्चा ज्ञान मिलने और अपने-आपको भूल जानेपर प्राप्त होते हैं।

यहां पूरे अवतरणमें हम बड़ी आसानीसे "मूर्ख" शब्दके बदले "अहं" शब्दको रख सकते हैं। जो व्यक्ति अपने अहंमें, अपने अहंके लिये और अपने अहंको संतुष्ट करनेकी आशाके साथ जीवन यापन करता है वह मूर्ख है। जबतक तुम अहंको अतिक्रम नहीं कर जाते, जबतक तुम चेतनाकी एक ऐसी स्थितिमें नहीं पहुंचते जिसमें अहंके बने रहनेका कोई कारण नहीं, तबतक तुम अपने लक्ष्यको प्राप्त करनेकी आशा नहीं कर सकते।

ऐसा लगता है कि व्यक्तिगत चेतनाके निर्माणके लिये एक समय अहंकारका होना अनिवार्य था पर अहंकारके साथ ही उत्पन्न हो जाती हैं सभी बाधाएं, सभी दुःख-कष्ट, सभी कठिनाइयां, वे सभी चीजें जो अब हमें विपरीत और भगवद्-विरोधी शक्तियां प्रतीत होती हैं। परंतु स्वयं ये शक्तियां भी आंतरिक पवित्रता तथा अहंकारसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिये आवश्यक थीं। अहंकार एक ही साथ उनकी क्रियाका परिणाम तथा उनके दीर्घ कालतक बने रहनेका कारण है। जब अहंकार अदृश्य हो जायगा तब विरोधी शक्तियां भी अदृश्य हो जायंगी, क्योंकि संसारमें उनके रहनेका कोई कारण न होगा।

आंतरिक मुक्ति, पूर्ण सचाई और पूर्ण पवित्रता प्राप्त होनेके साथ-साथ सभी दुःख-कष्ट विलीन हो जायंगे क्योंकि तब अंतिम लक्ष्यकी ओर चेतनाकी प्रगति होनेके लिये उनकी कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी।

अतएव, बुद्धिमानी बस इस बातमें है कि आंतरिक रूपांतरके लिये अपनी पूरी शक्तिके साथ कार्य किया जाय ताकि तुम उस संघर्षसे विजयी बन-

कर बाहर निकल सको जो अपना फल तो लायेगी पर जिसके बने रहने-का अब कोई कारण नहीं रह जायगा।

१४-३-१९५८

६. पण्डितवग्गो (पंडित)

निधीनं'व पवत्तारं यं पस्से वज्जदस्सिनं।
निग्गय्हवादिं मेधाविं तादिसं पण्डितं भजे।
तादिसं भजमानस्स सेय्यो होति न पापियो ॥१॥

(भूमिमें गुप्त) निधियोंके बतलानेवालेकी तरह, बुराईको दिखलानेवाले ऐसे संयमवादी, मेधावी पंडितकी सेवा करे। ऐसेके सेवन करनेवालेका कल्याण होता है, अमंगल नहीं (होता)।

ओवदेय्यानुसासेय्य असब्भा च निवारये।
सतं हि सो पियो होति असतं होति अप्पियो ॥२॥

(जो) सदुपदेश देता है, अनुशासन करता है, नीच कर्मसे निवारण करता है वह सत्पुरुषोंको प्रिय होता है और असत्पुरुषोंको अप्रिय।

न भजे पापके मित्ते न भजे पुरिसाधमे।
भजेथ मित्ते कल्याणे भजेथ पुरिसुत्तमे ॥३॥

दुष्ट मित्रोंका सेवन न करे, न अधम पुरुषोंका सेवन करे। अच्छे मित्रोंका सेवन करे, उत्तम पुरुषोंका सेवन करे।

धम्मपीती सुखं सेति विप्पसन्नेन चेतसा।
अरियप्पवेदिते धम्मे सदा रमति पण्डितो ॥४॥

धर्म (=रस) का पान करनेवाला प्रसन्न-चित्त होकर सुख-पूर्वक सोता है; पंडित (जन) आर्योंके जतलाये धर्ममें सदा रमण करते हैं।

उदकं हि नयन्ति नेत्तिका उसुकारा नमयन्ति तेजनं।
दारुं नमयन्ति तच्छका अत्तानं दमयन्ति पण्डिता ॥५॥

नहरवाले पानी ले जाते हैं, बाण बनानेवाले बाण ठीक करते हैं, बढ़ई लकड़ी ठीक करते हैं, और पण्डित (जन) अपना दमन करते हैं।

सेलो यथा एकघनो वातेन न समीरति।
एवं निन्दापसंसासु न समिञ्जन्ति पण्डिता ॥६॥

जैसे ठोस पहाड़ हवासे कंपायमान नहीं होता, ऐसे ही पण्डित निन्दा और प्रशंसासे विचलित नहीं होते।

यथापि रहदो गम्भीरो विप्पसन्नो अनाविलो।
एवं धम्मानि सुत्वान विप्पसीदन्ति पण्डिता ॥७॥

धर्मोंको सुनकर पण्डित (जन) अथाह, स्वच्छ, निर्मल सरोवरकी भांति स्वच्छ (संतुष्ट) होते हैं।

सब्बत्थ वे सप्पुरिसा वजन्ति न कामकामा लपयन्ति सन्तो।
सुखेन फुट्ठा अथवा दुखेन न उच्चावचं पण्डिता दस्सयन्ति ॥८॥

सत्पुरुष सभी जगह जाते हैं, (वह) भोगोंके लिये बात नहीं चलाते; सुख मिले या दुःख, पण्डित (जन) विकार नहीं प्रदर्शित करते।

न अत्तहेतु न परस्स हेतु न पुत्तमिच्छे न धनं न रट्ठं।
न इच्छेय्य अधम्मेन समिद्धिमत्तनो सीलवा पञ्ञावा धम्मिको सिया ॥९॥

जो अपने लिये या दूसरेके लिये पुत्र, धन और राज्य नहीं चाहते, न अधर्मसे अपनी उन्नति चाहते हैं; वही सदाचारी (शीलवान्), प्रज्ञावान् और धार्मिक हैं।

अप्पका ते मनुस्सेसु ये जना पारगामिनो।
अथायं इतरा पजा तीरमेवानुधावति ॥१०॥

मनुष्योंमें पार जानेवाले जन विरले ही हैं, दूसरे लोग तो किनारे-ही-किनारे दौड़नेवाले हैं।

ये च खो सम्मदक्खाते धम्मे धम्मानुवत्तिनो।
ते जना पारमेस्सन्ति मच्चुधेय्यं सुदुत्तरम् ॥११॥

जो सुव्याख्यात धर्मका अनुगमन करते हैं वह मरणशील कठोर जगत् (संसार-सागर) को पार करेंगे।

कण्हं धम्मं विप्पहाय सुक्कं भावेथ पण्डितो।
ओका अनोकं आगम्म विवेके यत्थ दूरमं ॥१२॥

काले धर्म (=पाप)को छोड़कर, पण्डित (जन) शुक्ल (धर्म)का आचरण करे। घरसे बेघर हो जाये और दूर जा विवेक (=एकांत) का सेवन करे।

तत्राभिरतिमिच्छेय्य हित्वा कामे अकिञ्चनो।
परियोदपेय्य अत्तानं चित्तक्लेसेहि पण्डितो ॥१३॥

भोगोंको छोड़ सर्वस्व-त्यागी वहीं (विवेकमें) रत रहनेकी इच्छा करे। पण्डित (जन) चित्तके मलोंसे अपनेको परिशुद्ध करे।

येसं सम्बोधिअङ्गेसु सम्मा चित्तं सुभावितं।
आदानपटिनिस्सग्गे अनुपादाय ये रता।
खीणासवा जुतीमन्तो ते लोके परिनिब्बुता ॥१४॥

संबोधि (=परम ज्ञान) के अंगों (=संबोधियों) में जिनका चित्त भली प्रकार सुसंस्कृत (=अभ्यस्त) हो गया है; जो परिग्रहके परित्यागपूर्वक अपरिग्रहमें रत हैं, ऐसे, चित्तके मलोंसे निर्मुक्त (=क्षीणास्रव), द्युतिमान (पुरुष) इसी लोकमें निर्वाणको प्राप्त हैं।

यहां एक वाक्य है जो खास मजेदार है; यह वह वाक्य है जिसे हमने सबसे पहले पढ़ा है: "भूमिमें गुप्त निधियोंके बतलानेवालेकी तरह, बुराईको दिखलानेवाले ऐसे संयमवादी, मेधावी पंडितकी सेवा करे . . ।"

वे सभी धर्मशास्त्र मनुष्योंको प्रगति करानेके लिये हैं, उन सबमें हमेशा यही कहा गया है कि जो तुम्हें तुम्हारे दोष दिखाये उनके प्रति तुम्हें बहुत कृतज्ञ होना चाहिये और उनके साथ सत्संग करनेकी कोशिश करनी चाहिये; लेकिन यहां जिस रूपकका उपयोग किया गया है वह खास मजेदार है: अगर कोई तुम्हें दोष इस तरह दिखाये, तो मानों तुम्हें कोई खजाना दिखा रहा है; यानी, हर बार हम अपने अंदर अक्षमताएं, समझकी कमियां,

कमजोरियां, कपट और वे सब चीजें देखें जो हमें प्रगति करनेसे रोकती हैं तो मानों हम एक अद्‌भुत खजाना पा जाते हैं।

"आह, फिरसे एक दोष," कहने और दुःखी होनेकी जगह उल्टा हमें खुश होना चाहिये, मानों कोई अद्‌भुत संपत्ति मिल गयी हो क्योंकि हमें एक ऐसी चीजका पता लगा है जो हमें प्रगति करनेसे रोकती थी; और एक बार हमने उसे पकड़ लिया तो बस उसे उखाड़ फेंकना चाहिये! क्योंकि जो लोग योगाभ्यास करते हैं वे मानते हैं कि जिस क्षण मनुष्यको पता लगता है कि अमुक बात नहीं होनी चाहिये उसी क्षण उसमें उसे हटानेकी, दूर फेंकने और नष्ट करनेकी शक्ति आ जाती है।

दोष ढूंढ लेना एक उपलब्धि है। यह ऐसा है मानों ज्योतिका स्रोत एक ऐसे स्थानमें प्रवेश करता है जहां अंधकार था और जिसे अभी भगाया गया है।

जब तुम योगाभ्यास करते हो तो इस कमजोरी, इस सुस्ती, इच्छा-शक्तिकी इस कमीको अनुमति मत दो जिसके कारण ज्ञानके साथ-ही-साथ शक्ति नहीं आती। यह जानना कि एक चीज नहीं होनी चाहिये और फिर भी उसे होने देना एक ऐसी कमजोरीका संकेत है जिसे कोई गंभीर साधना-प्रणाली अनुमति नहीं देती। इच्छा-शक्तिकी यह ऐसी कमी है जो कपटतक जा पहुंचती है। तुम जानते हो कि एक चीज नहीं होनी चाहिये और जिस क्षणसे तुम यह जानते हो उसी क्षणसे तुम उसके स्वामी हो और वह न हो पायगी, क्योंकि ज्ञान और शक्ति मूलतः एक ही चीज हैं — इसका मतलब यह कि तुम्हें अपनी सत्ताके किसी भागमें दुर्भावनाकी इस छायाको प्रवेश न पाने देना चाहिये, यह प्रगतिकी केंद्रीय इच्छा-शक्तिके विरुद्ध है और तुम्हें दुर्बल, साहसहीन और ऐसी बुराई-के सामने शक्तिहीन बना देता है जिसे तुम्हें नष्ट करना चाहिये।

अज्ञानमें किया गया पाप पाप नहीं है; वह संसार जैसा है, उसकी सर्व-साधारण बुराईका एक अंग है, लेकिन जब तुम जानते हुए पाप करो तो बात गंभीर हो जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि कहीं किसी भागमें फलके अंदर कीड़ेकी तरह दुर्भावनाका तत्त्व है जिसको किसी कीमतपर भी खोज निकालना और किसी-न-किसी तरह नष्ट कर देना चाहिये; क्योंकि इस तरहकी कोई कमजोरी कभी-कभी ऐसी मुसीबतोंकी जड़ होती है, जो आगे चलकर असाध्य हो जाती है।

इसलिये सबसे पहली बात यह है कि जब कोई व्यक्ति या कोई प्रसंग तुम्हें ऐसे दोषके सम्मुख ला खड़ा करे जो तुम्हारे अंदर है और जिसका तुम्हें पता नहीं, तो पूरी तरह प्रसन्न होओ। रोने-धोनेकी जगह तुम्हें

खुश होना चाहिये और उस खुशीमें वह शक्ति प्राप्त करो जो उस चीजसे तुम्हारा पिंड छुड़ा सके जिसे नहीं होना चाहिये।

२१-३-१९५८

७. अर्हन्तवग्गो (निपुण)

गतद्धिनो विसोकस्स विप्पमुत्तस्स सब्बधि।
सब्बगन्थप्पहीनस्स परिळाहो न विज्जति ॥१॥

जिसका मार्ग (गमन) समाप्त हो चुका है, जो शोकरहित तथा सर्वथा मुक्त है, जिसकी सभी ग्रंथियां क्षीण हो गयी हैं, उसके लिये संताप नहीं है।

उय्युञ्जन्ति सतीमन्तो न निकेते रमन्ति ते।
हंसा'व पल्ललं हित्वा ओकमोकं जहन्ति ते ॥२॥

सचेत होकर वह उद्योग करते हैं, गृह (सुख) में रमण नहीं करते, हंस जैसे क्षुद्र जलाशयको छोड़कर चले जाते हैं, (वैसे ही वह अर्हत्) गृहको छोड़ जाते हैं।

येसं सन्निचयो नत्थि ये परिञ्ञातभोजना।
सुञ्ञातो अनिमित्तो च विमोक्खो यस्स गोचरो।
आकासे'व सकुन्तानं गति तेसं दुरन्नया ॥३॥

जो (वस्तुओंका) संचय नहीं करते, जिनका भोजन नियत है, शून्यता-स्वरूप तथा कारणरहित मोक्ष (निर्वाण) जिनको दिखायी पड़ता है, उनकी गति (गंतव्य स्थान) आकाशमें पक्षियोंकी (गतिकी) भांति अज्ञेय है।

यस्सा'सवा परिक्खीणा आहारे च अनिस्सितो।
सुञ्ञातो अनिमित्तो च विमोक्खो यस्स गोचरो।
आकासे'व सकुन्तानं पदं तस्स दुरन्नयं ॥४॥

जिसके आस्रव (=मल) क्षीण हो गये, जो आहारमें परतंत्र नहीं, शून्यता-स्वरूप तथा कारणरहित मोक्ष (निर्वाण) जिनको

दिखायी पड़ता है, उनकी गति (=गंतव्य स्थान) आकाशमें पक्षियोंकी (गतिकी) भांति अज्ञेय है।

यस्सिन्द्रियाणि समथं गतानि अस्सा यथा सारथिना सुदन्ता।
पहीनमानस्स अनासवस्स देवापि तस्स पिहयन्ति तादिनो ॥५॥

सारथीद्वारा सुदान्त (=सुशिक्षित) अश्वोंकी भांति जिसकी इंद्रियां शांत हैं, जिसका अभिमान नष्ट हो गया, (और) जिसका चित्त मल-शून्य है, ऐसे उस (पुरुष) की, देवता भी स्पृहा करते हैं।

पठवीसमो नो विरुज्झति इन्दखीलूपमो तादि सुब्बतो।
रहदो'व अपेतकद्दमो संसारा न भवन्ति तादिनो ॥६॥

वैसा सुन्दर व्रतधारी जो इन्द्रकीलके समान (अचल) रहता है तथा पृथ्वीके समान विक्षुब्ध नहीं होता, ऐसे (पुरुष) में कर्दम-रहित सरोवरकी भांति संसार (=मल) नहीं रहता।

सन्तं तस्स मनं होति सन्ता वाचा च कम्म च।
सम्मदञ्ञाविमुत्तस्स उपसन्तस्स तादिनो ॥७॥

उपशांत और यथार्थ ज्ञानद्वारा मुक्त हुए उस (अर्हत् पुरुष) का मन शांत होता है, वाणी और कर्म शांत होते हैं।

अस्सद्धो अकतञ्ञू च सन्धिछेदो च यो नरो।
हतावकासो वन्तासो स वे उत्तमपोरिसो ॥८॥

मनुष्योंमें वही उत्तम है जो अंधविश्वासी नहीं है, पर जो निर्वाणको जानता है, जिसने अपने सभी बंधनोंको तोड़ दिया है, जिसने नये जन्मके सब तत्त्व नष्ट कर दिये हैं।

गामे वा यदि वा'रञ्ञे निन्ने वा यदि वा थले।
यत्थारहन्तो विहरन्ति तं भूमिं रामणेय्यकं ॥९॥

गांवमें या जंगलमें, निम्न वा ऊंचे स्थलमें जहां (कहीं) अर्हत (लोग) विहार करते हैं, वही रमणीय भूमि है।

रमणीयानि अरञ्ञानि यत्थ न रमते जनो।
वीतरागा रमिस्सन्ति न ते कामगवेसिनो ॥१०॥

(उस) रमणीय वनमें जहां (साधारण) जन रमण नहीं
करते, काम (भोगों) के पीछे न भटकनेवाले वीतराग रमण करेंगे।

यहां एक बहुत मजेदार वाक्य है: "जो अंधविश्वासी नहीं है, पर जो निर्वाणको जानता है ...।"

जो अंधविश्वासी नहीं है — इसमें हम बहुत सारी बातें पढ़ सकते हैं। पहले ऐसा लगता है कि इसका मतलब उस व्यक्तिसे है जो अनुभवके बिना अदृश्य चीजोंमें विश्वास नहीं करता। ऐसा व्यक्ति, उदाहरणके लिये, उन लोगोंसे भिन्न है जो किसी धर्मका अनुसरण करते हैं, और रूढ़ियोंको बस इसीलिये मानते हैं कि उन्हें ऐसा सिखाया गया है। "पर जो निर्वाणको जानता है ..." कहनेका अर्थ यह हुआ कि उसका अदृश्य चीजोंके साथ संबंध है, वह उन्हें तादात्म्यके द्वारा उसी रूपमें जानता है जैसी वे हैं। 'धम्मपद' शुरूमें ही कहता है कि मनुष्योंमें वही उत्तम है जो सिखायी हुई बातपर विश्वास नहीं करता किंतु जिसे अदृश्य चीजोंका व्यक्तिगत अनुभव है।

हम एक और व्याख्या भी कर सकते हैं: जो अन्धविश्वासी नहीं है वह ऐसा है जो बाह्य रूपकी वास्तविकतापर विश्वास नहीं करता, जो चीजोंको वैसा ही नहीं मान लेता जैसी वे दीखती हैं, जो उन्हें सत्य नहीं मानता, जो जानता है कि ये केवल भ्रामक रंगरूप हैं जिनके पीछे सत्यको ढूंढना और व्यक्तिगत अनुभव तथा तादात्म्यके द्वारा जानना चाहिये।

और यह हमें बहुत सारी बातोंपर विचार करनेके लिये बाधित करता है — असंख्य बातोंपर, जिनपर हम व्यक्तिगत ज्ञानके बिना ही इसलिये विश्वास करते हैं क्योंकि हमें सिखाया गया है कि वे ऐसी हैं या इसलिये कि हमें सोचनेकी आदत है कि वे ऐसी हैं या फिर इसलिये कि हम ऐसे लोगोंसे घिरे रहते हैं जो मानते हैं कि वे ऐसी हैं। अगर हम जितनी चीजोंपर विश्वास करते हैं उनपर नजर डालें और न सिर्फ जिन्हें मानते हैं, वरन् जिनका निर्विवाद अधिकारके साथ समर्थन करते हैं: "यह, यह तो ऐसा ही है," "यह! लेकिन यह तो ऐसी ही है," "और यह चीज, हां, यह ऐसी है"... सचमुच, हम उसके बारेमें कुछ नहीं जानते। हम इतने जोरसे सिर्फ इसलिये कहते हैं क्योंकि हमें यह सोचनेकी आदत है कि ये चीजें ऐसी हैं। ऐसी कौन-सी चीजें हैं जिनका तुम्हें व्यक्तिगत अनुभव है, जिनके साथ तुम्हारा सीधा संपर्क है और जिनके बारेमें तुम कम-से-कम सचाईके साथ कह सको: "मुझे विश्वास है कि यह ऐसा है, क्योंकि मुझे इसका अनुभव है"? ऐसी चीजें बहुत नहीं हैं।

और, वास्तवमें, अगर हम सचमुच ज्ञान प्राप्त करना चाहें तो हमें एक

काफी महत्त्वपूर्ण अध्ययनसे शुरू करना चाहिये : जो चीजें हमें सिखायी गयी हैं, सामान्य-से-सामान्य, सबसे क्षुद्र चीजें भी, उनके सत्यकी छान-बीन करें। तब हम समझ पायेंगे कि यह वाक्य ऐसा क्यों कहता है : "मनुष्य-में वही उत्तम है," क्योंकि मेरा ख्याल है कि ऐसे मनुष्य बहुत नहीं हैं जिन्होंने यह अनुभव किया हो।

हम जिन चीजोंपर विश्वास करते हैं और केवल इसीलिये उनका समर्थन करते हैं कि हमें उनपर विश्वास करनेकी और उनकी पुष्टि करनेकी आदत है, उन चीजोंको खोजना अपने-आपमें काफी मजेदार खोज है।'

अब तुम अपने विचारोंमें और चेतनामें उन सब चीजोंके लिये झांको जिनकी तुम प्रमाणके बिना पुष्टि करते हो। देखना!

२८-३-१९५८

८. सहस्सवग्गो (सहस्र)

सहस्समपि चे वाचा अनत्थपदसंहिता।
एकं अत्थपदं सेय्यो यं सुत्वा उपसम्मति ॥१॥

व्यर्थके पदोंसे युक्त सहस्रों वाक्योंसे (वह) सार्थक एक पद श्रेष्ठ है जिसे सुनकर शांति होती है।

सहस्समपि चे गाथा अनत्थपदसंहिता।
एकं गाथापदं सेय्यो यं सुत्वा उपसम्मति ॥२॥

व्यर्थके पदोंसे युक्त हजार गाथाओंमेंसे एक गाथापद श्रेष्ठ है जिसे सुनकर शांति होती है।

यो च गाथा सतं भासे अनत्थपदसंहिता।
एकं धम्मपदं सेय्यो यं सुत्वा उपसम्मति ॥३॥

जो व्यर्थके पदोंसे युक्त सौ गाथायें कहे (उससे) धर्मका एक पद श्रेष्ठ है जिसे सुनकर शांति होती है।

यो सहस्सं सहस्सेन सङ्गामे मानुसे जिने।
एकं च जेय्यमत्तानं स वे सङ्गामजुत्तमो ॥४॥

संग्राममें जो हजारों मनुष्योंको हजार बार जीत ले, (उससे) एक अपनेको जीतनेवाला कहीं उत्तम संग्रामजित है।

अत्ता ह वे जितं सेय्यो या चायं इतरा पजा।
अत्तवन्तस्स पोसस्स निच्चं सञ्ञतचारिनो ॥५॥

इन अन्य प्रजाओंके जीतनेकी अपेक्षा अपनेको जीतना श्रेष्ठ है। अपना दमन करनेवाले, नित्य अपनेको संयमित करने-वाले पुरुषकी

नेव देवो न गन्धब्बो न मारो सह ब्रह्मुना।
जितं अपजितं कयिरा तथारूपस्स जन्तुनो ॥६॥

जीतको, न देवता, न गन्धर्व, न ब्रह्मा सहित मार ही हार बना सकते हैं।

मासे मासे सहस्सेन यो यजेथ सतं समं।
एकञ्च भावितत्तानं मुहुत्तमपि पूजये।
सा येव पूजना सेय्यो यं चे वस्ससतं हुतं ॥७॥

जो सौ वर्षोंतक हजारोंकी दक्षिणा देकर हर महीने यजन करे, उससे शुद्ध मनवाले एक (पुरुष)को एक मुहूर्तके लिये पूजनेवाला ही श्रेष्ठ है।

यो च वस्ससतं जन्तु अग्गिं परिचरे वने।
एकं च भावितत्तानं मुहुत्तमपि पूजये।
सा येव पूजना सेय्यो यं चे वस्ससतं हुतं ॥८॥

यदि प्राणी सौ वर्षतक वनमें अग्निपरिचरण (अग्निहोत्र) करे, और यदि परिशुद्ध मनवाले एक पुरुषको एक मुहूर्त्त ही पूजे, तो सौ वर्षके हवनसे यह पूजा ही श्रेष्ठ है।

यं किंचि यिट्ठं च हुतं च लोके,
संवच्छरं यजेथ पुञ्ञापेक्खो।
सब्बम्पि तं न चतुभागमेति,
अभिवादना उज्जुगतेसु सेय्यो ॥९॥

पुण्यकी इच्छासे वर्ष-भर नाना प्रकारके यज्ञ और हवन

करना, सरलताको प्राप्त (पुरुष) के किये गये अभिवादनके चतुर्थांशसे बढ़कर नहीं है।

अभिवादनसीलस्स निच्चं वद्धापचायिनो।
चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति आयु वण्णो सुखं बलं ॥१०॥

जो अभिवादनशील है, जो सदा वृद्धोंकी सेवा करनेवाला है, उसकी चार बातें (=धर्म) बढ़ती हैं — आयु, वर्ण, सुख और बल।

यो च वस्ससतं जीवे दुस्सीलो असमाहितो।
एकाहं जीवितं सेय्यो सीलवन्तस्स झायिनो ॥११॥

दुराचारी और एकाग्रचित्ततविरहित (=असमाहित)के सौ वर्षके जीनेसे भी सदाचारी और ध्यानीका एक दिनका जीवन श्रेष्ठ है।

यो च वस्ससतं जीवे दुप्पञ्ञो असमाहितो।
एकाहं जीवितं सेय्यो पञ्ञावन्तस्स झायिनो ॥१२॥

दुष्प्रज्ञ और असमाहितके सौ वर्षके जीनेसे भी प्रज्ञावान और ध्यानीका एक दिनका जीवन श्रेष्ठ है।

यो च वस्ससतं जीवे कुसीतो हीनवीरियो।
एकाहं जीवितं सेय्यो वीरियमारभतो दळ्हं ॥१३॥

आलसी और अनुद्योगीके सौ वर्षके जीवनसे दृढ़ उद्योग करनेवालेके जीवनका एक दिन श्रेष्ठ है।

यो च वस्ससतं जीवे अपस्सं उदयब्बयं।
एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो उदयब्बयं ॥१४॥

(संसारमें वस्तुओंके) उत्पत्ति और विनाशका न ख्याल करनेवालेके सौ वर्षके जीवनसे, उत्पत्ति और विनाशका ख्याल करनेवाले जीवनका एक दिन श्रेष्ठ है।

यो च वस्ससतं जीवे अपस्सं अमतं पदं।
एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो अमतं पदं ॥१५॥

अमृतपद (=दुःख-निर्वाण) को न ख्याल करनेके सौ वर्षके

जीवनसे, अमृतपदको देखनेवालेके जीवनका एक दिन श्रेष्ठ है।

यो च वस्ससतं जीवे अपस्सं धम्ममुत्तमं।
एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो धम्ममुत्तमं ॥१६॥

उत्तम धर्मको न देखनेके सौ वर्षके जीवनसे, उत्तम धर्मके देखनेवालेके जीवनका एक दिन श्रेष्ठ है।

यहां एक ही शीर्षकके नीचे बहुत प्रकारकी चीजें इकट्ठी कर दी गयी हैं। यहां विचार-क्रमकी अपेक्षा शब्दोंका साहचर्य अधिक है। लेकिन मुख्य विचार-धारा यह है कि दिखावेकी एक लंबी आयुकी अपेक्षा सचाईका एक क्षण अधिक अच्छा है और अपने ऊपर मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक विजयका महत्त्व बाह्य विजयोंसे कहीं अधिक है।

यहां एक और मजेदार विचार भी है। वह यह कि अपने ऊपर पायी विजय ही एकमात्र ऐसी विजय है जिसमें सारे देवता और प्रकृतिकी सारी शक्तियां और बुराईके सारे यंत्र बाधा नहीं डाल पाते। अगर तुमने अपने ऊपर किसी एक केंद्रमें प्रभुत्व पा लिया है तो वह सब तरहके हस्तक्षेपसे मुक्त हो जाता है, उच्चतम शक्तियोंके हस्तक्षेपसे भी, फिर चाहे वे अधि-मानसिक देवता हों या संसारकी सारी विरोधी शक्तियां।

पहली गाथामें कहा गया है कि एक शब्द जो तुम्हें शांति दे वह लाखों निरर्थक शब्दोंसे कहीं अधिक अच्छा है — यह बात तो कोई भी समझ सकता है — लेकिन यह भी कहा गया है कि वह शब्द जो शांति देता है उन लाखों शब्दोंसे अधिक मूल्यवान् है जो मानसिक गतिविधियोंको तो संतुष्ट कर सकें लेकिन जिनका तुम्हारी सत्तापर कोई मनोवैज्ञानिक असर न हो।

वास्तवमें, जब तुम कोई ऐसी चीज पा लो जो तुम्हें अपनी निश्चेतना और जड़तापर विजय प्राप्त करनेमें सहायक हो तो तुम्हें और खोज करने-से पहले उस शब्द या पदद्वारा जो असर होता है उसके अंतिम परिणाम-तक पहुंचना और उसका पूरा-पूरा उपयोग करना चाहिये।

अपने दिमागमें बहुत सारे विचारोंको इकट्ठा करनेका प्रयास करनेकी जगह, एक या दूसरे उपायसे प्राप्त एक विचारके प्रभावको अंततक चलाते रहना अधिक महत्त्वपूर्ण है। अगर उन्हें उचित समयपर आने दिया जाय तो सभी विचार अपने समयमें बहुत उपयोगी हो सकते हैं, और खासकर जब उन सक्रिय विचारोंमेंसे एकको जिसमें हमें आंतरिक विजय प्राप्त

करानेकी शक्ति है, उसके परिणामकी चरम सीमातक आगे बढ़ाया जाय तो वह बहुत उपयोगी हो सकता है। कहनेका मतलब यह है कि तुम्हारा अगर एकमात्र ध्येय नहीं तो मुख्य ध्येय यही होना चाहिये कि अपने अंदर बहुत सारा ज्ञान इकट्ठा करनेकी जगह, जो निरा सैद्धांतिक रहता है, तुम जो जानते हो उसे अपने दैनिक जीवनमें उतारो।

सारांश यह कि तुम जो भी जानो उसे पूर्ण रूपसे दैनिक जीवनमें अपनाओ, तभी तुम लाभदायक रूपसे अपना सैद्धांतिक ज्ञान बढ़ा सकोगे।

११-४-१९५८

९. पापवग्गो (पाप)

अभित्थरेथ कल्याणे पापा चित्तं निवारये।
दन्धं हि करोतो पुञ्ञं पापस्मिं रमते मनो ॥१॥

पुण्य (कामोंमें) जल्दी करे, पापसे चित्तको निवारण करे, क्योंकि पुण्यको धीमी गतिसे करनेपर चित्त पापमें रत होने लगता है।

पापञ्चे पुरिसो कयिरा न तं कयिरा पुनप्पुनं।
न तम्हि छन्दं कयिराथ दुक्खो पापस्स उच्चयो ॥२॥

यदि पुरुष (कभी) पाप कर डाले तो उसे पुनः-पुनः न करे, उसमें रत न होवे, (क्योंकि) पापका संचय दुःखका (कारण) होता है।

पुञ्ञञ्चे पुरिसो कयिरा कयिराथेनं पुनप्पुनं।
तम्हि छन्दं कयिराथ सुखो पुञ्ञस्स उच्चयो ॥३॥

यदि पुरुष पुण्य करे तो उसे पुनः-पुनः करे, उसमें रत होवे, (क्योंकि) पुण्यका संचय सुखकर होता है।

पापोपि पस्सति भद्रं याव पापं न पच्चति।
यदा च पच्चति पापं अथ पापानि पस्सति ॥४॥

पापी भी तबतक भला ही देखता है जबतक कि पापका विपाक

नहीं होता, जब पापका विपाक होता है तब (उसे) पाप दिखायी पड़ने लगता है।

भद्रोपि पस्सति पापं याव भद्रं न पच्चति।
यदा च पच्चति भद्रं अथ भद्रानि पस्सति ॥५॥

(पुण्य करनेवाला पुरुष) भी तबतक पापको देखता है जबतक कि पुण्यका विपाक नहीं होने लगता। जब पुण्यका विपाक होने लगता है तो पुण्योंको देखने लगता है।

मावमञ्ञेथ पापस्स न मन्तं आगमिस्सति।
उदबिन्दुनिपातेन उदकुम्भोपि पूरति।
बालो पूरति पापस्स थोक-थोकम्पि आचिनं ॥६॥

"वह मेरे पास नहीं आयेगा," ऐसा (सोच) पापकी अवहेलना न करे। पानीकी बूंदके गिरनेसे घड़ा भर जाता है, (ऐसे ही) मूर्ख थोड़ा-थोड़ा संचय करके पापको भर लेता है।

मावमञ्ञेथ पुञ्ञस्स न मन्तं आगमिस्सति।
उदबिन्दुनिपातेन उदकुम्भोपि पूरति।
धीरो पूरति पुञ्ञस्स थोक-थोकम्पि आचिनं ॥७॥

"वह मेरे पास नहीं आयेगा", ऐसा (सोच) पुण्यकी अवहेलना न करे। पानीकी बूंदके गिरनेसे घड़ा भर जाता है (ऐसे ही) धीर थोड़ा-थोड़ा संचय करके पुण्यको भर लेता है।

वाणिजो'व भयं मग्गं अप्पसत्थो महद्धनो।
विसं जीवितुकामो'व पापानि परिवज्जये ॥८॥

थोड़े काफिले और महाधनवाला बनजारा जैसे भययुक्त रास्तेको छोड़, (अथवा) जीनेकी इच्छावाला पुरुष जैसे विषको (छोड़ देता है), वैसे ही पापोंको छोड़ दे।

पाणिम्हि चे वणो नास्स हरेय्य पाणिना विसं।
नाब्बणं विसमन्वेति नत्थि पापं अकुब्बतो ॥९॥

यदि हाथमें घाव न हो तो हाथसे विषको ले ले, (क्योंकि) घाव (व्रण)-रहित (शरीर) में विष नहीं लगता। (इसी प्रकार) न करनेवालेको पाप नहीं लगता।

यो अप्पदुट्ठस्स नरस्स दुस्सति
सुद्धस्स पोसस्स अनङ्गणस्स।
तमेव बालं पच्चेति पापं
सुखुमो रजो पटिवातं'व खित्तो॥१०॥

जो दोषरहित शुद्ध निर्मल पुरुषको दोष लगाता है उसी अज्ञ-को (उसका) पाप लौटकर लगता है, (जैसे कि) सूक्ष्म धूलिको हवाके आनेके रुखमें फेंका जाय (तो वह फेंकनेवालेपर पड़ती है)।

गब्भमेके उप्पज्जन्ति निरयं पापकम्मिनो।
सग्गं सुगतिनो यन्ति, परिनिब्बन्ति अनासवा॥११॥

कोई (पुरुष) गर्भमें उत्पन्न होते हैं (आवागमनमें रहते हैं), (कोई) पाप-कर्मा नरकमें (जाते हैं), कोई सुगतिवाले (पुरुष) स्वर्गको जाते हैं (और चित्तके) मलोंसे रहित (पुरुष) निर्वाण-को प्राप्त होते हैं।

न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे न पब्बतानं विवरं पविस्स।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो यत्थट्ठितो मुञ्चेय्य पापकम्मा॥१२॥

न आकाशमें, न समुद्रके मध्यमें, न पर्वतोंके विवरमें प्रवेश कर—संसारमें कोई स्थान नहीं है जहां रहकर पाप-कर्मोंके (फलसे) (प्राणी) बच सके।

न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे न पब्बतानं विवरं पविस्स।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो यत्थट्ठितं न प्पसहेय्य मच्चु॥१३॥

न आकाशमें, न समुद्रके मध्यमें, न पर्वतोंके विवरमें प्रवेश कर—संसारमें कोई स्थान नहीं है जहां रहनेवालेको मृत्यु न सताये।

आदमीकी आदत है कि आनेवाले विचारोंके साथ बहुत लापरवाहीसे बरताव करता है। और वातावरण सब तरहके विचारोंसे भरा हुआ है। ये वास्तवमें किसी खास व्यक्तिके नहीं होते, फिर भी हमेशा घूमते रहते हैं और एकसे दूसरेमें काफी स्वतंत्रतासे, बहुत अधिक स्वतंत्रतासे जाते रहते हैं; क्योंकि ऐसे लोग विरले ही हैं जो अपने विचारोंपर पुलिसकी तरह निगरानी रख सकें।

जब तुम बौद्ध पद्धतिके अनुसार अपने विचारोंपर संयम रखना सीखते हो तो तुम काफी मजेदार खोज करते हो। तुम अपने विचारोंका निरीक्षण करनेकी कोशिश करते हो। उन्हें स्वाधीनतासे आने-जाने और कभी-कभी आकर दिमागमें एकदम अनुचित ढंगसे जम जानेकी छूट देनेके बजाय, तुम उनका निरीक्षण करते हो और विस्मयसे जड़ होकर देखते हो कि कुछ ही क्षणोंके बीच तुम्हारे दिमागमेंसे एकदम असंभावित विचारोंकी शृंखला गुजरती है जो सर्वथा हानिकारक होती है।

तुम अपने-आपको बहुत अच्छा, बहुत सुशील, बहुत शिष्ट और हमेशा अच्छी भावनाओंसे भरा मानते हो। तुम किसीका बुरा नहीं चाहते, तुम सिर्फ भला चाहते हो, और बड़े आत्म-संतोषसे यह सब अपने-आपसे कहते हो; लेकिन अगर तुम विचार करते समय सचाईके साथ अपना निरीक्षण करो तो देखोगे कि दिमागमें कभी-कभी घिनौने विचारोंका समूह होता है जिसका तुम्हें पता भी नहीं होता।

उदाहरणके लिये, जब तुम्हें कोई चीज पसंद न आये तो तुम्हारी प्रतिक्रियाएं कैसी होती हैं: कितनी तेजीसे तुम अपने मित्रको, अपने माता-पिताको, अपने परिचितोंको, सबको शैतानके पास भेज देते हो! बिना जाने ही तुम उनके लिये सब तरहकी अप्रिय चीजोंकी कामना करते हो! और तुम कैसे कह देते हो: "आह! इस तरह करनेसे उसे अच्छा पाठ मिलेगा!" और जब तुम आलोचना करते हो: "उसको अपनी गलतियोंका भान कराना चाहिये!" जब किसीने तुम्हारे मतानुसार कार्य न किया हो: "इसके लिये उसे सजा मिलेगी!" और इसी तरह चलता रहता है।

तुम यह नहीं जानते क्योंकि जब तुम सोचते हो तब अपने-आपको देखते नहीं। कभी-कभी तुम्हें पता लगता है, लेकिन तभी जब वह ज्यादा जोरदार हो; जब वह सिर्फ आता और गुजर जाता है तब तुम्हारी नजर कम ही पड़ती है — वह आता है, प्रवेश करता है और बाहर निकल जाता है। और तब तुम्हें पता लगता है कि अगर तुमने सचमुच पवित्र होना और पूर्ण रूपसे 'सत्य' के पक्षमें रहना चाहा हो तो उसके लिये जागरूकता, सचाई, निरीक्षण, संयमकी आवश्यकता है। और ये सर्वसामान्य बातें नहीं हैं। तुम समझना शुरू करते हो कि पूरी तरह सत्यनिष्ठ होना कठिन है।

तुम आत्म-प्रशंसा करते हो कि तुम्हारे अंदर बस अच्छी मनोवृत्ति और अच्छे इरादे ही हैं और तुम जो कुछ करते हो किसीके भलेके लिये ही करते हो — हां, जबतक तुम सचेतन हो और संयम रखते हो, लेकिन जिस क्षण तुम बहुत सावधान नहीं होते उसी क्षण हर तरहकी चीजें तुम्हारे अंदर

होने लगती हैं जिनके बारेमें तुम बिलकुल सचेतन नहीं होते और जो बहुत अच्छी नहीं होतीं।

अगर तुम अपना मकान पूरी तरह साफ करना चाहते हो तो तुम्हें देर-तक, बहुत देरतक सावधानी बरतनी चाहिये; और खास तौरपर यह नहीं मान लेना चाहिये कि जैसे ही तुम यह निश्चय करो कि तुम अच्छाईकी ओर रहोगे वैसे ही बस, यूं ही, लक्ष्यतक, पहले प्रयासमें ही जा पहुंचोगे — यह निश्चय अवश्य ही मुख्य और महत्त्वपूर्ण बात है, लेकिन उसके पीछे बहुत-से ऐसे दिन आने चाहिये जब कठोर पुलिस बनकर निग-रानी करो ताकि तुम अपने निश्चयको न झुठला सको।

४-४-१९५८

१०. दण्डवग्गो (दण्ड)

सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बे भायन्ति मच्चुनो।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये ॥१॥

दण्डसे सभी डरते हैं, मृत्युसे सभी भय खाते हैं, अपने समान (इन बातोंको) जानकर आदमी न किसीको मारे न मरवाये।

सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बेसं जीवितं पियं।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये ॥२॥

सभी दण्डसे डरते हैं, सबको जीवन प्रिय है, (इसे) अपने समान जानकर न मारे न मारनेकी प्रेरणा दे।

सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो पेच्च सो न लभते सुखं ॥३॥

सुख चाहनेवाले प्राणियोंको, अपने सुखकी चाहसे जो दण्ड-के द्वारा मारता है वह मरकर भी सुख नहीं पाता।

सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन न हिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो पेच्च सो लभते सुखं ॥४॥

सुख चाहनेवाले प्राणियोंको, अपने सुखकी चाहसे जो दण्डसे नहीं मारता वह मरकर सुखको प्राप्त होता है।

मा वोच फरुसं कञ्चि वुत्ता पटिवदेय्यु तं।
दुक्खा हि सारम्भकथा पटिदण्डा फुसेय्यु तं ॥५॥

कठोर वचन न बोलो; बोलनेपर (दूसरे भी तुमसे वैसे ही) बोलेंगे; दुर्वचन दुःखदायक (होते हैं), (बोलनेसे) बदलेमें तुम्हें दण्ड मिलेगा।

स चे नेरेसि अत्तानं कंसो उपहतो यथा।
एस पत्तोसि निब्बाणं सारम्भो ते न विज्जति ॥६॥

टूटा कांसा जैसे निःशब्द रहता है, (वैसे) यदि तुम अपनेको (निःशब्द रखो) तो तुमने निर्वाणको पा लिया, तुम्हारे लिये कलह (हिंसा) नहीं रही।

यथा दण्डेन गोपालो गावो पाचेति गोचरं।
एवं जरा च मच्चू च आयुं पाचेन्ति पाणिनं ॥७॥

जैसे ग्वाला लाठीसे गायोंको चरागाहमें ले जाता है, वैसे ही बुढ़ापा और मृत्यु प्राणियोंकी आयुको ले जाते हैं।

अथ पापानि कम्मानि करं बालो न बुज्झति।
सेहि कम्मेहि दुम्मेधो अग्गिदड्ढो'व तप्पति ॥८॥

पाप कर्म करते वक्त मूढ़ (पुरुष उसे) नहीं बूझता, पीछे दुर्बुद्धि अपने ही कर्मोंके कारण आगसे जलेकी भांति अनुताप करता है।

यो दण्डेन अदण्डेसु अप्पदुट्ठेसु दुस्सति।
दसन्नमञ्ञतरं ठानं खिप्पमेव निगच्छति ॥९॥

जो दण्डरहितोंको दण्डसे (पीड़ित करता है), निर्दोषोंको दोष लगाता है, वह शीघ्र ही इन स्थानोंमेंसे एकको प्राप्त होता है:

वेदनं फरुसं जानिं सरीरस्स च भेदनं।
गरुकं वापि आबाधं चित्तक्खेपं व पापुणे ॥१०॥

कड़वी वेदना, हानि, अंगका भंग होना, भारी बीमारी (या) चित्तविक्षेप (पागलपन) को प्राप्त होता है।

राजतो वा उपस्सग्गं अब्भक्खानं व दारुणं।
परिक्खयं व ञातीनं भोगानं व पभङ्गुणं॥११॥

या राजासे दण्डको (प्राप्त होता है), दारुण निंदा, जाति-बन्धुओंका विनाश, भोगोंका क्षय;

अथवस्स अगारानि अग्गी डहति पावको।
कायस्स भेदा दुप्पञ्ञो निरयं सोपपज्जति॥१२॥

अथवा उसके घरको अग्नि (पावक) जलाता है, काया छोड़नेपर वह दुर्बुद्धि नरकमें उत्पन्न होता है।

न नग्गचरिया न जटा न पङ्का नानासका थण्डिलसायिका वा।
रजोवजल्लं उक्कुटिकप्पधानं सोधेन्ति मच्चं अवितिण्णकङ्खं॥१३॥

जिस पुरुषकी आकांक्षाएं समाप्त नहीं हो गयीं, उस मनुष्य-की शुद्धि न नंगे रहनेसे, न जटासे, न पंक (लपेटनेसे), न फाका (उपवास) करनेसे, न कड़ी भूमिपर सोनेसे, न धूल लपेटनेसे, न उकड़ूं बैठनेसे होती है।

अलङ्कतो चेपि समं चरेय्य सन्तो दन्तो नियतो ब्रह्मचारी।
सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं सो ब्राह्मणो सो समणो स भिक्खू॥१४॥

अलंकृत रहते भी यदि वह शांत, जितेन्द्रिय, दमित, नियमित, ब्रह्मचारी, सारे प्राणियोंके प्रति दंडत्यागी है तो वही ब्राह्मण है, वही श्रमण (संन्यासी), वही भिक्षु है।

हिरीनिसेधो पुरिसो कोचि लोकस्मि विज्जति।
यो निन्दं अप्पबोधति अस्सो भद्रो कसामिव॥१५॥

लोकमें कोई पुरुष होते हैं जो (अपने ही) लज्जा करके निषिद्ध (कर्म) को नहीं करते। जैसे उत्तम घोड़ा कोड़ेको नहीं सह सकता, वैसे ही वह निंदाको नहीं सह सकते।

अस्सो यथा भद्रो कसानिविट्ठो आतापिनो संवेगिनो भवाथ॥
सद्धाय सीलेन च वीरियेन च समाधिना धम्मविनिच्छयेन च।
सम्पन्नविज्जाचरणा पतिस्सता पहस्सथा दुक्खमिदं अनप्पकं॥१६॥

कोड़ेसे सधाये गये उत्तम घोड़ेकी भांति उद्योगी (वेगवान्) हो; श्रद्धा, आचार, वीर्य, समाधि और धर्म-निश्चयसे युक्त

(बन), विद्या और आचरणसे समन्वित हो, दौड़कर इस महान् दुःख (-राशि)को पार कर सकते हो।

उदकं हि नयन्ति नेत्तिका उसुकारा नमयन्ति तेजनं।
दारुं नमयन्ति तच्छका अत्तानं दमयन्ति सुब्बता॥१७॥

नहरवाले पानी ले जाते हैं; बाण बनानेवाले बाणको ठीक करते हैं; बढ़ई लकड़ीको ठीक करते हैं। इसी तरह ज्ञानी अपने-आपको संयममें रखते हैं।

ऐसा लगता है मानों ये चीजें काफी आदिम जातिके लोगोंके लिये लिखी गयी हैं। अगर तुम बुरा करो तो तुम्हारे ऊपर विपत्तियोंकी जो श्रृंखला गिरेगी वह काफी अनूठी है।

ऐसा लगता है — अगर ये सचमुच बुद्धके कहे शब्दोंका ठीक-ठीक आलेखन है — वे अपने श्रोताओंके अनुसार उपदेशकी भाषा बदलते रहते थे और अगर उन्हें गंवारू और अनपढ़ लोगोंसे पाला पड़ता तो वे उनसे एकदम स्थूल भाषामें, व्यावहारिक और स्थूल तुलना करते हुए बातें करते होंगे ताकि लोग समझ सकें। इन वार्तालापोंके स्तरमें काफी अंतर है। इनमें कई बहुत प्रसिद्ध हो गये हैं; उदाहरणके लिये, यह अंतिम पद, जिसमें कहा गया है कि कारीगर जो प्राप्त करना चाहता है उसके लिये अपने पदार्थको गढ़ता है, उसके बाद यह चमत्कारिक उपसंहार : "ज्ञानी अपने-आपको संयममें रखते हैं।"

सचमुच यही लगता है कि उस युगके बाद मानव मनने काफी प्रगति कर ली है। विचार ज्यादा जटिल बना है, मनोविज्ञान ज्यादा गंभीर, इतना ज्यादा कि ये तर्क प्रायः बचकाने लगते हैं। लेकिन, अगर तुम इनको आचरणमें लाओ तो देखोगे कि अभीतक तुम उसी स्तरपर हो और अगर विचारने प्रगति की है तो आचरण बेहतर होनेकी जगह बदतर हालतमें है; और इन पदोंमें थोड़ी-बहुत स्वस्थ, बालोचित सरलता है, विकृतिका अभाव है जो दुर्भाग्यवश अब मानवजातिको प्राप्त नहीं है।

उस जमानेमें नैतिक स्वास्थ्य था जो अब पूरी तरह अदृश्य हो गया है। इन तर्कोंपर तुम मुस्कराते हो, लेकिन जो यहां सिखाया गया है उसे व्यवहारमें लाना अब पहलेसे कहीं अधिक कठिन हो गया है। ऐसा लगता है कि एक तरहका दंभ, ढोंग, शठतापूर्ण दुमुंहापन मानव सत्तामें और विशेष रूपसे जीवन-पद्धतिमें घुस पड़े हैं, और मनुष्य बहुत ही घातक तरीकेसे अपने-आपको धोखा देने लगे हैं।

उस जमानेमें कोई कह सकता था: "बुरा मत कर, तुझे सजा मिलेगी।" उन दिनों हृदय और मन भी सरल थे, लोग कहते थे: "हां, बुरा न करना ही अच्छा है, वरना सजा मिलेगी," लेकिन आजकल, व्यंग-भरे स्मितके साथ आदमी कहता है: "ओ! मैं सजासे बच निकलनेका उपाय कर लूंगा।"

ऐसा लगता है कि मानसिक क्षमता बढ़ गयी है, मानसिक शक्तिका विकास हुआ-सा दीखता है, मनुष्य विचारोंसे खेलनेके लिये अधिक सक्षम दीखता है, वह सब तत्त्वोंपर मानसिक रूपसे शासन करता है; लेकिन साथ ही मनुष्यने सरल और स्वस्थ निर्दोषिताको खो दिया है जो प्रकृतिके सामीप्य-में रहनेवाले लोगोंमें पायी जाती थी जिन्हें विचारोंके साथ खेलना कम आता था। इस तरह सारी मानवजाति एक बहुत ही खतरनाक मोड़पर आकर खड़ी दीखती है। जो लोग इस सार्वजनिक भ्रष्टताका हल ढूंढते हैं वे प्राचीन कालकी सरलताकी ओर मुड़नेका उपदेश देते हैं, लेकिन यह एकदम असंभव है: तुम पीछे नहीं जा सकते।

तुम्हें आगे-आगे जाना चाहिये, आगे बढ़ना चाहिये, और भी बड़ी ऊंचाइयों-पर चढ़ना चाहिये और भोग-विलास और व्यक्तिगत संपत्तिकी लालचभरी खोजसे ऊपर उठना चाहिये, सजाके डरसे नहीं, अपार्थिव सजाके डरसे भी नहीं, बल्कि एक नये सौंदर्य-बोधके विकासके कारण और सत्य तथा ज्योति-की प्यासके कारण। एक ऐसी समझके द्वारा, जो अपने-आपको विशाल बनाकर, ज्योतिर्मय बनाकर, प्रगतिके उत्साहसे भरकर ही हम संपूर्ण सत्य और स्थिर सुखको पा सकेंगे।

ऊपर उठना चाहिये और अपने-आपको विशाल बनाना चाहिये — ऊपर उठना . . . और अपने-आपको विशाल बनाना।

१८-४-१९५८

११. जरावग्गो (बुढ़ापा)

को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति।
अन्धकारेन ओनद्धा पदीपं न गवेस्सथ ॥१॥

जब नित्य ही (आग) जल रही हो तो कैसी हंसी, कैसा आनंद? अंधकारसे घिरे तुम दीपकको (क्यों) नहीं ढूंढते?

पस्स चित्तकतं बिम्बं अरुकायं समुस्सितं।
आतुरं बहुसङ्कप्पं यस्स नत्थि धुवं ठिति ॥२॥

देखो विचित्र शरीरको जो व्रणोंसे युक्त, फूला हुआ, पीड़ित, नाना संकल्पोंसे युक्त है, जिसकी स्थिति अनियत है।

परिजिण्णमिदं रूपं रोगनिड्डं पभङ्गुरं।
भिज्जती पूतिसन्देहो मरणन्तं हि जीवितं ॥३॥

यह रूप जीर्ण-शीर्ण, रोगका घर और भंगुर है, सड़कर देह भग्न होती है, जीवन मरणान्त जो ठहरा।

यानि'मानि अपत्थानि अलाबूनेव सारदे।
कापोतकानि अट्ठीनि तानि दिस्वान का रति ॥४॥

शरद कालकी अपथ्य लौकीकी भांति (फेंक दी गयी), या कबूतरोंकी-सी (सफेद हो गयी) हड्डियोंको देखकर किसको इस (शरीर)से प्रेम होगा ?

अट्ठीनं नगरं कतं मंसलोहितलेपनं।
यत्थ जराच मच्चू च मानो मक्खो च ओहितो ॥५॥

हड्डियोंका (एक) नगर बनाया गया है जिसे मांस और रक्तसे लेपा गया है और जिसमें जरा और मृत्यु, अभिमान और डाह छिपे हुए हैं।

जीरन्ति वे राजरथा सुचित्ता अथो सरीरम्पि जरं उपेति।
सतं च धम्मो न जरं उपेति सन्तो ह वे सब्भि पवेदयन्ति ॥६॥

सुचित्रित राजरथ भी पुराने हो जाते हैं और शरीर भी जराको प्राप्त होता है; (किंतु) सज्जनोंका धर्म (गुण) जराको नहीं प्राप्त होता, संतजन सत्पुरुषोंके बारेमें ऐसा ही कहते हैं।

अप्पस्सुतायं पुरिसो बलिवद्दो'व जीरति।
मंसानि तस्स वड्ढन्ति पञ्ञा तस्स न वड्ढति ॥७॥

अल्पश्रुत (अज्ञानी) पुरुष बैलकी भांति जीर्ण होता है। उसका मांस ही बढ़ता है, प्रज्ञा नहीं बढ़ती।

अनेकजातिसंसारं सन्धाविस्सं अनिब्बिसं।
गहकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं ॥८॥

(मैं) बिना रुके अनेक जन्मोंतक संसारमें दौड़ता रहा। (इस काया-रूपी) कोठरीको बनानेवाले (गृहकारक) को खोजते पुनः-पुनः दुःख (मय) जन्ममें पड़ता रहा।

गहकारक! दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि।
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसङ्खितं।
विसङ्खारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा ॥९॥

हे गृहकारक! (मैंने) तुझे पहचान लिया, (अब) ...९ तू घर नहीं बना सकेगा। तेरी सभी कड़ियां भग्न हो गयीं, गृहका शिखर भी निर्बल हो गया। संस्कार-रहित चित्तसे तृष्णाका क्षय हो गया।

अचरित्वा ब्रह्मचरियं अलद्धा योब्बने धनं।
जिण्णकोंचा'व खायन्ति खीणमच्छे'व पल्लले ॥१०॥

जिन्होंने ब्रह्मचर्यका पालन नहीं किया है और जिन्होंने अपने यौवन कालमें सच्ची समृद्धि नहीं पायी है, वे मछलियोंसे रहित सरोवरके पास बूढ़े क्रौंच पक्षीकी तरह जान पड़ते हैं।

अचरित्वा ब्रह्मचरियं अलद्धा योब्बणे धनं।
सेन्ति चापातिखीणा'व पुराणानि अनुत्थुनं ॥११॥

जिन्होंने ब्रह्मचर्यका जीवन नहीं बिताया है और जिन्होंने अपने यौवन-कालमें सच्ची समृद्धिको नहीं पाया है, वे टूटे चापकी भांति हैं; वे अपनी खोयी हुई शक्तिपर रोते हैं।

यहां एक निश्चित बात है जो स्पष्टतासे नहीं कही गयी है, फिर भी बाकी सबसे कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, वह यह है कि एक ऐसा बुढ़ापा भी है जो वर्षोंके संग्रहसे भी कहीं अधिक खतरनाक और कहीं अधिक वास्तविक है: वह है विकसित होने और प्रगति करनेकी अक्षमता।

जैसे ही तुम बढ़ना बंद कर देते हो, जैसे ही तुम प्रगति करना बंद कर देते हो, जैसे ही तुम ज्यादा अच्छा होना बंद कर देते हो, बढ़ना और विक-सित होना बंद कर देते हो, अपने-आपको बदलना बंद कर देते हो, वैसे ही तुम सचमुच बूढ़े हो जाते हो, यानी, तुम विलयकी ओर गिरने लगते हो।

ऐसे युवक हैं जो बूढ़े हैं और ऐसे बूढ़े हैं जो युवक हैं। अगर तुम्हारे अंदर प्रगति और रूपांतरके लिये ज्वाला उठती है, अगर तुम सावधानीके साथ आगे बढ़नेके लिये, सब कुछ पीछे छोड़नेके लिये तैयार हो, अगर तुम नयी प्रगतिके लिये, नयी उन्नति, नये रूपांतरके लिये हमेशा खुले रहते हो तो तुम चिरयुवा हो। लेकिन अगर तुम जो पा चुके हो उसीसे संतुष्ट होकर बैठे रहो; अगर तुम्हें लगता है कि तुम अपने लक्ष्यतक पहुंच चुके हो और अब अपनी कमाईका फल खानेके सिवाय और कुछ करना-धरना नहीं है तो तुम्हारा आधेसे अधिक शरीर कब्रमें जा चुका है, यही जरा और सच्ची मृत्यु है।

जो कुछ किया जा चुका है वह उसकी तुलनामें कुछ भी नहीं है जो करनेके लिये बाकी है।

पीछे न देखो, सामने देखो, आगे, और आगे, हमेशा आगे।

२५-४-१९५८

१२. अत्तवग्गो (अहं)

अत्तानं चे पियं जञ्ञा। रक्खेय्य तं सुरक्खितं।
तिण्णामञ्ञातरं यामं पटिजग्गेय्य पण्डितो ॥१॥

अपनेको यदि प्रिय समझा है तो अपनेको सुरक्षित रखना चाहिये। पंडित (जन) (रातके) तीनों यामों (शैशव, यौवन, जरा) मेंसे हर एकमें जागरण करे।

अत्तानं एव पठमं पटिरूपे निवेसये।
अथञ्ञमनुसासेय्य न किलिस्सेय्य पण्डितो ॥२॥

पहले अपनेको ही उचित (काम) में लगाये, (फिर) यदि दूसरेको उपदेश करे (तो) पंडित क्लेशको न प्राप्त होगा।

अत्तानञ्चे तथा कयिरा यथञ्ञमनुसासति।
सुदन्तोवत दम्मेथ अत्ता हि किर दुद्दमो ॥३॥

अपनेको वैसा बनाये जैसा दूसरेको अनुशासन करना है।

(पहले) अपनेको भली प्रकार दमन करे; वस्तुतः अपनेको दमन करना (ही) कठिन है।

अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया।
अत्तना'व सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं ॥४॥

(पुरुष) अपने-आप ही अपना मालिक है, दूसरा कौन मालिक हो सकता है ? अपने-आपको भली प्रकार दमन कर लेनेपर (वह एक) दुर्लभ मालिकको पाता है।

अत्तना'व कतं पापं अत्तजं अत्तसम्भवं।
अभिमन्थति दुम्मेधं वजिरं'व'स्ममयं मणिं ॥५॥

अपनेसे जात, अपनेसे उत्पन्न, अपने-आपसे किया पाप (करने-वाले) दुर्बुद्धिको पाषाणमय वज्रमणिकी (चोटकी) भांति मन्थन (पीड़ित) करता है।

यस्सच्चन्तदुस्सील्यं मालुवा सालमिवोततं।
करोति सो तथत्तानं यथा'नं इच्छती दिसो ॥६॥

मालुवालता[1]से घिरे शाल (वृक्ष) की भांति जिसका दुराचार फैला हुआ है, वह अपनेको वैसा ही कर लेता है जैसा कि उसके शत्रु चाहते हैं।

सुकरानि असाधूनि अत्तनो अहितानि च।
यं वे हितञ्च साधुञ्च तं वे परमदुक्करं ॥७॥

अनुचित और अपने लिये अहितकर (कर्मोंको करना) आसान है, (लेकिन) जो हितकर और उचित है उसे करना बड़ा कठिन है।

यो सासनं अरहतं अरियानं धम्मजीविनं।
पटिक्कोसति दुम्मेधो दिट्ठिं निस्साय पापिकं।
फलानि कट्ठकस्सेव अत्तहञ्ञाय फुल्लति ॥८॥

जो दुर्बुद्धि (पुरुष) धर्मजीवी, आर्य, अर्हन्तोंके शासन (धर्म)

---

[1]मालुवा एक लता है, जो जिस वृक्षपर चढ़ती है, वर्षामें पानीके भारसे उसे तोड़ डालती है।

की बुरी दृष्टिसे निन्दा करता है वह बांसके फलकी भांति अपनी हत्याके लिये तैयारी करता है।

अत्तना'व कतं पापं अत्तना संकिलिस्सति।
अत्तना अकतं पापं अत्तना'व विसुज्झति॥
सुद्धि असुद्धिपच्चत्तं नाञ्ञो अञ्ञं विसोधये॥९॥

अपनेसे किया पाप अपनेको ही मलिन करता है, अपने पाप न करे तो अपने-आप ही शुद्ध रहता है। शुद्धि-अशुद्धि प्रत्येक (मनुष्य)की अलग-अलग है, दूसरा (आदमी) दूसरेको शुद्ध नहीं कर सकता।

अत्तदत्थं परत्थेन बहुनाऽपि न हापये।
अत्तदत्थमभिञ्ञाय सदत्थपसुतो सिया॥१०॥

परायेके बहुत हितके लिये भी अपने हितकी हानि न करे। अपने हितको जानकर सच्चे हितमें लगे।

ऐसा लगता है कि यहां प्रश्न अहंकी अपेक्षा स्वार्थपरताका अधिक है।

स्वार्थपरता ऐसी चीज है जिसे अपेक्षाकृत, आसानीसे सुधारा जा सकता है, क्योंकि सभी जानते हैं कि वह क्या है। उसे ढूंढना आसान है और सुधारना आसान है, अगर हम सचमुच चाहें, अगर हम करनेके लिये उत्सुक हैं।

किंतु अहंको पकड़ पाना बड़ा कठिन काम है, क्योंकि पूरी तरह यह समझनेके लिये कि अहं क्या है, उससे बाहर निकलना चाहिये, वरना वह मिलता ही नहीं। हम पूरी तरह उससे ओत-प्रोत हैं, सिरसे लेकर पांवतक, बाहरसे लेकर अंदरतक, शरीरसे लेकर आध्यात्मतक, सब अहंसे ओत-प्रोत हैं। वह हर चीजमें घुल-मिल गया है और हमें पता ही नहीं लगता कि वह क्या है। अहं क्या है यह देखनेके लिये उससे बाहर निकलकर, उससे मुक्त होकर उसपर पहलेसे ही विजय प्राप्त होनी चाहिये; कम-से-कम आंशिक रूपमें, सत्ताके किसी छोटे-से हिस्सेमें उसे जीतना चाहिये।

अहं वह है जो हमें व्यक्तित्व पानेमें सहायता देता है और वही हमें दिव्य बनानेसे रोकता है। बस, इन बातोंको व्यवस्थित करो और तुम अहंको ढूंढ पाओगे। सृष्टिकी जिस तरह व्यवस्था हुई है उसमें अहंके बिना व्यक्ति ही नहीं बन सकता था और अहंके साथ सृष्टि दिव्य नहीं बन सकती।

यह निष्कर्ष निकालना तर्क-संगत होगा : "खैर, सबसे पहले हम सचेतन व्यक्ति बनें, फिर अहंको देख लेंगे और दिव्य बन जायंगे।" लेकिन, जब हम सचेतन व्यक्ति बन जाते हैं तो हमें अपने अहंके साथ रहनेकी इतनी आदत हो चुकती है कि हम उसे पहचानतक नहीं पाते और उसकी उपस्थितिका बोध पानेके लिये बहुत काम करना पड़ता है।

जब कि स्वार्थको सब जानते हैं। जब तुम सब कुछ अपने लिये प्राप्त करना चाहते हो और तुम्हें दूसरोंमें कोई रुचि नहीं होती तो वह स्वार्थ-परता कहलाती है; जब तुम अपने-आपको विश्वके केंद्रमें स्थापित करते हो और जब सब चीजें बस तुम्हारे लिये ही अस्तित्व रखती हैं तो वह स्वार्थ-परता है। लेकिन यह बहुत स्पष्ट है। हम स्वार्थी हैं, यह न देख सकनेके लिये हमें अंधा होना चाहिये। सब कोई कुछ, थोड़ा-बहुत स्वार्थी होता है, साधारणतः, एक अनुपातमें स्वार्थपरता स्वीकार कर ली जाती है; लेकिन सामान्य जीवनमें भी, जब हम कुछ अधिक स्वार्थी होते हैं, तो नाकपर मुक्का लगता है, क्योंकि जहां हर एक स्वार्थी होता है वहां एकको दूसरेका स्वार्थ बहुत अच्छा नहीं लगता।

यह मानी हुई बात है, यह सार्वजनिक नैतिकताका एक भाग है। हां, जरा-सा स्वार्थी तो होना ही चाहिये, लेकिन बहुत ज्यादा नहीं, बस इतना कि कोई देख न पाये! इधर अहंकी कोई बात ही नहीं करता, क्योंकि उसे कोई नहीं जानता। यह इतना निकटका साथी है कि हमें उसके अस्तित्वका भी पता नहीं चलता; और फिर भी, जबतक वह है हमें दिव्य चेतना प्राप्त न होगी।

अहं वह है जो हमें सचेतन करता है कि हम दूसरोंसे अलग एक व्यक्ति हैं। अगर अहं न होता तो हमें यह बोध न होता कि हम दूसरोंसे अलग, एक व्यक्ति हैं। हमें यह प्रतीति होती कि हम एक समष्टिके छोटे-से अंश हैं, एक बहुत बड़ी समष्टिके एक बहुत छोटे-से अंश। जब कि तुम-मेंसे प्रत्येक बहुत निश्चित रूपसे सचेतन है कि वह एक अलग व्यक्ति है। तो, यह अहं ही है जो तुम्हें यह प्रतीति देता है। जबतक तुम इस तरह सचेतन रहोगे तबतक यही अर्थ होगा कि तुम्हारे अंदर एक अहं है।

जब तुम यह अनुभव करना शुरू करो कि सब कुछ तुम ही हो, कि यह एक ही व्यक्ति, जो सब जगह है, लाखों-करोड़ोंके बीच एक बिंदु मात्र है, जब तुम अनुभव करो कि तुम हर एक चीजोंमें हो, कि कोई अलगाव नहीं है, तब तुम समझ सकते हो कि तुम अहंहीन होनेकी राहपर हो।

एक ऐसा क्षण भी आता है जब यह सोचना, यह कहना असंभव हो

जाता है: "यह मैं नहीं हूं," क्योंकि अपने-आपको अभिव्यक्त करनेका यह तरीका भी, यह कहना कि 'सब कुछ' तुम हो, या कि तुम 'सब कुछ' हो, और यह कि तुम भगवान् हो, या यह कि भगवान् तुम हो, यह प्रमाणित करता है कि अभीतक कोई चीज बची हुई है।

एक क्षण होता है — वह बिजलीकी कौंधकी भांति आता है और मुश्किलसे ही ठहरता है — जहां 'सब कुछ' है जो सोचता है, 'सब कुछ' है जो जानता है, 'सब कुछ' है जो अनुभव करता है, 'सब कुछ' है जो जिंदा है। यह भी . . . यह धारणा भी नहीं रहती कि . . . तुम वहांतक पहुंच गये हो।

तब फिर, वह अच्छा है लेकिन तबतक उसका यह अर्थ होता है कि किसी भागमें अभीतक अहंका एक छोटा-सा कोना है, साधारणतः, वह जो निरीक्षण करता है, एक साक्षी जो निरीक्षण करता है।

इसलिये यह घोषणा मत कहो कि तुम्हारे अंदर अहं नहीं रहा। यह ठीक नहीं है। यह कहो कि तुम अहंविहीन होनेकी राहपर हो, यही बात ठीक है।

मुझे नहीं लगता कि तुम वहां पहुंच गये हो, है न? — अभी तो नहीं! फिर भी, अगर तुम सचमुच अतिमानस क्या है यह जाननेका इरादा रखते हो तो यह अनिवार्य है। अगर तुम अतिमनके उम्मीदवार हो तो तुम्हें अपने अहंको पार करनेका निश्चय करना चाहिये, उससे ऊपर उठनेका संकल्प करना चाहिये; क्योंकि जबतक तुम उसे अपने पास रखोगे तबतक तुम्हारे लिये अतिमानस एक अपरिचित, अप्राप्य वस्तु बना रहेगा।

लेकिन अगर प्रयास करके, साधनाके द्वारा, प्रगतिशील आत्म-संयमके द्वारा, तुमने अपने अहंपर विजय प्राप्त कर ली है और अगर तुम उससे ऊपर उठ चुके हो, तो फिर वह तुम्हारी सत्ताके, चाहे एक अणुमें ही क्यों न हो, ऐसा लगता है मानों कहींपर एक छोटी-सी खिड़की है और उस खिड़कीसे ध्यानपूर्वक देखनेपर तुम अतिमानसको देख सकोगे। और वह एक वादा है। जब तुम उसे देखते हो तो वह इतना सुन्दर लगता है कि तत्क्षण बाकी सारे . . . अहंसे मुक्त होनेकी इच्छा होती है!

अच्छी तरह ख्याल रखो, मैं यह नहीं कह रही कि अतिमानसकी झांकी-के लिये अहंसे पूरी तरह मुक्त होना चाहिये; क्योंकि तब वह प्रायः असंभव बात होगी। ना, किसी एक भागमें अहंसे थोड़ा-सा मुक्त होना, तुम्हारी सत्ताके एक कोनेमें, चाहे मनके एक छोटे-से कोनेमें क्यों न हो; अगर मन या प्राण हो तो अच्छा ही है, लेकिन अगर संयोगवश — ओ! संयोगवश नहीं — अगर कई प्रयत्नोंके बाद तुम अपने चैत्य पुरुषके साथ संबंध स्थापित कर सके हो तो वहांका दरवाजा पूरा-पूरा खुला

होता है। चैत्य पुरुषके द्वारा अचानक ही तुम्हें अतिमानस क्या है उसका सुन्दर दर्शन मिल सकता है; एक दर्शनमात्र, उपलब्धि नहीं। वह, वह बाहर निकलनेका मुख्य द्वार है। लेकिन उस सुन्दर उपलब्धि, चैत्य पुरुष-की उपलब्धितक गये बिना भी — अगर तुम अपने मानसिक जगत्का एक हिस्सा या प्राणिक जगत्का एक हिस्सा मुक्त करनेमें सफल हो जाओ, तो वह दरवाजेमें एक छिद्रकी भांति होगा, दरवाजेमें चाबीका एक छेद; उस छेदमेंसे तुम्हें एक छोटी, बहुत छोटी झलक मिलती है। और वह भी बहुत आकर्षक, बहुत रोचक होती है।

२-५-१९५८

१३. लोकवग्गो (संसार)

हीनं धम्मं न सेवेय्य, पमादेन न संवसे।
मिच्छादिट्ठिं न सेवेय्य न सिया लोक-वड्ढनो ॥१॥

पाप (नीच धर्म) का न सेवन करे, न प्रमादसे लिप्त हो, झूठी धारणाका न सेवन करे, (मनुष्यको) लोकवर्द्धक नहीं बनना चाहिये, आवागमनको बढ़ाना नहीं चाहिये।

उत्तिट्ठे नप्पमज्जेय्य धम्मं सुचरितं चरे।
धम्मचारी सुखं सेति अस्मिं लोके परम्हि च ॥२॥

उत्साही बने, आलसी न बने, सुचरित धर्मका आचरण करे, धर्मचारी (पुरुष) इस लोक और परलोकमें सुखपूर्वक सोता है।

धम्मं चरे सुचरितं न तं दुच्चरितं चरे।
धम्मचारी सुखं सेति अस्मिं लोके परम्हि च ॥३॥

सुचरित धर्मका आचरण करे, दुश्चरित कर्म (धर्म) का सेवन न करे। धर्मचारी (पुरुष) इस लोक और परलोकमें सुखपूर्वक सोता है।

यथा बुब्बुलकं पस्से यथा पस्से मरीचिकं।
एवं लोकं अवेक्खन्तं मच्चुराजा न पस्सति ॥४॥

जैसे बुलबुलेको देखता है, जैसे (मरु-) मरीचिकाको देखता है, संसारको वैसे ही (जो पुरुष) देखता है, उसकी ओर यम-राज (आंख उठाकर) भी नहीं देख सकता।

एथ पस्सथिमं लोकं चित्तं राजरथूपमं।
यत्थ बाला विसीदन्ति, नत्थि सङ्गो विजानतं ॥५॥

आओ, विचित्र राजपथके समान इस संसारको देखो, जिसमें मूढ़ आसक्त होते हैं, ज्ञानीजन आसक्त नहीं होते।

यो च पुब्बे पमज्जित्वा पच्छा सो नप्पमज्जति।
सो'मं लोकं पभासेति अब्भा मुत्तो'व चन्दिमा ॥६॥

जो पहले भूलकर फिर भूल नहीं करता, वह मेघसे उन्मुक्त चंद्रमाकी भांति इस संसारको प्रकाशित करता है।

यस्स पापं कतं कम्मं कुसलेन पिधिय्यति।
सो'मं लोकं पभासेति अब्भा मुत्तो'व चन्दिमा ॥७॥

जो अपने किये पाप-कर्मोंको पुण्यसे ढक देता है वह मेघसे उन्मुक्त चंद्रमाकी भांति इस लोकको प्रकाशित करता है।

अन्धभूतो अयं लोको तनुकेत्थ विपस्सति।
सकुन्तो जालमुत्तो'व अप्पो सग्गाय गच्छति ॥८॥

यह संसार अंधे जैसा है, यहां देखनेवाले थोड़े ही हैं; जालसे मुक्त पक्षीकी भांति विरले ही स्वर्गको जाते हैं।

हंसादिच्चपथे यन्ति आकासे यन्ति इद्धिया।
नीयन्ति धीरा लोकम्हा जेत्वा मारं सवाहिनिं ॥९॥

हंस सूर्यपथ (आकाश) में जाते हैं, (योगी) ऋद्धि (बल) से आकाशमें जाते हैं, धीर (पुरुष) सेना-सहित मारको पराजित कर लोकसे (निर्वाणको) ले जाये जाते हैं।

एकं धम्मं अतीतस्स मुसावादिस्स जन्तुनो।
वितिण्णपरलोकस्स नत्थि पापं अकारियं ॥१०॥

जो धर्मको अतिक्रमण कर चुका, जो प्राणी मृषावादी है, जो

परलोक (का ख्याल) छोड़ चुका है, उसके लिये कोई पाप अकरणीय नहीं।

न (वे) कदरिया देवलोकं वजन्ति बाला ह वे नप्पसंसन्ति दानं।
धीरो च दानं अनुमोदमानो तेनेव सो होति सुखी परत्थ ॥११॥

कंजूस देवलोकमें नहीं जाते, मूढ़ ही दानकी प्रशंसा नहीं करते, धीर दानका अनुमोदन कर उसी (कर्म) से पर(लोक) में सुखी होता है।

पथव्या एकरज्जेन सग्गस्स गमनेन वा।
सब्बलोकाधिपच्चेन सोतापत्तिफलं वरं ॥१२॥

(सारी) पृथ्वीका अकेला राजा होनेसे, या स्वर्गके गमनसे, (या) सभी लोकोंके अधिपति होनेसे भी स्रोतआपत्ति[1] फल (का मिलना) श्रेष्ठ है।

यहां चार सलाहें दी गयी हैं जिन्हें मैं अपने ध्यानके लिये सुरक्षित रखना चाहती हूं। "मानसिक आलस्यको मत बढ़ाओ," "गलत दृष्टिकोणोंको मत चुनो"— दुर्भाग्यवश, हम यह सारे समय करते रहते हैं। और : "उठ बैठो। प्रमादी न बने रहो।"

सृष्टि इसी तरह बनी है— कम-से-कम अभीतक, हम आशा करते हैं कि अधिक देरतक ऐसी ही न बनी रहेगी — स्वभावतः, एक व्यक्ति जो सुसंस्कृत नहीं है, जब उसे विचारोंके संपर्कमें लाया जाता है तो वह हमेशा गलत विचारोंको चुनता है।

और एक बालक जो शिक्षित नहीं है हमेशा बुरे साथियोंको चुनता है। यह एक ऐसी चीज है जिसका मुझे ठोस, निरंतर अनुभव है। अगर तुम एक बालकको कच्ची आयुसे ही एक विशिष्ट वायुमंडलमें रखो, उसके अंदर एक विशिष्ट वातावरण, एक विशिष्ट पवित्रता उंडेलो, तो संभव है कि वह बुरा चुनाव न करे। लेकिन जैसी दुनिया है उसमें अगर एक बालक फंस जाय और ऐसे समाजमें रखा जाय जहां अच्छे और बुरे तत्त्व

---

[1] जो पुरुष निर्वाण-गामी मार्गपर इस प्रकार आरूढ़ हो जाता है कि फिर वह उनसे भ्रष्ट नहीं हो सकता, उसे स्रोत-आपन्न (धारमें पड़ा) कहते हैं। इसी पदके लाभको स्रोतआपत्ति फल कहते हैं।

हों तो वह सीधा उनकी ओर जायगा जो उसे बिगाड़ेंगे और उसे गलत बातें सिखायेंगे, तात्पर्य सबसे बुरे संगकी ओर जायगा।

और एक मनुष्य जिसमें बौद्धिक संस्कार न हो, उसे अगर तुम यों ही चुननेके लिये मिले-जुले विचारोंकी एक संख्या दे दो तो वह हमेशा ऊल-जलूल चुनेगा; क्योंकि, जैसा कि श्रीअरविंदने हमें बताया है, यह सृष्टि मिथ्यात्वकी और अज्ञानकी सृष्टि है, और सचको झूठसे और अच्छे प्रभाव-को बुरे प्रभावसे पहचाननेके लिये प्रयासकी, एक अभीप्साकी आवश्यकता है; अपनी गहन सत्ताके साथ संबंध स्थापित करना होगा — सचेतन और प्रदीप्त संबंध। अगर तुम अपने-आपको यूं ही छोड़ दो तो खाईमें जा गिरोगे।

चीजें इस तरह बनी हैं क्योंकि सृष्टिपर जो शासन करता है — ओह! बातोंको भूतकालमें रखें ताकि वे सच हो जायं — सृष्टिपर जो शासन करता था, वह था मिथ्यात्व और अज्ञान।

वास्तवमें, अभीतक वैसा ही है; अपने-आपको धोखा नहीं देना चाहिये। किंतु हो सकता है कि बड़े प्रयासके बाद और अत्यंत सजगतासे हम उसे और ही कुछ बना सकें .... बहुत ही जल्दी — "हो सकता है" का अर्थ है "बहुत जल्दी।"

निश्चय ही एक दिन ऐसा आयगा, किंतु हम चाहते हैं कि वह जल्दी ही आये और इसीलिये मुझे दो आखिरी परामर्श पसंद हैं: "उठ बैठो। प्रमादी न बने रहो।"

९-५-१९५८

१४. बुद्धवग्गो (बुद्ध)

यस्स जितं नावजीयति जितमस्स नो याति कोचि लोके।
तं बुद्धमनन्तगोचरं अपदं केन पदेन नेस्सथ? ॥१॥

जिसकी जीत हारमें नहीं बदली जा सकती, जिसके जीते (राग, द्वेष, मोह) (फिर) नहीं लौटते, उस अपद (स्थान-रहित), अनंतगोचर (अनंतको देखनेवाले) बुद्ध को किस पथसे प्राप्त करोगे?

यस्स जालिनी बिसत्तिका तण्हा नत्थि कुहिञ्चि नेतवे।
तं बुद्धमनन्तगोचरं अपदं केन पदेन नेस्सथ ? ॥२॥

जिसकी जाल फैलानेवाली विष-रूपी तृष्णा कहीं भी ले जाने लायक नहीं रही, उस अपद, अनंतगोचर बुद्धको किस पथसे प्राप्त करोगे ?

ये झाणपसुता धीरा नेक्खम्मूपसमे रता।
देवापि तेसं पिहयन्ति सम्बुद्धानं सतीमतं ॥३॥

जो धीर ध्यानमें लग्न, निष्कर्मता और शांति प्राप्त करनेमें रत हैं उन स्मृतिमान (सचेत) बुद्धोंसे देवता भी स्पृहा (होड़) करते हैं।

किच्छो मनुस्सपटिलाभो किच्छं मच्चानं जीवितं।
किच्छं सद्धम्मसवणं किच्छो बुद्धानं उप्पादो ॥४॥

मनुष्य (योनि) का लाभ कठिन है, मनुष्यका जीवन (मिलना) कठिन है, सच्चे धर्मका श्रवण कठिन है और बुद्धों (परम ज्ञानियों) का जन्म कठिन है।

सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
स-चित्तपरियोदपनं, एतं बुद्धान सासनं ॥५॥

सारे पापोंका न करना, पुण्यका संचय करना, अपने चित्तको परिशुद्ध करना, यह है बुद्धोंकी शिक्षा।

खन्ती परमं तपो तितिक्खा, निब्बाणं परमं वदन्ति बुद्धा।
नहि पब्बजितो परूपघाती, समणो होति परं विहेठयन्तो ॥६॥

क्षमा परम तप और तितिक्षा है, बुद्ध निर्वाणको परम उच्चतम बतलाते हैं; दूसरेका घात करनेवाला, दूसरेको पीड़ित करनेवाला प्रव्रजित (गृहत्यागी), श्रमण (संन्यासी) नहीं हो सकता।

अनुपवादो अनुपघातो पातिमोक्खे च संवरो।
मत्तञ्ञुता च भत्तस्मि पन्तञ्च सयनासनं।
अधिचित्ते च आयोगो एतं बुद्धान सासनं ॥७॥

(किसीकी) निंदा न करना, (किसीको) चोट न पहुंचाना,

प्राप्तिमोक्ष (भिक्षुओंके लिये प्रचलित नियम) द्वारा अपनेको सुरक्षित रखना, परिमाण जानकर भोजन करना, एकांतमें सोना-बैठना (शयनासनं निवासगृह), चित्तको योगमें लगाना — यह बुद्धोंकी शिक्षा है।

न कहापणवस्सेन तित्ति कामेसु विज्जति।
अप्पस्सादा दुखा कामा इति विञ्ञाय पण्डितो॥८॥

सोनेकी मुद्राओंकी वर्षासे भी (मनुष्यकी) कामनाओंकी तृप्ति नहीं होती। (सभी) काम (भोग) अल्प स्वाद और दुःखद हैं, ऐसा जानकर पंडित —

अपि दिब्बेसु कामेसु रतिं सो नाधिगच्छति।
तण्हक्खयरतो होति सम्मासम्बुद्धसावको॥९॥

—देवताओंके भोगमें भी रति नहीं करता, और सम्यक्संबुद्ध (बुद्ध) का श्रावक (=अनुयायी) तृष्णाका क्षय करनेमें ही लगा रहता है।

बहुं वे सरणं यन्ति पब्बतानि वनानि च।
आरामरुक्खचेत्यानि मनुस्सा भयतज्जिता॥१०॥

भयसे दुःखी मनुष्य पर्वत, वन, आराम (उद्यान), वृक्ष और चैत्य (आदिको देवता मान उनकी) शरणमें जाते हैं।

नेतं खो सरणं खेमं नेतं सरणमुत्तमं।
नेतं सरणमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति॥११॥

किंतु ये शरण मंगलदायक नहीं, ये शरण उत्तम नहीं, (क्योंकि) इन शरणोंमें जाकर सब दुःखोंसे छुटकारा नहीं मिलता।

यो च बुद्धञ्च धम्मञ्च सङ्घञ्च सरणं गतो।
चत्तारि अरियसच्चानि सम्मप्पञ्ञाय पस्सति॥१२॥

जो बुद्ध (परमज्ञानी), धर्म (सत्यज्ञान) और संघ (परमज्ञानियोंके अनुयायियोंके समुदाय) की शरणमें जाता है वह सम्यक् ज्ञानसे चार आर्य सत्योंको जान लेता है।

दुक्खं दुक्खसमुप्पादं दुक्खस्स च अतिक्कमं।
अरियञ्चट्ठङ्गिकं मग्गं दुक्खूपसमगामिनं॥१३॥

वह चार सत्य हैं : (१) दुःख, (२) दुःखकी उत्पत्ति, (३) दुःखका अतिक्रमण, और (४) दुःखका नाश। आर्य-अष्टांगिक मार्ग (ठीक धारण, ठीक संकल्प, ठीक वचन, ठीक कर्म, ठीक जीविका, ठीक उद्योग, ठीक स्मृति और ठीक ध्यान) दुःखको शमन करनेकी ओर ले जाता है।

एतं खो सरणं खेमं एतं सरणमुत्तमं।
एतं सरणमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति ॥१४॥

ये हैं मंगलप्रद शरण; ये हैं उत्तम शरण। इन शरणोंको पाकर (मनुष्य) सारे दुःखोंसे छूट जाता है।

दुल्लभो पुरिसाजञ्ञो न सो सब्बत्थ जायति।
यत्थ सो जायती धीरो तं कुलं सुखमेधति ॥१५॥

उत्तम पुरुष दुर्लभ है, वह सर्वत्र उत्पन्न नहीं होता। वह धीर (पुरुष) जहां उत्पन्न होता है उस कुलमें सुखकी वृद्धि होती है।

सुखो बुद्धानं उप्पादो सुखा सद्धम्मदेसना।
सुखा संघस्स सामग्गी समग्गानं तपो सुखो ॥१६॥

सुखदायक है बुद्धोंका जन्म, सुखदायक है सच्चे धर्मका उपदेश, संघमें एकता सुखदायक है और सुखदायक है एकतामें बंधे हुए भिक्षुओंकी तपस्या।

पूजारहे पूजयतो बुद्धे यदि व सावके।
पपञ्चसमतिक्कन्ते तिण्णसोकपरिद्दवे ॥१७॥
ते तादिसे पूजयतो निब्बुते अकुतोभये।
न सक्का पुञ्ञं संखातुं इमेत्तम्पि केनचि ॥१८॥

जो पूजनीय व्यक्तियोंकी पूजा करते हैं, जो बुद्ध (अथवा उनके शिष्यों) का सम्मान करते हैं, जो संसारके प्रपंच तथा शोक-समुद्रको पार करनेवाली निर्भीक मुक्तात्माओंकी सेवा करते हैं, उनके पुण्यका परिमाण "इतना है" नहीं कहा जा सकता।

यहां प्रश्न चार सत्यों और आठ मार्गोंका है जो दुःखके नाशकी ओर ले जाते हैं। 'धम्मपद'के अनुसार उनका ब्योरा यूं है :

चार उदात्त सत्य हैं :

१. जीवन — सामान्य जीवन, अज्ञान और मिथ्यात्वके जीवनके अर्थमें दुःखके साथ अविच्छेद्य रूपसे बंधा हुआ है : शारीरिक दुःख और — मानसिक दुःख।

२. दुःखका कारण इच्छा है जो विभक्त जीवनकी प्रकृतिके अज्ञानसे उत्पन्न होती है।

३. दुःखसे छूटनेका, दुःखको रोकनेका एक उपाय है।

४. अष्टांग मार्गका अनुसरण करनेसे यह मुक्ति प्राप्त होती है जो धीरे-धीरे अज्ञानपूर्ण मानसको पवित्र करता है। चौथा सत्य कहलाता है : अष्टांग मार्गमें समाविष्ट विधि।

उदात्त मार्गके प्रशिक्षणमें नीचेके आठ चरण आते हैं।

१. **सम्यक् दृष्टि।** चीजोंको जैसी वे हैं वैसा देखना, इसका अर्थ है एक शुद्ध यथार्थ दृष्टि और उत्तम अंतर्दृष्टि।

'धम्मपद' कहता है कि अस्तित्वकी तीन अवस्थाएं उसकी विशेषताएं हैं : दुःख, अनित्यता, निश्चित अहंका अभाव। लेकिन यह एकदम ऐसी बात नहीं है, यह सचमुच एक सुनिश्चिति, स्थायी और पृथक् व्यक्तित्वका मनोवैज्ञानिक गुच्छेमें अभाव है, व्यक्तिगत चेतनामें सच्ची निरंतरताका अभाव है; यही कारण है; कि, उदाहरणके लिये, अपनी सामान्य स्थितिमें हमें भूतकालके अस्तित्वोंकी स्मृति नहीं रहती, न ही सब अस्तित्वोंके आर-पार सचेतन निरंतरताका भान ही होता है।

सारांश यह है कि सम्यक् दृष्टि होनी चाहिये और सम्यक् दृष्टिका मतलब है यह देखना कि दुःख सामान्य अस्तित्वके साथ जुड़ा हुआ है, सब कुछ अनित्य है और कि व्यक्तिगत चेतनामें निरंतरता नहीं है।

२) **सम्यक् संकल्प।**[1] किंतु उसे एक ही शब्दका, इच्छाका, उपयोग नहीं करना चाहिये था, जब कि उसने अभी-अभी हमसे कहा है कि इच्छाएं नहीं होनी चाहिये; बल्कि ये सम्यक् अभीप्साएं हैं। "इच्छा" की जगह "अभीप्सा" रखना चाहिये।

"आपने-आपको आसक्तियोंसे मुक्त करना और सभी सत्ताओंका शुभेच्छा-के साथ विचार करना।" सारे समय सद्भावनाकी अवस्थामें रहना। सबके लिये हमेशा अच्छे-से-अच्छेकी कामना करना।

३) **सम्यक् वाक् जो किसीको घायल नहीं करती।** अकारण कभी

---

[1] फ्रेंच अनुवादमें "संकल्प" की जगह "इच्छा" शब्द रखा गया है।

बोलना नहीं चाहिये और द्वेष-भरी वाणीसे बहुत सावधानीके साथ बचना चाहिये।

४) **सम्यक् कर्म, प्रामाणिक और शांतिपूर्ण**। सभी दृष्टिकोणोंसे, केवल भौतिक ही नहीं, बल्कि नैतिक और मानसिक भी। मानसिक प्रामाणिकता उन बातोंमेंसे है जिन्हें पाना सबसे कठिन है।

५) **सम्यगाजीव। किसी भी प्राणीके लिये दुःख या खतरा न खड़ा करना**। इसे समझना अपेक्षाकृत सरल है। कुछ लोग ऐसे हैं जो इस सिद्धांतको सुरुचिके विपरीत अतितक ले जाते हैं; वे ऐसे लोग हैं जो, उदाहरणके लिये, अपने अधरोंपर रूमाल रखते हैं ताकि वे कीटाणुओंको निगल न जायं और अपने आगे रास्ता बुहारते चलते हैं ताकि किसी कीड़ेपर पांव न रख दें। यह सब कुछ अति ही लगती है, क्योंकि सारा जीवन ही विनाशसे भरा है; लेकिन तुम अगर इस पाठको सही-सही समझो तो वह कहता है कि किसी भी प्राणीको दुःख पहुंचानेकी सब संभावनाओंसे बचना चाहिये और जान-बूझकर किसीको खतरेमें नहीं डालना चाहिये। और अगर तुम इस सावधानी और सद्भावनाको विश्वके सभी जीवोंकी ओर बढ़ाओ तो वह तुम्हारे आंतरिक विकासके लिये बहुत लाभप्रद है।

६) **सम्यग्व्यायाम**। निरर्थक चीजोंके लिये बेकार प्रयत्न न करना, बल्कि अज्ञानको जीतनेके प्रयासमें और अपने-आपको मिथ्यात्वसे मुक्त करनेके प्रयासके लिये अपनी सारी शक्तिको सुरक्षित रखना चाहिये : इसे तुम कभी पर्याप्त मात्रामें नहीं कर पाओगे।

७) और सातवां सिद्धांत छठेकी पुष्टि करता है : **सम्यक् स्मृति**। क्रियाशील और सचेतन मनोवृत्ति होनी चाहिये। अर्धनिद्रामें, अर्ध-निश्चेतनामें नहीं जीना चाहिये : तुम जीवनमें अपने-आपको यों ही बहने देते हो, जो होना होगा, होगा। सब यही करते हैं। बीच-बीचमें तुम जाग जाते हो और अनुभव करते हो कि तुमने समय गंवाया है, तब तुम एक महान् प्रयत्न करते हो और दूसरे ही क्षण दुबारा निष्क्रियतामें गिर जाते हो। इससे अच्छा यही है कि कम उग्र चीज की जाय किंतु ऐसी जो ज्यादा स्थिर हो।

८) और अंतमें : **सम्यक् समाधि**। विचार वस्तुओंके मूल तत्त्वपर, गभीर सत्य प्राप्त करनेयोग्य लक्ष्यपर बिना अहंके केंद्रित हो।

अस्तित्वके प्रवाहमें कितनी ही बार एक तरहका खालीपन आता है, एक व्यस्तताहीन क्षण, कुछ मिनट, कभी-कभी ज्यादा भी। तब तुम क्या करते हो? उस क्षण तुम दिल-बहलावकी चेष्टा करते हो और अपना समय काटनेके लिये कोई-न-कोई मूर्खता खोज निकालते हो। यह एक सामान्य

तथ्य है, मनुष्य, छोटे-से लेकर बड़ेतक, अपने समयका अधिकांश अपने-आपको ऊबसे बचानेमें बिताता है। उसके लिये ऊब ही सबसे बड़ा हौआ है और ऊबसे बचनेका उपाय है बहुत सारी मूर्खता करना।

खैर, एक और उपाय है जो उससे कहीं अधिक अच्छा है : वह है स्मरण करना।

जब तुम्हारे पास थोड़ा समय हो, चाहे वह एक घंटा हो या कुछ मिनट, अपने-आपसे कहो : "हाश ! अपने-आपको केंद्रित करनेका, अपने-आपको इकट्ठा करनेका, अपने जीवनके मूल कारणको फिरसे जीनेका और जो 'सत्य' और 'सनातन' है उसे अपने-आपको अर्पित करनेका मेरे पास समय है।" हर बार जब तुम बाहरी परिस्थितियोंसे परेशान न हो तब अगर तुम यह करनेकी सावधानी बरतो तो देखोगे कि तुम राहपर बहुत जल्दी बढ़ते जा रहे हो। अपना समय बकवासमें, अनावश्यक चीजें करनेमें और ऐसी चीजें पढ़नेमें गंवानेकी जगह, जो चेतनाको गिराती हैं (यह तो अच्छी-से-अच्छी दशाओंके चुनावकी बात है, मैं दूसरी मूर्खताओंकी बात ही नहीं करती जो बहुत ज्यादा गंभीर होती हैं), अपना मनोरंजन करनेकी जगह, ऐसा करनेकी जगह कि समय जो पहलेसे ही कम है और भी कम हो जाय और फिर देखना कि जीवनके अंतमें हमने तीन-चौथाई अवसर खो दिये हैं — तब फिर तुम दोनों हाथोंसे कौर निगलने लगते हो, लेकिन उससे कोई फायदा नहीं होता — ज्यादा अच्छा है संयत होना, संतुलित होना, धैर्यवान होना, शांत होना और कभी दिये गये अवसरको न गंवाना। इसका मतलब है तुम्हारे सामने जो मिनट व्यस्तताहीन होता है उसका सच्चे ध्येयके लिये उपयोग करना।

जब तुम्हारे पास करनेके लिये कुछ न हो तो तुम क्षुब्ध हो उठते हो, तुम भागते फिरते हो, मित्रोंसे मिलने चले जाते हो, घूमने निकल पड़ते हो — मात्र अच्छी चीजोंकी ही बात करती हूं, मैं उन चीजोंकी बात नहीं करना चाहती जो स्पष्ट रूपसे ऐसी हैं जिन्हें नहीं करना चाहिये — इन सबकी जगह शांतिपूर्वक, तुम्हारे लिये जो संभव हो उसके अनुसार, आकाशके नीचे, समुद्रके आगे या पेड़ों तले बैठ जाओ (यहां तो सब कुछ है), और इनमेंसे किसी एक चीजको सिद्ध करनेकी कोशिश करो, यह समझनेकी कोशिश करो कि तुम क्यों जीवित हो और यह सीखनेकी कोशिश करो कि किस तरह जीना चाहिये। इसपर विचार करो कि तुम क्या करना चाहते हो और क्या करना चाहिये। 'अज्ञान', 'मिथ्यात्व' और दुःख जिसमें तुम जीवित हो उससे बच निकलनेका उत्तम उपाय क्या है।

१६-५-१९५८

१५. सुखवग्गो (सुख)

सुसुखं वत ! जीवाम वेरिनेसु अवेरिनो।
वेरिनेसु मनुस्सेसु विहराम अवेरिनो ॥१॥

वैरियोंके प्रति (भी) अवैरी हो, अहो ! हम (कैसा) सुख-पूर्वक जीवन बिता रहे हैं; वैरी मनुष्योंके बीच अवैरी होकर हम विहार करते हैं।

सुसुखं वत ! जीवाम आतुरेसु अनातुरा।
आतुरेसु मनुस्सेसु विहराम अनातुरा ॥२॥

भयभीत मनुष्योंमें अभय हो, अहो ! हम (कैसा) सुखपूर्वक जीवन बिता रहे हैं; भयभीत मनुष्योंके बीच निर्भय होकर हम विहार करते हैं।

सुसुखं वत ! जीवाम उस्सुकेसु अनुस्सुका।
उस्सुकेसु मनुस्सेसु विहराम अनुस्सुका ॥३॥

उत्सुकों (आसक्तों) में उत्सुकता-रहित हो, अहो ! हम (कैसा) सुखपूर्वक जीवन बिता रहे हैं; उत्सुक मनुष्योंके बीच उत्सुकता-रहित होकर हम विहार करते हैं।

सुसुखं वत ! जीवाम येसं नो नत्थि किञ्चनं।
पीतिभक्खा भविस्साम देवा आभस्सरा यथा ॥४॥

जिन हम (लोगों) के पास कुछ नहीं, अहो ! वह हम कितना सुखसे जीवन बिता रहे हैं। हम ज्योतिर्मय देवताओंकी भांति प्रीतिभक्ष्य (प्रीति ही भोजन है जिनका) हैं।

जयं वेरं पसवति दुक्खं सेति पराजितो।
उपसन्तो सुखं सेति हित्वा जयपराजयं ॥५॥

विजय वैरको उत्पन्न करती है, पराजित (पुरुष) दुःखकी (नींद) सोता है; (राग आदि दोष जिसके) शांत हैं, (वह पुरुष) जय और पराजयको छोड़ सुखकी (नींद) सोता है।

नत्थि रागसमो अग्गि, नत्थि दोससमो कलि।
नत्थि खन्धसमा दुक्खा नत्थि सन्तिपरं सुखं ॥६॥

रागके समान अग्नि नहीं, द्वेषके समान मल नहीं, (पांच) स्कंधों (समुदाय) के समान दुःख नहीं, शांतिसे बढ़कर सुख नहीं।

जिघच्छा परमा रोगा, सङ्खारा परमा दुखा।
एतं ञत्वा यथाभूतं निब्बाणं परमं सुखं ॥७॥

भूख सबसे बड़ा रोग है, संस्कार सबसे बड़े दुःख हैं, यह जान, यथार्थ निर्वाणको सबसे बड़ा सुख (कहा जाता) है।

आरोग्यपरमा लाभा सन्तुट्ठी परमं धनं।
विस्सास परमा ञाती निब्बाणं परमं सुखं ॥८॥

निरोग होना परम लाभ है, संतोष परम धन है, विश्वास सबसे बड़ा बंधु है, निर्वाण परम (सबसे बड़ा) सुख है।

पविवेकरसं पीत्वा रसं उपसमस्स च।
निद्दरो होति निप्पापो धम्मपीतिरसं पिवं ॥९॥

एकांत (चिंतन) के रस, तथा उपशम (शांति) के रस-को पीकर (पुरुष) निडर होता है, (और) धर्मका प्रेमरस पान कर निष्पाप होता है।

साधु दस्सनमरियानं सन्निवासो सदा सुखो॥
अदस्सनेन बालानं निच्चमेव सुखी सिया ॥१०॥

आर्यों (सत्पुरुषों) का दर्शन सुन्दर है, संतोंके साथ निवास सदा सुखदायक होता है; मूढ़ोंके दर्शन न होनेसे (मनुष्य) सदा सुखी रहता है।

बालसंगतिचारी हि दीर्घमद्धानं सोचति।
दुक्खो बालेहि संवासो अमित्तेनेव सब्बदा।
धीरो च सुखसंवासो ञातीनं'व समागमो ॥११॥

मूढ़ोंकी संगतिमें रहनेवाला दीर्घकालतक शोक करता है, मूढ़ोंका सहवास शत्रुकी तरह सदा दुःखदायक होता है, बंधुओंके समागमकी भांति धीरोंका सहवास सुखद होता है।

तस्मा हि धीरं च पञ्ञञ्च बहु-स्सुतं च
धोरय्हसीलं वतवन्तमरियं।
तं तादिसं सप्पुरिसं सुमेधं भजेथ नक्खत्तपथं'व चन्दिमा ॥१२॥

इसलिये धीर, प्राज्ञ, बहुश्रुत, उद्योगी, व्रती, आर्य एवं शुद्ध सत्पुरुषका वैसे ही सेवन करे, जैसे चंद्रमा नक्षत्र-पथका (सेवन करता है)।

इन श्लोकोंमेंसे एक बहुत सुन्दर है। हम उसका अनुवाद यूं कर सकते हैं: "सुखी है वह जिसके पास कुछ भी नहीं है, ओजस्वी देवोंके आनंदसे वह अपना पोषण करेगा।" अपने अधिकारमें कुछ नहीं होनेका यह अर्थ बिलकुल नहीं होता कि किसी वस्तुका उपयोग न करना, किसी वस्तुकी व्यवस्था न करना। "सुखी वह है जिसके पास कुछ नहीं है," यह वही है जिसके अंदर अधिकारकी भावना नहीं है, यह ऐसा व्यक्ति है जो, चीजें उसके पास आयं तो उनका उपयोग कर सकता है, यह जानते हुए कि वे उसकी नहीं हैं, वे परम प्रभुकी हैं, और जो, इसी कारण, जब चीजें दूर चली जायं तो उनके लिये दुःखी नहीं होता। और उसे यह एकदम स्वाभाविक लगता है कि भगवान्‌ने जो चीजें उसे दी थीं उन्हें वापिस ले लें और दूसरोंको दे दें। ऐसा व्यक्ति चीजोंका उपयोग करते समय और चीजोंकी अनुपस्थितिमें समान रूपसे सुखी रहता है। जब वे तुम्हारे पास होती हैं तो तुम उन्हें भागवत कृपाके उपहारके रूपमें स्वीकार करते हो; और जब वे तुम्हें छोड़कर चली जाती हैं, जब वे तुमसे दूर होती हैं तब तुम अभावके आनंदमें रहते हो — क्योंकि अधिकारकी यह भावना ही तुम्हें चीजोंके प्रति आसक्त रखती है, तुम्हें गुलाम बनाती है, वरना तुम हमेशा निरंतर आनंदकी स्थितिमें और चीजोंकी उस निरंतर गतिमें रह सकते हो जो आती है और निकल जाती है — और जो अपने साथ एक ही साथ, जब वे होती हैं तो समृद्धिकी भावना लाती हैं, जब चली जाती हैं तो अनासक्तिका आनंद लाती हैं।

आनंद! आनंद, इसका अर्थ है सत्यमें जीना, इसका अर्थ है असीमके साथ ऐक्यमें जीना, सच्चे जीवनके साथ, उस प्रकाशमें, जो कभी बुझता नहीं, जीना। आनंद, उसका अर्थ है स्वतंत्र होना, सच्ची स्वतंत्रतामें स्वतंत्र होना; दिव्य इच्छा-शक्तिके साथ अपरिवर्तनशील, निरंतर ऐक्यकी स्वतंत्रतामें रहना।

देवता वे हैं जो अमर हैं, पार्थिव जीवनके उतार-चढ़ावके बंधनमें नहीं हैं, उसके अंदर जो कुछ संकरा, कमीना, अवास्तविक और मिथ्या है उसके साथ बंधे नहीं हैं।

देवता वे हैं जो 'ज्योति' की ओर मुड़े हुए हैं, 'शक्ति' में और 'ज्ञान' में जीते हैं। बुद्ध यही कहना चाहते हैं, वे धर्मके देवोंकी ओर संकेत नहीं कर रहे। ये ऐसी सत्ताएं हैं जिनका चरित्र दिव्य है, जो मानव शरीरमें जी सकते हैं, किंतु अज्ञान और मिथ्यात्वसे मुक्त होकर।

जब तुम्हारे पास शेष कुछ भी न रहे तो तुम विश्वके जितने विशाल बन सकते हो।

२३-५-१९५८

१६. पियवग्गो (प्रिय)

अयोगे युञ्जमत्तानं योगस्मिञ्च अयोजयं।
अत्थं हित्वा पियग्गाही पिहेत'त्तानुयोगिनं ॥१॥

अयोग (अनासक्ति) में अपनेको लगानेवाले; योग (आसक्ति) में न योग देनेवाले; अर्थ (स्वार्थ) छोड़ प्रियका ग्रहण करनेवाले आत्मानुयोगी (पुरुष) की स्पृहा करे।

मा पियेहि समागञ्छि अप्पियेहि कुदाचनं।
पियानं अदस्सनं दुक्खं अप्पियानञ्च दस्सनं ॥२॥

प्रियोंका संग मत करो, और न कमी अप्रियों ही (का संग करो), प्रियोंका न देखना दुःखद होता है, और अप्रियोंका देखना (भी)।

तस्मा पियं न कयिराथ पियापायो हि पापको।
गन्था तेसं न विज्जन्ति येसं नत्थि पियाप्पियं ॥३॥

इसलिये प्रिय न बनाये, प्रियका नाश बुरा (लगता है); उनके (दिलमें) गांठ नहीं पड़ती जिनके प्रिय-अप्रिय नहीं होते।

पियतो जायते सोको पियतो जायते भयं।
पियतो विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं? ॥४॥

प्रिय (वस्तु) से शोक उत्पन्न होता है, प्रियसे भय उत्पन्न

होता है; प्रिय (के बंधन) से जो मुक्त है, उसे शोक नहीं है, फिर भय कहांसे (हो) ?

पेमतो जायते सोको पेमतो जायते भयं।
पेमतो विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं? ॥५॥

प्रेमसे शोक उत्पन्न होता है, प्रेमसे भय उत्पन्न होता है, प्रेम-से मुक्तको शोक नहीं, फिर भय कहांसे (हो) ?

रतिया जायते सोको रतिया जायते भयं।
रतिया विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं?॥६॥

रति (राग) से शोक उत्पन्न होता है, रतिसे भय उत्पन्न होता है; रतिसे मुक्तको शोक नहीं, फिर भय कहांसे (हो) ?

कामतो जायते सोको कामतो जायते भयं।
कामतो विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं?॥७॥

कामसे शोक उत्पन्न होता है, कामसे भय उत्पन्न होता है; कामसे मुक्तको शोक नहीं, फिर भय कहांसे (हो) ?

तण्हाय जायते सोको तण्हाय जायते भयं।
तण्हाय विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं? ॥८॥

तृष्णासे शोक उत्पन्न होता है, तृष्णासे भय उत्पन्न होता है; तृष्णासे मुक्तको शोक नहीं, फिर भय कहांसे (हो) ?

सीलदस्सनसम्पन्नं धम्मट्ठं सच्चवादिनं।
अत्तनो कम्म कुब्बानं तं जनो कुरुते पियं॥९॥

जो शील (आचरण) और दर्शन (विद्या) से संपन्न, धर्ममें स्थित, सत्यवादी और अपने कामको करनेवाला है, उस (पुरुष) से लोग प्रेम करते हैं।

छन्दजातो अनक्खाते मनसा च फुटो सिया।
कामेसु च अप्पटिबद्धचित्तो उद्धंसोतो'ति वुच्चति ॥१०॥

जो अकथ्य (वस्तु-निर्वाण) का अभिलाषी है, (उसमें) जिसका मन लगा है, कामों (भोगों) में जिसका चित्त बद्ध नहीं, वह ऊर्ध्वस्रोत कहा जाता है।

चिरप्पवासिं पुरिसं दूरतो सोत्थिमागतं।
ञातिमित्ता सुहज्जा च अभिनन्दन्ति आगतं ॥११॥

चिर-प्रवासी (चिरकालतक परदेशमें रहे) दूर (देश)से सानंद लौटे पुरुषका जातिवाले, मित्र और सुहृद् अभिनंदन करते हैं।

तथेव कतपुञ्ञम्पि अस्मा लोका परं गतं।
पुञ्ञानि पटिगण्हन्ति पियं ञातीव आगतं ॥१२॥

इसी प्रकार पुण्यकर्मा (पुरुष) को इस लोकसे परलोकमें जानेपर, (उसके) पुण्य (-कर्म) प्रिय जाति (वालों) की भांति स्वीकार करते हैं।

मुझे हमेशा लगता है कि समझदार बननेके लिये लोग जो कारण देते हैं वे बड़े तुच्छ होते हैं। "यह मत करो, यह तुम्हें दुःख देगा; वह मत करो, वह तुम्हारे अंदर भय जगायगा" . . . और चेतना अधिक-से-अधिक शुष्क होती जाती है, वह कंटकाकीर्ण हो जाती है क्योंकि उसे दुःखी होनेसे डर लगता है या कष्टसे डर लगता है।

मैं यह पसंद करूंगी कि तुम यह कहो कि चेतनाकी एक स्थिति है — जिसे तुम निरंतर अभीप्सा और आंतरिक प्रयासके द्वारा प्राप्त कर सकते हो — जहां आनंद बिना मिलावटके रहता है और प्रकाश बिना परछाईंके, और जहां डरकी सब संभावना अदृश्य हो जाती है; यह वह स्थिति है जहां तुम स्वयं अपने लिये नहीं जीते, पूर्ण विश्वासके साथ अपने प्रति जो जिम्मेदारियां हैं उनको निभाते हुए सारा भार भगवान्‌को देकर —जो तब भार नहीं रहता, बल्कि जहां तुम जो कुछ भी करो, जो कुछ भी अनुभव करो, सभी क्रियाएं परम प्रभुको एक अर्घ्यके रूपमें दी जाती हैं — रहते हो।

अपने विषयमें सोचना न पड़े, अपनी जिम्मेदारी उठानी न पड़े, यह एक अवर्णनीय आनंद है। यह चिंता करना कि क्या करना चाहिये, और क्या नहीं करना चाहिये, तुम्हारे लिये क्या अच्छा है, तुम्हारे लिये क्या बुरा है, किस चीजसे बचना चाहिये, किस चीजको प्राप्त करना चाहिये, यह सब सोचना कितना उबाऊ है; लेकिन जब तुम इस तरह जीते हो, पूरी तरह खुले हुए, सूर्यके सामने खिलते फूलकी तरह, सर्वोच्च चेतनाके सामने, सर्वोच्च ज्ञान, सर्वोच्च प्रकाश, सर्वोच्च प्रेमके सामने जो सब कुछ जानता है, सब कर सकता है, जो तुम्हारा उत्तरदायित्व ले लेता है और तुम्हें किसी प्रकारकी चिंता नहीं रहती, यह है आदर्श स्थिति।

तो फिर, व्यक्ति ऐसा करते क्यों नहीं?

तुम उसके बारेमें सोचते ही नहीं, तुम यह करना भूल जाते हो, पुरानी आदतें लौट आती हैं और अधिक महत्त्वपूर्ण है, निश्चेतना या अवचेतना-के किसी भागमें छिपा हुआ या उनके पीछे, यह धोखेबाज संदेह जो तुम्हारे कानमें चुपकेसे आकर कहता है: "ओह! अगर तुम सावधान नहीं रहे तो दुःख आयेगा। अगर तुम अपने ऊपर निगरानी करना भूल गये तो पता नहीं तुम्हारे ऊपर क्या बीते..." और तुम इतने मूर्ख हो, इतने मूर्ख, इतने अंधकारमय हो, इतने बुद्धू हो कि उसे सुनते हो — फिर अपनी निगरानी करने लगते हो और सब नष्ट हो जाता है।

अपने कोषाणुओंमें फिरसे, थोड़ी-बहुत समझदारी, थोड़ी-बहुत सद्बुद्धि और एक बार उंड़ेलनी होगी और अपनी चिंता न करना फिरसे सीखना होगा।

३०-५-१९५८

१७. कोधवग्गो (क्रोध)

कोधं जहे विप्पजहेय्य मानं सञ्ञोजनं सब्बमतिक्कमेय्य।
तं नामरूपस्मिं असज्जमानं अकिञ्चनं नानुपतन्ति दुक्खा ॥१॥

क्रोधको छोड़े, अभिमानका त्याग करे, सारे संयोजनों (बंधनों) से पार हो जाय। ऐसे नाम-रूपमें आसक्त न होनेवाले तथा परिग्रहरहित (पुरुष) को दुःख संताप नहीं देते।

यो वे उप्पतितं कोधं रथं भन्तं'व धारये।
तमहं सारथिं ब्रूमि रस्मिग्गाहो इतरो जनो ॥२॥

जो चढ़े क्रोधको भ्रमण करते रथकी भांति पकड़ ले, उसे मैं सारथी कहता हूं, दूसरे लोग लगाम पकड़नेवाले (मात्र) हैं।

अक्कोधेन जिने कोधं असाधुं साधुना जिने।
जिने कदरियं दानेन सच्चेन अलिकवादिनं ॥३॥

अक्रोधसे क्रोधको जीते, असाधुको साधु (भलाई) से जीते, कृपणको दानसे जीते, झूठ बोलनेवालेको सत्यसे (जीते)।

सच्चं भणे न कुज्झेय्य, दज्जा'प्पस्मिम्पि याचितो।
एतेहि तीहि ठानेहि गच्छे देवान सन्तिके ॥४॥

सच बोले, क्रोध न करे, थोड़ा भी मांगनेपर दे। इन तीन बातोंसे (पुरुष) देवताओंके पास जाता है।

अहिंसका ये मुनयो निच्चं कायेन संवुता।
ते यन्ति अच्चुतं ठानं यत्थ गन्त्वा न सोचरे ॥५॥

जो मुनि (लोग) अहिंसक, सदा कायामें संयम करनेवाले, हैं, वह (उस) अच्युत स्थान (जिस स्थानपर पहुंच फिर गिरना नहीं होता) को प्राप्त होते हैं, जहां जाकर फिर शोक नहीं किया जाता।

सदा जागरमानानं अहोरत्तानुसिक्खिनं।
निब्बाणं अधिमुत्तानं अत्थं गच्छन्ति आसवा ॥६॥

जो सदा जागता (सचेत) रहता है, रात-दिन (उत्तम) सीख सीखनेवाला होता है और निर्वाण (प्राप्त कर) मुक्त हो गया है, उसके आस्रव (= चित्त मल) अस्त हो जाते हैं।

पोराणमेतं अतुल ! नेतं अज्जतनामिव।
निन्दन्ति तुण्हीमासीनं निन्दन्ति बहुभाणिनं।
मितभाणिनम्पि निन्दन्ति नत्थि लोके अनिन्दितो ॥७॥

हे अतुल ! यह पुरानी बात है, आजकी नहीं — (लोग) चुप बैठे हुएकी निंदा करते हैं, और बहुत बोलनेवालेकी भी, मितभाषीकी भी निंदा करते हैं। दुनियामें अनिंदित कोई नहीं है।

न चाहु न च भविस्सन्ति न चेतरहि विज्जति।
एकन्तं निन्दितो पोसो, एकन्तं वा पसंसितो ॥८॥

बिलकुल ही निंदित या बिलकुल ही प्रशंसित पुरुष न था, न होगा, न आजकल है।

यञ्चे विञ्ञू पसंसन्ति अनुविच्च सुवे सुवे।
अच्छिद्दवुत्तिं मेधाविं पञ्ञासीलसमाहितं ॥९॥

अपने-अपने (दिलमें) जानकर विज्ञ लोग अछिद्र वृत्ति (दोषरहित स्वभाववाले), मेधावी, प्रज्ञाशील-संयुक्त जिस (पुरुष) की प्रशंसा करते हैं,

नेक्खं जम्बोनदस्सेव को तं निन्दितुमरहति।
देवापि तं पसंसन्ति ब्रह्मुणापि पसंसितो ॥१०॥

उस जाम्बूनद (सुवर्ण) की अशर्फीके समान पुरुषकी कौन निंदा कर सकता है? देवता भी उसकी प्रशंसा करते हैं, ब्रह्माद्वारा भी वह प्रशंसित होता है।

कायप्पकोपं रक्खेय्य कायेन संवुतो सिया।
कायदुच्चरितं हित्वा कायेन सुचरितं चरे ॥११॥

कायाकी चंचलतासे रक्षा करे, कायासे संयत रहे। कायिक दुश्चरितको छोड़ कायिक सुचरितका आचरण करे।

वचीपकोपं रक्खेय्य वाचाय संवुतो सिया।
वचीदुच्चरितं हित्वा वचो सुचरितं चरे ॥१२॥

वाणीकी चंचलतासे रक्षा करे, वाणीसे संयत रहे। वाचिक दुश्चरितको छोड़ वाचिक सुचरितका आचरण करे।

मनोप्पकोपं रक्खेय्य मनसा संवुतो सिया।
मनोदुच्चरितं हित्वा मनसा सुचरितं चरे ॥१३॥

मनकी चंचलतासे रक्षा करे, मनसे संयत रहे। मानसिक दुश्चरितको छोड़ मानसिक सुचरितका आचरण करे।

कायेन संवुता धीरा अथो वाचाय संवुता।
मनसा संवुता धीरा ते वे सुपरिसंवुता ॥१४॥

जो धैर्यशाली शरीरसे संयत हैं, वाणीसे संयत हैं तथा मनसे संयत हैं वे वास्तवमें सुसंयमी हैं।

मेरा एक सुझाव है कि तुममेंसे प्रत्येक — ओह! बहुत देरतक नहीं, दिनमें एक घंटा, यह कोशिश करे कि एकदम आवश्यक शब्द ही बोले। न एक कम न एक ज्यादा।

तुम अपने जीवनका एक घंटा लो, वह जो तुम्हें सबसे अधिक सुविधाजनक लगे, और उस समय तुम अपने-आपका बहुत ही ध्यानपूर्वक निरीक्षण करो और वही शब्द बोलो जो एकदम अनिवार्य हों।

शुरूमें, सबसे पहली कठिनाई यह जाननेकी होगी कि क्या एकदम अनि-

वार्य है और क्या नहीं। यह अपने-आपमें एक अध्ययन होगा; और दिन-पर-दिन तुम अच्छा करते चलोगे।

बादमें तुम देखोगे कि जबतक तुम कुछ नहीं बोलते, नितांत मौन रहना बहुत मुश्किल नहीं होता, किंतु जैसे ही तुम बोलना शुरू करते हो हमेशा, या प्रायः हमेशा, जिन्हें बोलना आवश्यक न था ऐसे दो-तीन या दस-बीस बेकार शब्द बोल जाते हो।

अगले शुक्रवारतक मैं तुम्हें इसे एक कसरतके रूपमें देती हूं। देखें, तुम कितने सफल होते हो। तुममेंसे जिन्होंने प्रयास किया है वे मुझे सप्ताहके अंतमें शुक्रवारको एक छोटी पर्ची दे सकते हैं मुझे यह बतानेके लिये कि तुम्हें कितनी सफलता मिली। बस।

६-६-१९५८

१८. मलवग्गो (मैल)

पाण्डुपलासोव दानिसि, यमपुरिसापि च तं उपट्ठिता।
उय्योगमुखे च तिट्ठसि पाथेय्यम्पि च ते न विज्जति ॥१॥

पीले पत्तेके समान इस वक्त तू है; यमदूत तेरे पास खड़े हैं। तू प्रयाणके लिये तैयार है और, पाथेय तेरे पास कुछ नहीं है!

सो करोहि दीपमत्तनो खिप्पं वायम पण्डितो भव।
निद्धन्तमलो अनङ्गणो दिब्बं अरियभूमिमेहिसि ॥२॥

सो तू अपने लिये द्वीप (= रक्षास्थान) बना, शीघ्र ही उद्योग कर, पंडित बन, मल धो डाल, दोषरहित बन; तू आर्योंके दिव्य पदको पायेगा।

उपनीतवयो च दानिसि सम्पयातोसि यमस्स सन्तिके।
वासोपि चाते नत्थि अन्तरा पाथेय्यम्पि च ते न विज्जति ॥३॥

आयु तेरी समाप्त हो गयी, यमके पास पहुंच चुका, मार्गमें निवास (स्थान) भी नहीं है। (यात्रा)के मध्यके लिये तेरे पास पाथेय भी नहीं।

सो करोहि दीपमत्तनो खिप्पं वायम पण्डितो भव।
निद्धन्तमलो अनङ्गणो न पुनर्जातिजरं उपेहिसि ॥४॥

सो तू अपने लिये द्वीप बना, शीघ्र ही उद्योग कर, पंडित बन, मलको धो डाल, दोषरहित बन; तू जन्म और जराको फिरसे प्राप्त न होगा।

अनुपुब्बेन मेधावी थोकथोकं खणे खणे।
कम्मारो रजतस्सेव निद्धमे मलमत्तनो ॥५॥

बुद्धिमान् (पुरुष) क्षण-क्षण, क्रमशः, थोड़ा-थोड़ा अपने मल-को (वैसे ही) (जलाये), जैसा कि सोनार चांदीके (मलको) जलाता है।

अयसा'व मलं समुट्ठितं तदुट्ठाय तमेव खादति।
एवं अतिधोनचारिनं सानि कम्मानि नयन्ति दुग्गतिं ॥६॥

जैसे लोहेसे उत्पन्न मल (मुर्चा) जिससे उत्पन्न होता है उसे ही खा डालता है, इसी प्रकार अति चंचल (पुरुष) के अपने ही कर्म उसे दुर्गतिकी ओर ले जाते हैं।

असज्झायमला मन्ता अनुट्ठानमला घरा।
मलं वण्णस्स कोसज्जं पमादो रक्खतो मलं ॥७॥

स्वाध्याय (स्वरपूर्वक पाठकी आवृत्ति) न करना (वेद-) मंत्रोंका मल (मुर्चा) है। (लीप, पोत, मरम्मत कर) न उठाना घरोंका मुर्चा है। शरीरका मुर्चा आलस्य है। असाव-धानी रक्षकका मुर्चा है।

मलित्थिया दुच्चरितं मच्छेरं ददतो मलं।
मला वे पापका धम्मा अस्मिं लोके परम्हि च ॥८॥

स्त्रीका मल दुराचार है। कृपणता (कंजूसी) दाताका मल है। पाप इस लोक और पर (-लोक, दोनों) में मल है।

ततो मला मलतरं अविज्जा परमं मलं।
एतं मलं पहत्वान निम्मला होथ भिक्खवो ॥९॥

फिर मलोंमें सबसे बड़ा मल — महामल अविद्या है। हे भिक्षुओ! इस मल (= अविद्या) को त्यागकर निर्मल बनो।

सुजीवं अहिरीकेन काकसूरेन धंसिना।
पक्खन्दिना पगब्भेन संकिलिट्ठेन जीवितं ॥१०॥

(पापाचारके प्रति) निर्लज्ज, कौए समान (स्वार्थमें) शूर, (परहित-) विनाशी, पतित, उच्छृंखल और मलिन (पुरुष) का जीवन सुखपूर्वक बीतता (देखा जाता) है।

हिरीमता च दुज्जीवं निच्चं सुचिगवेसिना।
अलीनेन'प्पगब्भेन सुद्धाजीवेन पस्सता ॥११॥

(पापाचारके प्रति) लज्जावान्, नित्य ही पवित्रताका ख्याल रखनेवाले, निरालस, अनुच्छृंखल शुद्ध जीविकावाले सचेत (पुरुष) के जीवनको कठिनाईसे बीतते देखते हैं।

यो पाणमतिपातेति मुसावादञ्च भासति।
लोके अदिन्नं आदियति परदारञ्च गच्छति ॥१२॥

जो हिंसा करता है, झूठ बोलता है, लोकमें चोरी करता है (बिना दिये लेता है), परस्त्रीगमन करता है—

सुरामेरयपानञ्च यो नरो अनुयुञ्जति।
इधेवमेसो लोकस्मिं मूलं खनति अत्तनो ॥१३॥

जो पुरुष मद्यपानमें लगा रहता है, वह इस प्रकार इसी लोकमें अपनी जड़को खोदता है।

एवं भो पुरिस ! जानाहि पापधम्मा असञ्ञता।
मा तं लोभो अधम्मो च चिरं दुक्खाय रन्धयुं ॥१४॥

हे पुरुष ! पापियों, असंयमियोंके बारेमें ऐसा जान और तुझे लोभ, अधर्म चिरकालतक दुःखमें न डाले रहें।

ददन्ति वे यथासद्धं यथापसादनं जनो।
तत्थ यो मंकु भवति परेसं पानभोजने।
न सो दिवा व रत्तिं वा समाधिं अधिगच्छति ॥१५॥

लोग अपनी-अपनी श्रद्धा और प्रसन्नताके अनुसार दान देते हैं, वहां दूसरोंके खाने-पीनेमें जो (असंतोषके कारण) मूक होता है; वह रात-दिन, (कभी भी) समाधानको नहीं प्राप्त करता।

यस्स च तं समुच्छिन्नं मूलघच्चं समूहतं।
स वे दिवा वा रत्तिं वा समाधिं अधिगच्छति॥१६॥

(किंतु) जिसका वह भाव जड़-मूलसे पूरी तरह उच्छिन्न हो गया, वह रात-दिन (सर्वदा) समाधानको प्राप्त होता है।

नत्थि रागसमो अग्गि नत्थि दोससमो गहो।
नत्थि मोहसमं जालं नत्थि तण्हासमा नदी॥१७॥

रागके समान आग नहीं, द्वेषके समान ग्रह (भूत, चुड़ैल) नहीं, मोहके समान जाल नहीं, तृष्णाके समान नदी नहीं।

सुदस्सं वज्जमञ्ञेसं अत्तनो पन दुद्दसं।
परेसं हि सो वज्जानि ओपुणाति यथाभुसं।
अत्तनो पन छादेति कलिं'व कितवा सठो॥१८॥

दूसरेका दोष देखना आसान है, किंतु अपना (दोष) देखना कठिन है। वह (पुरुष) दूसरोंके ही दोषोंको भुसकी भांति उड़ाता फिरता है, किंतु अपने (दोषों) को वैसे ही ढांकता है जैसे शठ जुआरी अपने पासेको।

परवज्जानुपस्सिस्स निच्चं उज्झानसञ्ञिनो।
आसवा तस्स वड्ढन्ति आरा स आसवक्खया॥१९॥

दूसरोंके दोषोंकी खोजमें रहनेवाले, सदा "हाय-हाय" करनेवाले (पुरुष) के आस्रव (= चित्तमल) बढ़ते हैं। वह आस्रवों-के विनाशसे दूर हटा हुआ है।

आकासे च पदं नत्थि समणो नत्थि बाहिरे।
पपञ्चाभिरता पजा निप्पपञ्चा तथागता॥२०॥

आकाशमें पद (= चिह्न) नहीं, बाहरमें श्रमण (= संन्यासी) नहीं रहता। लोग प्रपंचमें लगे रहते हैं, (किंतु) तथागत (= बुद्ध) प्रपंचरहित होते हैं।

आकासे च पदं नत्थि समणो नत्थि बाहिरे।
सङ्खारा सस्सता नत्थि, नत्थि बुद्धानमिञ्जितं॥२१॥

आकाशमें पद (= चिह्न) नहीं, बाहरमें श्रमण (= संन्यासी) नहीं रहता (= बाहरी सिद्धियोंसे मनुष्य श्रमण नहीं बनता)।

> यह संसार अनित्य है, (किंतु) तथागत बुद्धोंमें अनित्यता (=अस्थिरता) नहीं है।

मैंने शब्दोंके संयमके बारेमें तुम्हारी परचियां पढ़ी हैं। कइयोंमें बहुत गंभीरता-से प्रयास किया है। मैं परिणामसे संतुष्ट हूं। मैं समझती हूं कि अगर तुम इसे जारी रखो तो सबके लिये अच्छा होगा।

किसीने मुझे एक बहुत सच्ची बात लिखी है: वह यह कि जब तुम शुरू करते हो तो उसे रोकनेके लिये कोई कारण नहीं होता, तुम दिनके एक घंटेके लिये शुरू करते हो लेकिन वह एक तरहकी आवश्यकता, आदत बन जाती है। और स्वाभाविक रूपसे तुम उसे जारी रखते हो।

अगर तुम्हारे प्रयोगका सचमुच यह परिणाम है तब तो बहुत अच्छा है।

आज मैंने जो पढ़ा है उसमें तीन चीजें याद रखी जा सकती हैं: पहली यह कि अगर हम परिणाम प्राप्त करना चाहते हैं तो हम जो कर रहे हैं उसपर हमें डटे रहना चाहिये। उदाहरणके लिये, 'धम्मपद' हमसे कहता है कि अगर हमारे पास एक मंत्र है और हम उसका पर्याप्त संख्यामें जाप नहीं करते तो उसे प्राप्त करना बेकार है, अगर हम असावधान हैं तो जाग्रतिके लाभोंसे वंचित रहते हैं और यह कि जो अच्छी आदतें सीखी हैं अगर हम उन्हें जारी न रखें तो वे बेकार हैं — इसका मतलब यह है कि हमें दृढ़तापूर्वक डटे रहना चाहिये। उदाहरणके लिये, पिछली बार मैंने तुमसे जो प्रयोग करनेके लिये कहा था, वह इस विचारसे कहा था कि अगर तुम ऐसा करनेकी आदत बना लो तो वह तुम्हें अपनी मुसीबतोंको जीतनेमें बहुत सहायता देगी।

किसीने मुझसे ठीक ही कहा है कि इस अर्ध-मौनका अभ्यास करनेसे या भाषापर किसी भी तरहका संयम रखनेसे हम स्वभावत: अपने चरित्र-की बहुत सारी मुश्किलोंको जीत पाते हैं और यह भी कि संघर्षों और गलतफहमियोंसे बच सकते हैं। यह सच है।

हमारे पाठमें याद रखने लायक एक और विषय है जिसका संबंध मलिनतासे है और 'धम्मपद' हमें दुर्भावना या दुष्कर्मका उदाहरण देता है। हमारा पाठ कहता है कि दुष्कर्म इहलोक और परलोकोंमें एक मलिनता हैं; फिर बादके पदोंमें कहा गया है कि अज्ञानसे बढ़कर कोई और मलिनता नहीं है, इसका अर्थ यह हुआ कि अज्ञानको मुख्य, केंद्रीय भूल माना गया है; ऐसी जिसे अविलंब सुधारना चाहिये। और जिसे अज्ञान कहते हैं वह चीजोंको न जानना या दुनियाके सतही ज्ञानोंका अभाव नहीं

है, वरन् अपने अस्तित्वके मूलभूत कारणको, उस सत्यको जिसे अभी प्राप्त करना है, भूल जाना है।

और एक तीसरी चीज थी? . . . हां, अपने-आपको सब्जबाग न दिखाते रहना कि अगर हम सच्ची राहका अनुसरण करना चाहते हैं, अगर हम नम्र हैं, अगर हम पवित्रताको खोजते हैं, अगर हम निःस्वार्थ हैं, अगर हम एकांतमें रहना चाहते हैं और शुद्ध विवेक चाहते हैं तो चीजें आसान होंगी . . .। एकदम उलटी बात है! जब हम आंतरिक और बाह्य पूर्णताकी ओर बढ़ने लगते हैं तब उसी समय हमारी मुसीबतें शुरू होती हैं।

मैंने बहुत बार लोगोंको यह कहते सुना है: "ओह! अब जब मैं अच्छा बननेकी कोशिश करता हूं तो ऐसा लगता है कि सब मेरे साथ दुष्टतापूर्ण व्यवहार करते हैं!" लेकिन यह खास तुम्हें यह सिखानेके लिये होता है कि स्वार्थ-भरे उद्देश्यके साथ अच्छा नहीं बनना चाहिये, इसलिये भी अच्छा नहीं बनना चाहिये कि दूसरे तुम्हारे साथ अच्छा व्यवहार करें — अच्छा बननेके लिये अच्छा बनना चाहिये।

हमेशा एक ही पाठ होता है: जितना अच्छा कर सकते हो करते चलो, जितना कर सको, उससे अधिक अच्छा करो; लेकिन परिणामकी आशाके बिना, परिणामके बारेमें सोचे बिना। यह मनोवृत्ति, अपने अच्छे कार्यके लिये पुरस्कारकी आशा करना — अच्छा इसलिये बनना कि हम सोचते हैं कि उससे जीवन अधिक सरल होगा — अच्छे कार्यके मूल्यको घटा देता है।

अच्छाईके प्रेमके कारण अच्छा बनना चाहिये, ईमानदारीके प्रेमके कारण ईमानदार होना चाहिये, पवित्रताके प्रेमके कारण पवित्र होना चाहिये और निःस्वार्थताके प्रेमके कारण निःस्वार्थ होना चाहिये; तब तुम राहपर आगे बढ़ोगे, यह बात निश्चित है।

१३-६-१९५८

१९. धम्मट्ठवग्गो (धर्मिष्ठ)

न तेन होति धम्मट्ठो येनत्थं सहसा नये।
यो च अत्थं अनत्थञ्च उभो निच्छेय्य पण्डितो॥१॥

सहसा जो अर्थ (कामकी वस्तु) को करता है, वह धर्म-

में अवस्थित नहीं कहा जाता। पंडितको चाहिये कि वह अर्थ, अनर्थ दोनोंको विचार (करके) निश्चय करे।

असाहसेन धम्मेन समेन नयती परे।
धम्मस्स गुत्तो मेधावी धम्मट्ठो'ति पवुच्चति ॥२॥

जो मनुष्य विचारपूर्वक समान धर्मसे दूसरोंका पथ-प्रदर्शन करता है और जो धर्मकी रक्षा करता है, वह मेधावी पुरुष धर्मनिष्ठ कहा जाता है।

न तेन पण्डितो होति यावता बहु भासति।
खेमी अवेरी अभयो पण्डितो'ति पवुच्चति ॥३॥

बहुत बोलनेसे पंडित नहीं होता। जो क्षेमवान् अवैरी और अभय होता है, वही पंडित कहा जाता है।

न तावता धम्मधरो यावता बहु भासति।
यो च अप्पम्पि सुत्वान धम्मं कायेन पस्सति।
स वे धम्मधरो होति यो धम्मं नप्पमज्जति ॥४॥

बहुत बोलनेसे धर्मधर (धार्मिक ग्रंथोंका ज्ञाता) नहीं होता; जो थोड़ा भी सुनकर शरीरसे धर्मका आचरण करता है और जो धर्ममें असावधानी (प्रमाद) नहीं करता वही धर्मधर है।

न तेन थेरो होति येन'स्स पलितं सिरो।
परिपक्को वयो तस्स मोघजिण्णो'ति वुच्चति ॥५॥

शिर (बाल) के पकनेसे थेर (=स्थविर, वृद्ध) नहीं होता; उसकी आयु परिपक्व हो गयी (सही), (किंतु) वह व्यर्थका वृद्ध कहा जाता है।

यम्हि सच्चञ्च धम्मो च अहिंसा सञ्ञमो दमो।
स वे वन्तमलो धीरो थेरो'ति पवुच्चति ॥६॥

जिसमें सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम और दम है, वही विगत-मल और धीर और स्थविर कहा जाता है।

न वाक्करणमत्तेन वण्णपोक्खरताय वा।
साधुरूपो नरो होति इस्सुकी मच्छरी सठो ॥७॥

(यदि वह) ईर्ष्यालु, मत्सरी और शठ है, तो, वक्ता होने-मात्रसे, सुन्दर रूप होनेसे आदमी साधु-रूप नहीं होता है।

यस्स चेतं समुच्छिन्नं मूलघच्चं समूहतं।
स वन्तदोसो मेधावी साधुरूपो'ति वुच्चति ॥८॥

जिसके ये (दोष) जड़-मूलसे बिलकुल उच्छिन्न हो गये हैं, जो विगतदोष, मेधावी है, वही साधु-रूप कहा जाता है।

न मुण्डकेन समणो अब्बतो अलिकं भणं।
इच्छालोभसमापन्नो समणो किं भविस्सति ॥९॥

जो व्रतरहित, मिथ्याभाषी है, वह सिर मुंडाने-भरसे श्रमण नहीं होता। इच्छा, लोभसे भरा (पुरुष) क्या श्रमण होगा?

यो च समेति पापानि अणुं थूलानि सब्बसो।
समितत्ता हि पापानं समणो'ति पवुच्चति ॥१०॥

जो छोटे-बड़े पापोंका सर्वथा शमन करनेवाला है, पापके शमित होनेके कारण वह समण (=श्रमण) कहा जाता है।

न तेन भिक्खू (सो) होति यावता भिक्खते परे।
विस्सं धम्मं समादाय भिक्खू होति न तावता ॥११॥

दूसरोंके पास जाकर भिक्षा मांगने मात्रसे भिक्षु नहीं होता; (जो) सारे (बुरे) धर्मों (=कामों) को ग्रहण करता है (वह) भिक्षु नहीं होता।

यो'ध पुञ्ञञ्च पापञ्च बाहित्वा ब्रह्मचरियवा।
सङ्खाय लोके चरति स वे भिक्खू'ति वुच्चति ॥१२॥

जो यहां पुण्य और पापको छोड़ ब्रह्मचारी बन, ज्ञानके साथ लोकमें विचरता है, वह भिक्षु कहा जाता है।

न मोनेन मुनी होति मूळ्हरूपो अविद्दसु।
यो च तुलं'व पग्गय्ह वरमादाय पण्डितो ॥१३॥

अविद्वान् और मूढ़समान (पुरुष, सिर्फ) मौन होनेसे मुनि नहीं होता, जो पंडित तुलाकी भांति पकड़कर (=तोलकर) उत्तम (तत्त्व) को ग्रहण कर,—

पापानि परिवज्जेति स मुनी तेन सो मुनि।
यो मुनाति उभो लोके मुनी तेन पवुच्चति ॥१४॥

—पापोंका परित्याग करता है, वह मुनि है, और उक्त प्रकारसे मुनि होता है। चूंकि वह दोनों लोकोंका मनन करता है, इसलिये वह मुनि कहा जाता है।

न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सब्बपाणानं अरियो'ति पवुच्चति ॥१५॥

प्राणियोंका हनन करनेसे (कोई) आर्य नहीं होता। सभी प्राणियोंकी हिंसा न करनेसे (उसे) आर्य कहा जाता है।

न सीलब्बतमत्तेन बाहुसच्चेन वा पन।
अथवा समाधिलाभेन विविच्चि सयनेन वा ॥१६॥

केवल शील और व्रतसे, बहुश्रुत होने (मात्र) से, या (केवल) समाधि लाभसे, या एकांतमें शयन करनेसे, या—

फुसामि नेक्खम्मसुखं अपुथुज्जनसेवितं।
भिक्खू! विस्सासमापादि अप्पत्तो आसवक्खयं ॥१७॥

"पृथग्जन (= अज्ञ) जिसे नहीं सेवन कर सकते हैं, उस नैष्कर्म्य (= निर्वाण) सुखका मैं अनुभव कर रहा हूं," सोचनेसे (मनुष्य) भिक्षु नहीं कहलाता। हे भिक्षुओ! जबतक आस्रवों (= चित्तमलों) का क्षय न हो जाय तबतक तुम चुप न बैठो।

हम अंतिम श्लोकको देखेंगे। यह है मजेदार। "न नैतिकताके नियमोंसे और व्रतोंसे, न महाज्ञानसे, न ध्यान करनेसे, न एकांत सेवनसे, न सोचनेसे," सच्चा आनंद पाया जाता है बल्कि सब इच्छाओंसे मुक्त होनेसे ही पाया जाता है। सब इच्छाओंसे मुक्त होना निश्चय ही आसान बात नहीं है, कभी-कभी उसमें सारा जीवन ही बीत जाता है। और सच कहा जाय तो यह तरीका अधिक नकारात्मक लगता है, हालांकि विकासकी एक अवस्थामें अनुशासनके रूपमें इसका प्रयोग बहुत उपयोगी होता है, बल्कि अगर हम अपने-आपको धोखा न देना चाहें तो अनिवार्य भी। क्योंकि शुरूआतमें तुम बड़ी इच्छाओंसे मुक्त होनेका प्रयास करते हो, ऐसी इच्छाओं-से जो एकदम स्पष्ट हैं और जो तुम्हें इतना ज्यादा परेशान करती हैं कि तुम्हें उनके बारेमें कोई गलतफहमी नहीं रहती, उनसे मुक्त होनेका प्रयास

करते हो। फिर आती हैं वे अधिक सूक्ष्म इच्छाएं जो ऐसी चीजोंका रूप लेती हैं जिन्हें करना चाहिये, जो आवश्यक हैं, और कभी-कभी अंदरसे आते आदेशका रूप लेती हैं और तब उन्हें खोज पानेके लिये और उनपर विजय प्राप्त करनेके लिये बहुत समय और अधिक सचाईकी जरूरत होती है। अंतमें ऐसा लगता है कि बाह्य वस्तुओंके लिये पार्थिव जगत्‌में, भावों और स्पंदनोंके लिये भावनात्मक जगत्‌में, विचारोंके लिये मानसिक जगत्‌में तुमने इन अभिशप्त इच्छाओंसे पिंड छुड़ा लिया है; किंतु यह देखो, वे तुम्हें फिरसे आध्यात्मिक जगत्‌में आ मिलती हैं और वहां वे बहुत अधिक खतरनाक, अधिक सूक्ष्म, अधिक तीव्र और बहुत अधिक अदृश्य होती हैं और अपने-आपको इतने पवित्र वेशमें ढक लेती हैं कि तुम उन्हें इच्छा कहनेकी हिम्मत नहीं कर पाते।

और जब तुम इन सबपर विजय प्राप्त कर चुकते हो, उन्हें ढूंढ पाते हो, उन्हें उखाड़ पाते हो और उनसे मुक्त हो जाते हो तब भी यही कहा जायगा कि तुमने कार्यका नकारात्मक रूप ही किया है।

बुद्धने कहा है या उनसे कहलवाया गया है कि जब तुम सब इच्छाओंसे मुक्त होते हो तो स्वाभाविक रूपसे ही असीम आनंदमें प्रवेश पा लेते हो। शायद यह परमानंद कुछ रूखा-सूखा है और कम-से-कम मुझे तो राहपर सबसे जल्दी ले जानेवाला मार्ग नहीं लगता।

यदि तुम्हें समस्यासे शुरूमें ही निपटना हो तो साहस और दृढ़तासे कूद पड़ो और इच्छाओंके पीछे लंबी, श्रमसाध्य, कष्टकर और धोखा देनेवाली मृगतृष्णाके पीछे दौड़नेकी जगह, अपने-आपको सरलतासे, पूर्ण रूपसे, बिना शर्त्तके अपने-आपको परम सत्‌को, परम संकल्पको, परम आत्माको दे दो। उत्साहके साथ अपनी सारी सत्ताको और सत्ताके सब भागोंको बिना हिसाब किये भगवान्‌को दे देना, यही अहंसे छूटनेका सबसे छोटा रास्ता और सबसे मौलिक उपाय है। तुम कहोगे कि यह करना मुश्किल है, लेकिन कम-से-कम इसमें ऊष्मा, उमंग, उत्साह, ज्योति, सौंदर्य हैं, इसमें एक उमंग-भरा और सर्जनात्मक जीवन है।

यह बात सच है कि इच्छाके बिना अहंको प्रश्रय देनेके लिये कोई खास चीज नहीं रहती और तुम्हें यह प्रतीति होती है कि चेतना इतनी ज्यादा कंटकाकीर्ण बन जाती है कि अगर अहं मिट्टीमें मिल जाय तो तुम्हारे स्वत्वकी कोई चीज भी मिट्टीमें मिल जाती है, और तुम निर्वाणमें जानेके लिये तैयार हो जाते हो जो विशुद्ध रूपसे और सीधा-साधा विनाश है।

लेकिन हम यहां जिसे सच्चा निर्वाण मानते हैं वह है परम प्रभुकी गरिमामें अहंका अदृश्य होना। और इस उपायको मैं सकारात्मक उपाय

कहती हूं, सर्वांगीण, समग्र, संपूर्ण, बिना कुछ बचाये, बिना व्यापारका आत्म-दान।

इस घटना मात्रसे ही कि तुम अपने विषयमें न सोचकर, केवल अपने लिये न जीकर, केवल अपने लिये कुछ न लाकरके, जो अधिक-से-अधिक सुन्दर है, ज्योतिर्मय है, आनंदमय है, शक्तिमान है, करुणामय है, असीम है, उसके विषयमें सोचते हो; इतना गंभीर आनंद देता है कि उसकी तुलना और किसी भी चीजसे नहीं की जा सकती।

इसी एक चीजका मूल्य है जिसके लिये प्रयत्न किया जाना चाहिये। बाकी सब पैर पटकना है।

एक पहाड़पर धीरे-धीरे, मेहनतसे, कदम-कदम करके, घूम-फिरकर सदियोंमें चढ़ पाने और अदृश्य पंखोंको खोलकर सीधा शिखरतक उड़ जानेमें यही फर्क है।

२०-६-१९५८

२०. मग्गवग्गो (मार्ग)

मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो सच्चानं चतुरो पदा।
विरागो सेट्ठो धम्मानं द्विपदानञ्च चक्खुमा ॥१॥

मार्गोंमें अष्टांग मार्ग श्रेष्ठ है; सत्योंमें चार पद (= चार आर्यसत्य) श्रेष्ठ हैं; धर्मोंमें वैराग्य श्रेष्ठ है; द्विपदों (= मनुष्यों) में चक्षुमान (= ज्ञाननेत्रधारी, बुद्ध) श्रेष्ठ हैं।

एसो'व मग्गो नत्थ'ञ्ञो दस्सनस्स विसुद्धिया।
एतं हि तुम्हे पटिपज्जथ मारस्सेतं पमोहनं ॥२॥

दर्शन (ज्ञान) की विशुद्धिके लिये यही मार्ग है, दूसरा नहीं। (भिक्षुओ,) इसीपर तुम आरूढ़ होओ, यही मारको मूर्छित करनेवाला है।

एतं हि तुम्हे पटिपन्ना दुक्खस्सन्तं करिस्सथ।
अक्खातो वे मया मग्गो अञ्ञाय सल्लसन्थनं ॥३॥

इस (मार्ग) पर आरूढ़ होकर तुम दुःखका अंत कर सकोगे।

(स्वयं) जानकर (राग आदिके विनाशमें) शल्य समान मार्ग-का मैंने उपदेश कर दिया।

तुम्हेहि किच्चं आतप्पं अक्खातारो तथागता।
पटिपन्ना पमोक्खन्ति झायिनो मारबन्धना ॥४॥

कार्यके लिये तुम्हें उद्योग करना है, तथागतों (= बुद्धों)-का कार्य उपदेश कर देना है, (तदनुसार मार्गपर) आरूढ़ हो, ध्यानमें रत (पुरुष) मारके बंधनसे मुक्त हो जायंगे।

सब्बे सङ्खारा अनिच्चा'ति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, ए मग्गो विसुद्धिया ॥५॥

"सभी संस्कृत (= कृत, निर्मित, बनी) चीजें अनित्य हैं" यह जब प्रज्ञासे देखता है, तब सभी दुःखोंसे निर्वेद (= विराग) को प्राप्त होता है। यही मार्ग (चित्त-) शुद्धिका है।

सब्बे सङ्खारा दुक्खा'ति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया ॥६॥

"सभी संस्कृत (चीजें) दुःखमय हैं" यह जब प्रज्ञासे देखता है, तब सभी दुःखोंसे निर्वेद (= विराग) को प्राप्त होता है, यही मार्ग (चित्त-) शुद्धिका है।

सब्बे धम्मा अनत्ता'ति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया ॥८॥

"सभी धर्म (= पदार्थ) बिना आत्माके हैं," यह जब प्रज्ञा-से देखता है, तब सभी दुःखोंसे निर्वेद (= विराग) को प्राप्त होता है। यही मार्ग (चित्त-) शुद्धिका है।

उट्ठानकालम्हि अनुट्ठहानो युवा बली आलसियं उपेतो।
संसन्नो सङ्कप्पमनो कुसीतो पञ्ञाय मग्गं अलसो न विन्दति ॥

जो उट्ठान (= उद्योग) के समय उट्ठान न करनेवाला, युवा और बली होकर (भी) आलस्यसे युक्त होता है, मनके संकल्पोंको जिसने गिरा दिया है, और जो कुसीदी (= दीर्घ-सूत्री) है, वह आलसी (पुरुष) प्रज्ञाके मार्गको नहीं प्राप्त कर सकता।

वाचानुरक्खी मनसा सुसंवुतो कायेन च अकुसलं न कयिरा।
एते तयो कम्मपथे विसोधये आराधये मग्गमिसिप्पवेदितं ॥९॥

वाणीकी रक्षा करनेवाला मनसे संयमी रहे, तथा कायासे पाप न करे, इन (=मन, वचन, काया) तीनों कर्मपथोंकी शुद्धि करे, और ऋषि (बुद्ध) के बतलाये धर्मका सेवन करे।

योगा वे जायती भूरि अयोगा भूरिसङ्खयो।
एतं द्वेधापथं ञत्वा भवाय विभवाय च।
तथ'त्तानं निवेसेय्य यथा भूरि पवड्ढति ॥१०॥

(मनके) योग (=संयोग) से भूरि (=ज्ञान) उत्पन्न होता है, अयोगसे भूरिका क्षय होता है। लाभ और विनाश-के इन दो प्रकारके मार्गोंको जानकर, अपनेको इस प्रकार रखे, ताकि भूरिकी वृद्धि हो।

वनं छिन्दथ मा रुक्खं वनतो जायती भयं।
छेत्वा वनञ्च वनथञ्च निब्बाना होथ भिक्खवो ॥११॥

सारे वनको काटो, केवल वृक्षको नहीं; वनसे भय उत्पन्न होता है। भिक्षुओ! वन और झाड़ीको काटकर निर्वाणको प्राप्त हो जाओ।

यावं हि वनथो न छिज्जति अणुमत्तोपि नरस्स नारिसु।
पटिबद्धमनो नु तावसो वच्छो खीरपको'व मातरि ॥१२॥

जबतक अणुमात्र भी स्त्रीमें पुरुषकी कामना अखंडित रहती है तबतक दूध पीनेवाला बछड़ा जैसे मातामें आबद्ध रहता है, (वैसे ही वह पुरुष बंधा रहता है)।

उच्छिन्द सिनेहमत्तनो कुमुदं सारदिकं'व पाणिना।
सन्तिमग्गमेव ब्रूहय निब्बानं सुगतेन देसितं ॥१३॥

हाथसे शरद् (ऋतु) के कुमुदकी भांति, आत्म-स्नेहको उच्छिन्न कर डालो, सुगत (=बुद्ध) द्वारा उपदिष्ट (इस) शांतिमार्ग निर्वाणका आश्रय लो।

इध वस्सं वसिस्सामि इध हेमन्तगिम्हसु।
इति बालो विचिन्तेति अन्तरायं न बुज्झति ॥१४॥

"यहां वर्षामें बसूंगा, वहां हेमन्त और ग्रीष्ममें (बसूंगा)"
—मूढ़ इस प्रकार सोचता है (और) अंतराय (= विघ्न)
को नहीं बूझता।

तं पुत्तपसुसम्मत्तं ब्यासत्तमनसं नरं।
सुत्तं गामं महोघो'व मच्चू आदाय गच्छति॥१५॥

सोये गांवको जैसे बड़ी बाढ़ (बहा ले जाये), वैसे ही पुत्र और पशुमें लिप्त आसक्त (= चित्त) पुरुषको मौत ले जाती है।

न सन्ति पुत्ता ताणाय न पिता नापि बन्धवा।
अन्तकेनाधिपन्नस्स नत्थि ञातिसु ताणता॥१६॥

पुत्र रक्षा नहीं कर सकता, न पिता, न बंधु लोग हो। जब मृत्यु आ पकड़ती है, तो जातिवाले रक्षक नहीं हो सकते।

एतमत्थवसं ञत्वा पण्डितो सीलसंवुतो।
निब्बाण-गमनं मग्गं खिप्पमेव विसोधये॥१७॥

इस बातको जानकर पंडित (नर) शीलवान होकर निर्वाणकी ओर ले जानेवाले मार्गको शीघ्र ही साफ करे।

लो, कुछ बहुत उपयोगी सलाहें: भाषाका मिताचार और मनका संयम, बुरे कार्योंसे दूर रहना।

यह काफी जोरदार है।

यह कुछ उग्र है लेकिन है बहुत अच्छा: "जबतक पुरुषमें स्त्रियोंके लिये अणुमात्र भी कामना रहती है, जबतक वह मूलसे उखाड़ी नहीं जाती, तब-तक उसका मन मातासे बंधे दूध पीते बछड़ेके समान बंधा रहता है।"

और अंतमें: "हाथसे शरद् (ऋतु) के कुमुदकी भांति, आत्म-स्नेहको उच्छिन्न कर डालो।" यह लो ध्यानके लिये अच्छे विषय।

ये सलाहें उन लोगोंको दी हुई लग रही हैं जो बौद्धिक रूपसे सम्यक् पथको शुरू कर रहे हैं। हम आसानीसे किसानों, सरल दिलवाले व्यक्तियों-की एक सभाकी कल्पना कर सकते हैं जिन्हें यों कहना चाहिये: "ध्यान देकर सुनो, योजनाएं बनानेसे कुछ नहीं होता, क्योंकि तुम स्वयं नहीं जानते कि कल क्या होगा। तुम धन इकट्ठा करते हो और अपने परिवारमें अकड़कर चलते हो और तुम कलके लिये और उसके बादके लिये

योजनाएं बनाते हो। और तुम्हें होश नहीं है कि मौत तुम्हारी ताकमें बैठी है और किसी भी क्षण तुम्हें दबोच लेगी।"

फिर भी, एक जरा आगे बढ़ा हुआ बौद्धिक विकास है जहां इन बातोंको कहनेकी आवश्यकता नहीं होती — आवश्यकता होती है जीनेकी! अगर हम विश्वके साथ प्रगति करना चाहें और सनातन लयके अनुसार विकास करना चाहें तो ऐसी चेतनाके साथ जीनेकी आवश्यकता होती है कि चीजें अनित्य हैं, उनमें आसक्त न होना चाहिये। हम यह बात समझते हैं। लेकिन महत्त्वपूर्ण है उसे व्यवहारमें लाना। यहां हमें ऐसा आभास होता है कि ये बातें उन लोगोंसे कही जा रही हैं जिन्होंने पहले कभी इस विषयमें सोचा ही नहीं, इसलिये शब्दोंमें क्रियाशीलता शक्तिकी सामर्थ्य है।

सब कुछ होते हुए, जो दीखता है उसके बावजूद, मानव जाति प्रगति कर रही है; खासकर मानसिक क्षेत्रमें उसने प्रगति की है। ऐसी बातें हैं जिन्हें अब कहनेकी जरूरत नहीं रही ...। या फिर ऐसे देशोंमें जाना चाहिये जो बहुत ही आदिम अवस्थामें हैं, फिर भी ... विचार सब जगह फैले हैं, मानसिक प्रकाश हर जगह फैला हुआ है, अप्रत्याशित स्थानोंपर भी हम ग्रहणशीलता और समझदारी पाते हैं।

सचमुच हमें यह आभास होता है कि पिछली शताब्दीमें धरतीपर एक नयी ज्योति फैल गयी है और उसके कारण कुछ विचार जो विचार-शक्तियां थे, नये विचार जो चेतनामें खलबली मचानेकी सामर्थ्य रखते थे, अब अपनी वास्तविकता खो बैठे हैं, वे बूढ़े हो गये हैं। एक नयी ज्योति कार्यरत है।

व्यावहारिक रूपमें, कोई बहुत बड़ी प्रगति नहीं हुई है, कई बातोंमें शायद पीछे भी हटे हैं; लेकिन मनोभावमें, समझमें, वस्तुओंके बौद्धिक दर्शनमें सचमुच बड़ा फर्क आ गया है।

ऐसा लगता है कि हम राहपर तेजीसे चल रहे हैं और जिन चीजोंका अत्यधिक महत्त्व था वे नयी खोजोंके सामने प्रायः सामान्य चीजें बन गयी हैं। यह कि जीवन जैसा है खराब है, कि हर जगह अव्यवस्था है, हर जगह दुःख है, हर जगह खलबली है, हर जगह विशृंखलता है, हर जगह अज्ञान है — हम सब कुछ जानते हैं, नहीं? यह कैसी घिसी-पिटी बात लगती है।

किंतु समग्र सिद्धिकी राहसे, संपूर्ण रूपांतरद्वारा इसमेंसे निकला जा सकता है, एक नयी ज्योतिके द्वारा निकला जा सकता है जो चीजोंमें व्यवस्था और सामंजस्य लायेगी : यह एक आशाका संदेश है जिसे लाना

चाहिये। यह वही है जो सच्चा है और क्रियाशील है। यह एक नया जीवन है जिसे गढ़ना है।

और तब सब मुश्किलें जो इतनी अजेय लगती थीं—ओ! अपने-आप ही ढह जायंगी।

जब तुम ज्योति और आनंदमें जी सकते हो तो क्या छाया और दुःखसे चिपके रहोगे?

२७-६-१९५८

२१. पकिण्णकवग्गो (प्रकीर्ण)

मत्तासुखपरिच्चागा पस्से चे विपुलं सुखं।
चजे मत्तासुखं धीरो सम्पस्सं विपुलं सुखं ॥१॥

थोड़े-से सुखके परित्यागसे यदि बुद्धिमान् विपुल सुख (का लाभ) देखे, तो विपुल सुखका ख्याल करके थोड़े-से सुखको छोड़ दे।

परदुक्खूपदानेन यो अत्तनो सुखमिच्छति।
वेरसंसग्गसंसट्ठो वेरा सो न पमुच्चति ॥२॥

दूसरेको दुःख देकर जो अपने लिये सुख चाहता है, बैरके संसर्गमें पकड़कर वह बैरसे नहीं छूटता।

यं हि किच्चं तदपविद्धं अकिच्चं पन कयिरति।
उन्नलानं पमत्तानं तेसं वड्ढन्ति आसवा ॥३॥

जो कर्त्तव्य है, उसे (तो वह) छोड़ता है, जो अकर्तव्य है उसे करता है। ऐसे बढ़े मलवाले प्रमादियोंके आस्रव (=चित्तमल) बढ़ते हैं।

येसञ्च सुसमारद्धा निच्चं कायगता सति।
अकिच्चन्ते न सेवन्ति किच्चे सातच्चकारिनो।
सतानं सम्पजानानं अत्थं गच्छन्ति आसवा ॥४॥

जिनकी कायामें (क्षणभंगुरता, मलिनता आदि दोष-संबंधी) स्मृति तैयार रहती है, वह अकर्तव्यको नहीं करते, और कर्तव्यके निरंतर करनेवाले होते हैं। जो स्मृति और सम्प्रजन्य (= सचेतनपन) को रखनेवाले होते हैं, उनके आस्रव अस्त हो जाते हैं।

मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च खत्तिये।
रट्ठं सानुचरं हन्त्वा अनिघो याति ब्राह्मणो ॥५॥

माता (= तृष्णा), पिता (= अहंकार), दो क्षत्रिय राजाओं [= (१) आत्मा, ब्रह्म, प्रकृति आदिकी नित्यताका सिद्धांत, (२) मरणांत जीवन मानना या जड़वाद], अनुचर (= राग) सहित राष्ट्र (= रूप, विज्ञान आदि संसारके उपादान पदार्थ) को मारकर ब्राह्मण (= ज्ञानी), निष्पाप होता है।

मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च सोत्थिये।
वेय्यग्घपञ्चमं हन्त्वा अनिघो याति ब्राह्मणो ॥६॥

माता-पिता, दो श्रोत्रिय राजाओं [= (१) नित्यतावाद, (२) जड़वाद], और पांचवें व्याघ्र (= पांच ज्ञानके आवरणों) को मारकर ब्राह्मण निष्पाप हो जाता है।

सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं बुद्धगता सति ॥७॥

जिनकी दिन-रात बुद्ध-विषयक स्मृति बनी रहती है, वह गौतम (बुद्ध) के शिष्य खूब जागरूक रहते हैं।

सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं धम्मगता सति ॥८॥

जिनकी रात-दिन धर्म-विषयक स्मृति बनी रहती है, वह गौतमके शिष्य खूब जागरूक रहते हैं।

सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं सङ्घगता सति ॥९॥

जिनकी दिन-रात संघ-विषयक स्मृति बनी रहती है, वह गौतमके शिष्य खूब जागरूक रहते हैं।

सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं कायगता सति ॥१०॥

जिनकी दिन-रात काय-विषयक स्मृति बनी रहती है, वह गौतमके शिष्य खूब जागरूक रहते हैं।

सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च अहिंसाय रतो मनो ॥११॥

जिनका मन दिन-रात अहिंसामें रत रहता है, वह गौतमके शिष्य खूब जागरूक रहते हैं।

सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च भावनाय रतो मनो ॥१२॥

जिनका मन दिन-रात भावना (= चिंता) में रत रहता है, वह गौतमके शिष्य खूब जागरूक रहते हैं।

दुप्पब्बज्जं दुरभिरमं दुरावासा घरा दुखा।
दुक्खो'समानसंवासो दुक्खानुपतितद्धगू।
तस्मा न च अद्धगू सिया न च दुक्खानुपतितो सिया ॥१३॥

कष्टपूर्ण प्रव्रज्या (= संन्यास) में रत होना दुष्कर है, न रहने योग्य घर दुःखद है, अपमानके साथ बसना दुःखद है, मार्गका बटोही होना दुःखद है इसलिये, मार्गका बटोही न बने, न दुःखमें पतित हो।

सद्धो सीलेन सम्पन्नो यसोभोगसमप्पितो।
यं यं पदेसं भजति तत्थ तत्थेव पूजितो ॥१४॥

श्रद्धावान्, शीलवान्, यश और भोगसे युक्त (पुरुष) जिस-जिस स्थानमें जाता है वहीं-वहीं पूजित होता है।

दूरे सन्तो पकासेन्ति हिमवन्तो'व पब्बता।
असन्तेत्थ न दिस्सन्ति रत्तिखित्ता यथा सरा ॥१५॥

सन्त (जन) दूर होनेपर भी हिमालय पर्वत (की) धवल चोटियोंकी भांति प्रकाशित है और असंत यहां (पासमें) भी होनेपर रातमें फेंके बाणकी भांति नहीं दिखलायी देते।

एकासनं एकसेय्यं एकोचरमतन्द्रितो।
एको दमयमत्तानं वनन्ते रमितो सिया॥१६॥

एक ही आसन रखनेवाला, एक शैया रखनेवाला, अकेला विचरनेवाला आलस्यरहित होकर अपनेको दमन कर अकेला ही वनांतमें रमण करे।

अपने-आपको धोखा नहीं देना चाहिये। क्योंकि मैं सोचती हूं कि ये ठोस तथ्योंकी अपेक्षा बिंब अधिक हैं, क्योंकि यह निश्चित बात है कि अकेला, खाना, अकेला सोना, अकेला चलना और जंगलमें अकेला रहना ही आत्माकी मुक्ति देनेके लिये पर्याप्त नहीं है।

हमने यह सत्य स्थापित किया है कि जो लोग जंगलमें जाकर अकेले रहते हैं उनमेंसे अधिकतर उन सब प्राणियों और उन सब पौधोंके मित्र बन जाते हैं, जो उनके आस-पास होते हैं; पर यह यथार्थमें वह एकाकीपन नहीं है जो तुम्हें आंतरिक ध्यानमें प्रवेश करनेकी और परम सत्यके साथ तादात्म्यमें जीनेकी शक्ति देता है। शायद यह अधिक आसान होता हो जब परिस्थितियोंके दबावके कारण तुम्हारे पास करनेके लिये कुछ भी न हो, लेकिन मुझे यकीन नहीं है। व्यक्ति हमेशा कुछ-न-कुछ काम खोज निकालेगा। जीवनके अपने अनुभवके अनुसार मुझे लगता है कि भागवत करुणाने हमें जो परिस्थितियां दी हैं उन्हें रखते हुए अगर हम मुसीबतोंके बीच अपने स्वभावके ऊपर प्रभुत्व पा सकें, अगर सनातन उपस्थितिके साथ आंतरिक रूपसे एकाकी रहनेका प्रयत्न करें तो हमें जो सिद्धि प्राप्त होगी वह अत्यधिक सच्ची, गभीर और स्थायी होगी।

मुसीबतोंको जीतनेके लिये उनसे भागना कोई हल नहीं है। यह बड़ा लुभावना है। जो आध्यात्मिक जीवनकी खोजमें हैं उनमें कोई चीज होती है जो कहती है: "ओह! एकदम अकेले किसी पेड़के नीचे जा बैठना, ध्यानमग्न रहना, बोलने या कुछ करनेके प्रलोभनमें न पड़ना, यह कितना अच्छा होगा!" क्योंकि इस भावकी एक बहुत मजबूत रचना है, लेकिन वह है बहुत अधिक भ्रांतिपूर्ण।

सबसे अच्छे ध्यान वे होते हैं जो तुम हठात् करते हो, क्योंकि वे तुमपर अनिवार्य आवश्यकताकी तरह हावी हो जाते हैं। तुम अपने-आपको एकाग्र किये बिना, ध्यान किये बिना, बाहरी रंग-रूपके परे देखे बिना नहीं रह सकते। और यह आवश्यक नहीं है कि यह ध्यान जंगलके एकांतमें ही तुम्हें पकड़े, यह तब आता है जब तुम्हारे अंदर कोई चीज तैयार

हो, जब वह समय आ जाय, जब सच्ची आवश्यकता हो, जब भागवत करुणा तुम्हारे साथ हो।

मेरी समझमें, मानवजातिने प्रगति की है और सच्ची विजय वह है जिसे वह जीवनमें प्राप्त कर सके।

सब परिस्थितियोंके बीच 'शाश्वत' और 'असीम'के साथ कैसे अकेले रहा जाय यह जानना चाहिये। सभी व्यस्तताओंके बीच परमेश्वरको साथीके रूपमें रखकर स्वतंत्र रहना जानना चाहिये। यही सच्ची विजय है।

१४-७-१९५८

२२. निरयवग्गो (नरक)

अभूतवादी निरयं उपेति यो वापि।
कत्वा 'न करोमी' ति चाह।
उभोपि ते पेच्च समा भवन्ति
निहीनकम्मा मनुजा परत्थ ॥१॥

असत्यवादी नरकमें जाते हैं और वह भी जो (पाप) करके "नहीं किया" — कहते हैं। दोनों ही प्रकारके नीच कर्म करनेवाले मनुष्य मरकर समान होते हैं।

कासावकण्ठा बहवो पापधम्मा असञ्ञता।
पापा पापेहि कम्मेहि निरयन्ते उप्पज्जरे ॥२॥

कंठमें काषाय (वस्त्र) डाले कितने ही पापी असंयमी हैं, जो पापी (अपने) पाप-कर्मोंसे नरकमें उत्पन्न होते हैं।

सेय्यो अयोगुलो भुत्तो तत्तो अग्गिसिखूपमो।
यञ्चे भुञ्जेय्य दुस्सीलो रट्ठपिण्डं असञ्ञतो ॥३॥

असंयमी दुराचारीके लिये राष्ट्रका पिंड (= देशका अन्न) खानेकी अपेक्षा अग्निशिखाके समान तप्त लोहेका गोला खाना उत्तम है।

चत्तारि ठानानि नरो पमत्तो आपज्जती परदारूपसेवी।
अपुञ्ञलाभं न निकामसेय्यं निन्दं ततीयं निरयं चतुत्थं ॥४॥

प्रमादी परस्त्रीगामी मनुष्यकी चार गतियां हैं — (१) अपुण्य-का लाभ, (२) सुखसे न सोना, (३) निंदा, और (४) नरक।

अपुञ्ञलाभो च गती च पापिका
भीतस्स भीताय रती च थोकिका।
राजा च दण्डं गुरुकं पणेति
तस्मा नरो परदारं न सेवे ॥५॥

(अथवा परस्त्रीगमन करनेवालेकी चार गतियां हैं): (१) अपुण्य-लाभ, (२) बुरी गति, (३) भयभीत (पुरुष) की भयभीत (स्त्री) से अत्यल्प रति, और (४) राजाका भारी दंड देना। इसलिये मनुष्यको परस्त्रीगमन न करना चाहिये।

कुसो यथा दुग्गहीतो हत्थमेवानुकन्तति।
सामञ्ञं दुप्परामट्ठं निरयायु उपकड्ढति ॥६॥

जैसे ठीकसे न पकड़नेसे कुश हाथको ही छेदता है, (इसी प्रकार) श्रमणपन (= संन्यास) ठीकसे ग्रहण न करनेपर नरक-में ले जाता है।

यं किञ्चि सिथिलं कम्मं सङ्किलिट्ठं च यं वतं।
सङ्कस्सरं ब्रह्मचरियं न तं होति महप्फलं ॥७॥

जो कर्म शिथिल है, जो व्रत क्लेश (= मल)-युक्त है और जो ब्रह्मचर्य अशुद्ध है, वह महाफल (-दायक) नहीं होता।

कयिरञ्चे कयिराथेनं दळ्हमेनं परक्कमे।
सिथिलो हि परिब्बाजो भिय्यो आकिरते रजं ॥८॥

यदि (प्रव्रज्या कर्म) करना है, तो (मनुष्य) उसे करे, उस-में दृढ़ पराक्रमके साथ लग जाय; ढीला-ढाला परिव्राजक (= संन्यासी) अधिक मल बिखेरता है।

अकतं दुक्कतं सेय्यो पच्छा तपति दुक्कतं।
कतञ्च सुकतं सेय्यो यं कत्वा नानुतप्पति ॥९॥

दुष्कृत (= पाप) का न करना श्रेष्ठ है, दुष्कृत करनेवाला पीछे अनुपात करता है : सुकृतका करना श्रेष्ठ है जिसे करके (मनुष्य) अनुताप नहीं करता।

नगरं यथा पच्चन्तं गुत्तं सन्तरबाहिरं।
एवं गोपेथ अत्तानं खणो वे मा उपच्चगा।
खणातीता हि सोचन्ति निरयम्हि समप्पिता ॥१०॥

जैसे सीमांतका नगर भीतर-बाहरसे खूब रक्षित होता है, इसी प्रकार (मनुष्य) अपनेको रक्षित रखे, क्षण-भर भी न छोड़े, क्षण चूक जानेपर नरकमें पड़कर शोक करना पड़ता है।

अलज्जिता ये लज्जन्ति लज्जिता ये न लज्जरे।
मिच्छादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ॥११॥

अलज्जा (के काम) में जो लज्जा करते हैं और लज्जा (-के काम) में जो लज्जा नहीं करते, वह झूठी धारणावाले प्राणी दुर्गतिको प्राप्त होते हैं।

अभये च भयदस्सिनो भये च अभयदस्सिनो।
मिच्छादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ॥१२॥

भयरहित (काम) में जो भय देखते हैं और भय (-के काम)-में भयको नहीं देखते, वह झूठी धारणावाले प्राणी दुर्गतिको प्राप्त होते हैं।

अवज्जे वज्जमतिनो वज्जे चावज्जदस्सिनो।
मिच्छादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ॥१३॥

जो अदोषमें दोषबुद्धि रखनेवाले हैं (और) दोषमें अदोष-दृष्टि रखनेवाले, वह झूठी धारणावाले प्राणी दुर्गतिको प्राप्त होते हैं।

वज्जञ्च वज्जतो ञत्वा अवज्जञ्च अवज्जतो।
सम्मादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति सुग्गतिं ॥१४॥

दोषको दोष जानकर और अदोषको अदोष जानकर, ठीक धारणावाले प्राणी सुगतिको प्राप्त होते हैं।

जैसा कि ऐसी सब शिक्षाओंमें होता है, इसे भी समझनेके कई तरीके हैं। ऊपरी तरीका काफी घिसा-पिटा है। सभी नैतिक सिद्धांतोंमें एक ही बात कही जाती है। उदाहरणके लिये, यह "निरय" जिसे कुछ लोग एक तरह-का नरक मानते हैं जहां मनुष्य अपने पापोंके लिये दंड पाता है, उसका एक और अर्थ भी है। निरयका सच्चा अर्थ है वह विशेष वातावरण जिसे हम अपने चारों ओर उस समय तैयार करते हैं जब हम बाहरी नैतिक नियमों या सामाजिक सिद्धांतोंके विपरीत नहीं, बल्कि अपनी सत्ताके आंतरिक विधानके विपरीत कार्य करते हैं; उस विशेष सत्यके विपरीत जिसे हमारी चेतनाकी सब क्रियाओं और हमारे शरीरके सब कार्योंको संचालित करना चाहिये। आंतरिक विधान, सत्ताका सत्य है प्रत्येक मनुष्यमें विद्यमान भागवत उपस्थिति, उसे ही हमारे जीवनका स्वामी तथा पथ-प्रदर्शक होना चाहिये।

जब हम इस आंतरिक विधानको सुननेकी आदत डालते हैं, उसकी आज्ञाका पालन करते हैं, उसका अनुसरण करते हैं, यह कोशिश करते हैं कि वह हमारे जीवनका अधिकाधिक पथ-प्रदर्शन करे, तो हम अपने चारों ओर सत्यका, शांतिका, सामंजस्यका वातावरण पैदा कर लेते हैं, जो-स्वाभाविक रूपसे परिस्थितियोंपर प्रतिक्रिया करता है, और यूं कहें कि हम जिस वातावरणमें रहते हैं उसका सर्जन करते हैं। जब हम न्यायपरता, सत्य, सामंजस्य, करुणा, समझदारी, संपूर्ण सद्भावनाकी सत्ता बन जाते हैं तो यह आंतरिक मनोभाव जितना सत्यनिष्ठ और संपूर्ण होगा उतना ही अधिक बाहरी परिस्थितियोंपर प्रतिक्रिया करेगा — यह जरूरी नहीं है कि वह जीवनकी कठिनाइयोंको कम करे, लेकिन वह कठिनाइयोंको एक नया अर्थ दे देता है और जिसके कारण तुम उनका सामना एक नयी शक्ति और नये ज्ञानसे करते हो। जब कि मनुष्य, वह मनुष्य जो अपने आवेगों-का अनुसरण करता है, जो कामनाओंकी आज्ञा मानता है, जिसे धर्म-शंका बहुत कम परेशान करती है, जो पूर्ण कटुतामें जीना शुरू करता है, जो अपने जीवनका दूसरोंके ऊपर जो प्रभाव हो सकता है और अपने कार्योंके कम-ज्यादा अशुभ परिणामोंका मजाक उड़ाता है, ऐसा व्यक्ति एक कुरूपता-का, स्वार्थपरताका, संघर्षका, दुर्भावनाका वातावरण उत्पन्न करता है जो स्वाभाविक रूपसे उसकी चेतनापर अधिकाधिक कार्य करने लगता है और उसके अस्तित्वमें एक कटुता भर देता है, आखिर जीवन एक अविरत यातना बन जाता है।

यह मानी हुई बात है कि इसका यह अर्थ नहीं है कि ऐसा आदमी जो कुछ आरंभ करेगा उसमें सफल न होगा, कि वह जो चाहेगा उसे प्राप्त न कर

सकेगा। ये बाहरी लाभ अदृश्य न होंगे, बशर्ते कि सत्ताकी गहराईमें सचाईकी एक चिंगारी बनी रहे जो उसे दुर्भाग्यके योग्य बनाये।

अगर तुम किसी बुरे आदमीको अभागा और दुःखी होते देखो तो तुम्हें तुरंत उसका आदर करना चाहिये। इसका अर्थ यह हुआ कि आंतरिक सचाईकी लौ पूरी तरह बुझी नहीं है और कोई चीज उसके बुरे कर्मोंपर अब भी प्रतिक्रिया करती है।

अंतमें, यह हमें उस घोषणातक ले जाता है कि हमें कभी, कभी भी बाहरी दिखावेके आधारपर मूल्यांकन न करना चाहिये और बाहरी परिस्थितियोंके आधारपर लिये गये निर्णय और मूल्यांकन हमेशा स्वाभाविक रूपसे गलत होंगे।

सत्यकी झांकी पानेके लिये अपनी चेतनामें कम-से-कम एक कदम पीछे हटना चाहिये, अपनी सत्तामें कुछ गभीरताके साथ प्रवेश करना चाहिये, और बाहरी दिखावोंके पीछे शक्तियोंकी लीलाको देखनेका प्रयास करना चाहिये, और शक्तियोंकी लीलाके पीछे दिव्य उपस्थितिको देखनेका प्रयास करना चाहिये।

२५-७-१९५८

२३. नागवग्गो (हाथी)

अहं नागो'व सङ्गामे चापतो पतितं सरं।
अतिवाक्यं तितिक्खिस्सं दुस्सीलो हि बहुज्जनो ॥१॥

जैसे युद्धमें हाथी धनुषसे गिरे शरको (सहन करता है) वैसे ही मैं कटुवाक्योंको सहन कर लूंगा। (संसारमें तो) दुःशील आदमी ही अधिक हैं।

दन्तं नयन्ति समितिं दन्तं राजाभिरूहति।
दन्तो सेट्ठो मनुस्सेसु यो'तिवाक्यं तितिक्खति ॥२॥

दान्त (= दमन किये हुए, शिक्षित हाथी) को युद्धमें ले जाते हैं तो दान्तपर राजा चढ़ता है, मनुष्योंमें भी दान्त (= सहनशील) श्रेष्ठ है, जो कटु वाक्योंको सहन करता है।

वरं अस्सतरा दन्ता आजानीया च सिन्धवा।
कुञ्जरा च महानागा अत्तदन्तो ततो वरं ॥३॥

खच्चर उत्तम खेतके सिन्धी घोड़े, और महानाग हाथी दान्त (= शिक्षित) होनेपर श्रेष्ठ हैं और अपना दमन करनेवाला (पुरुष) उनसे भी श्रेष्ठ है।

नहि एतेहि यानेहि गच्छेय्य अगतं दिसं।
यथाऽत्तना सुदन्तेन दन्तो दन्तेन गच्छति ॥४॥

इन (= हाथी, घोड़े, आदि) यानोंसे, बिना गई दिशावाले (निर्वाणकी ओर) नहीं जाया जा सकता; संयमी पुरुष संयम कर, संयत (इंद्रियों) के साथ (वहां) पहुंच सकता है।

धनपालको नाम कुञ्जरो कटकप्पभेदनो दुन्निवारयो।
बद्धो कबलं न भुञ्जति सुमरति नागवनस्स कुञ्जरो ॥५॥

सेनाको तितर-बितर करनेवाला, दुर्धर्ष धनपालक नामक हाथी, (आज) बंधनमें पड़ जानेपर कवल खाता नहीं, और (अपने) हाथियोंके जंगलको स्मरण करता है।

मिद्धी यदा होति महग्घसो च निद्दायिता सम्परिवत्तसायी।
महावराहो'व निवापपुट्ठो पुनप्पुनं गब्भमुपेति मन्दो ॥६॥

जो (पुरुष) आलसी, बहुत खानेवाला, निद्रालु, करवट बदल-बदलकर सोनेवाला तथा दाना देकर पले मोटे सुअरकी भांति होता है, वह मंद बार-बार गर्भमें पड़ता है।

इदं पुरे चित्तमचारि चारिकं
येनिच्छकं यत्थकामं यथासुखं।
तदज्ज'हं निग्गहेस्सामि योनिसो
हत्थिप्पभिन्नं विय अङ्कुसग्गहो ॥७॥

यह (मेरा) चित्त पहले यथेच्छ (= यथाकाम) जैसे सुख मालूम हुआ वैसे विचरनेवाला था; सो आज महावत जैसे मतवाले हाथीको (पकड़ता है, वैसे) मैं उसे जड़से पकड़ूंगा।

अप्पमादरता होथ स-चित्तमनुरक्खथ।

दुग्गा उद्धरथ'त्तानं पङ्के सत्तो'व कुञ्जरो ॥८॥

अप्रमाद (= सावधानता) में रत होओ, अपने मनकी रक्षा करो, पंक (= राग आदि) में फंसे हाथीकी तरह अपनेको ऊपर निकालो।

स चे लभेथ निपकं सहायं सद्धिं चरं साधुविहारि धीरं।
अभिभुय्य सब्बानि परिस्सयानि चरेय्य तेन'त्तमनो सतीमा ॥९॥

यदि परिपक्व (बुद्धि), बुद्धिमान्, साथमें विहरनेवाला (शिष्य) सहचर मित्र मिले तो सभी परिश्रयों (= विघ्नों) को हटाकर सचेत प्रसन्नचित्त हो उसके साथ विहार करे।

नो चे लभेथ निपकं सहायं
सद्धिं चरं साधुविहारि धीरं।
राजा'व रट्ठं विजितं पहाय
एको चरे मातङ्ग'रञ्ञेव नागो ॥१०॥

यदि परिपक्व, बुद्धिमान् साथमें विहरनेवाला सहचर मित्र न मिले तो, राजाकी भांति पराजित राष्ट्रको छोड़ गजराज हाथीकी तरह अकेला विचरे।

एकस्स चरितं सेय्यो नत्थि बाले सहायिता।
एको चरे च पापानि कयिरा
अप्पोस्सुक्को मातङ्ग'रञ्ञे'व नागो ॥ ११॥

अकेला विचरना उत्तम है, किंतु मूढ़की मित्रता अच्छी नहीं। मातंगराज हाथीकी तरह अनासक्त हो अकेला विचरे और पाप न करे।

अत्थम्हि जातम्हि सुखा सहाया
तुट्ठी सुखा या इतरीतरेन।
पुञ्ञं सुखं जीवितसंखयम्हि
सब्बस्स दुक्खस्स सुखं पहाणं ॥१२॥

काम पड़नेपर मित्र सुखद (लगते हैं), परस्पर संतोष सुखद (वस्तु) हैं, जीवनके क्षय होनेपर (किया हुआ) पुण्य सुखद (होता है), सारे दुःखोंका विनाश (= अर्हत् होना) (यह सबसे अधिक) सुखद है।

सुखा मत्तेय्यता लोके अथो पेत्तेय्यता सुखा।
सुखा सामञ्ञता लोके अथो ब्रह्मञ्ञता सुखा ॥१३॥

लोकमें माताकी सेवा सुखकर है, और पिताकी सेवा (भी) सुखकर है, श्रमणभाव (= संन्यास) लोकमें सुखकर है औ ब्राह्मणपन (= निष्पाप होना) सुखकर है।

*

सुखं याव जरा सीलं सुखा सद्धा पतिट्ठिता।
सुखो पञ्ञाय पटिलाभो पापानं अकरणं सुखं ॥१४॥

बुढ़ापेतक आचारका पालन करना सुखकर है और स्थिर श्रद्धा (=सत्यमें विश्वास) सुखकर है, प्रज्ञाका लाभ सुखकर है और पापोंका न करना सुखकर है।

पहला पद एक बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण सलाह है: युद्धमें अच्छी तरह प्रशिक्षित हाथी जैसे ही उसे एक तीर लगता है, भागने नहीं लगता। वह आगे बढ़ता रहता है और अपने वीरता-भरे प्रतिरोधके मनोभावको बदले बिना दुःख सहता रहता है। जो सत्य-मार्गका अनुसरण करना चाहते हैं वे साधारणतया सब दुर्भावनाओंके आक्रमणके पात्र होंगे, जो न केवल समझते ही नहीं, बल्कि जो कुछ नहीं समझते उससे आमतौरपर नफरत भी करते हैं।

अगर दुर्भावनावाले तुम्हारे बारेमें बेहूदा बातें करें और तुम उनसे ऊब जाओ, दुःखी हो जाओ या निराश हो जाओ तो तुम मार्गपर बहुत आगे न बढ़ पाओगे। और जब ये चीजें तुम्हारे पास आती हैं तो इसलिये नहीं कि तुम अभागे हो या तुम्हारा भाग्य सुखमय नहीं है; बल्कि, इसके विपरीत, इसलिये कि दिव्य चेतना और दिव्य करुणा तुम्हारे निश्चयको गंभीरतासे देख लेती है और परिस्थितियोंको रास्तेके रोड़े बनने देती है, यह देखनेके लिये कि क्या तुम्हारा निश्चय सच्चा है और क्या तुम मुसीबतोंका सामना करनेके लिये काफी मजबूत हो।

इसलिये, अगर कोई तुम्हारा मजाक उड़ाये या कुछ ऐसी बात कहे जो बहुत सद्भावनापूर्ण न हो तो करनेलायक सबसे पहली चीज यह है कि अपने अंदर देखो कि कौन-सी ऐसी दुर्बलता या अपूर्णता है जिसने इस तरहकी वस्तुको आने दिया। तुम जिसे अपना उचित मूल्य समझते हो लोग उसकी प्रशंसा नहीं करते — इससे निराश न होओ, क्रोध न करो, दुःखी मत होओ। इसके बदले तुम दिव्य करुणाका आभार मानो कि उसने तुम्हारी उस दुर्बलता या अपूर्णता या विकृतिपर उंगली रख दी है जिसे तुम्हें ठीक करना है।

इस तरह, दुःखी होनेकी जगह, तुम पूर्ण रूपसे संतुष्ट हो सकते हो और

लोग तुम्हें जो हानि पहुंचाना चाहते थे उसके स्थानपर लाभ, एक बड़ा लाभ उठा सकते हो।

इसके अतिरिक्त, यदि तुम सचमुच मार्गका अनुसरण करना चाहते हो और योग करना चाहते हो तो वह इसलिये नहीं करना चाहिये कि लोग तुम्हारी प्रशंसा करें और तुम्हें सम्मान दें, बल्कि इसलिये कि वह तुम्हारी सत्ताकी सर्वप्रथम आवश्यकता है और उसके बिना तुम सुखी नहीं रह सकते। लोग तुम्हारी प्रशंसा करते हैं या नहीं करते, इसका किसी तरहका कोई महत्त्व नहीं है। तुम शुरूसे ही अपने-आपसे कह सकते हो कि तुम सामान्य मनुष्यसे जितने दूर जाओगे, सामान्य होनेके ढंगसे अपरिचित होओगे, एकदम स्वाभाविक रूपसे उतनी ही तुम्हारी प्रशंसा कम होगी, क्योंकि लोग तुम्हें समझ न पायेंगे। और मैं फिर दोहराती हूं, उसका किसी तरहका कोई महत्त्व नहीं है।

सच्ची सचाई है राहपर आगे बढ़ते जाना, क्योंकि तुम उसके अतिरिक्त कुछ कर ही नहीं सकते; अपने-आपको दिव्य जीवनके लिये समर्पित करना, क्योंकि उसके अतिरिक्त तुम और कुछ कर ही नहीं सकते; सच्ची सचाई है अपनी सत्ताको परिवर्तित करनेका प्रयत्न करना और प्रकाशकी ओर उठना, क्योंकि उसके अतिरिक्त तुम और कुछ कर ही नहीं सकते, क्योंकि वही तुम्हारे जीवनका एकमात्र उद्देश्य है।

जब हालत ऐसी हो तब तुम निश्चित हो सकते हो कि तुम ठीक राहपर हो।

१-८-१९५८

२४. तण्हावग्गो (तृष्णा)

मनुजस्स पमत्तचारिनो तण्हा वड्ढति मालुवा विय।
सो पलवती हुराहुरं फलमिच्छं'व वनस्मि वानरो ॥१॥

प्रमत्त होकर आचरण करनेवाले मनुष्यकी तृष्णा मालुवा (लता) की भांति बढ़ती है। वह वनमें बानरकी भांति फल-की इच्छा करते हुए दिनोंदिन भटकता रहता है।

यं एसा सहती जम्मि तण्हा लोके विसत्तिका।
सोका तस्स पवड्ढन्ति अभिवड्ढं'व वीरणं ॥२॥

यह (बराबर) जनमती रहनेवाली विष-रूपी तृष्णा जिसको पकड़ती है, वर्द्धनशील वीरण (= चटाई बनानेका एक तृण) की भांति उसके शोक बढ़ते हैं।

यो चेतं सहती जम्मिं तण्हं लोके दुरच्चयं।
सोका तम्हा पपतन्ति उदबिन्दू'व पोक्खरा॥३॥

इस बराबर जनमती रहनेवाली, दुस्त्याज्य तृष्णाको जो लोक-में परास्त करता है, उससे शोक (वैसे ही) गिर जाते हैं जैसे कमल (-पत्र) से जलका बिंदु।

तं वो वदामि भद्दं वो यावन्तेत्थ समागता।
तण्हाय मूलं खणथ उसीरत्थो'व बीरणं॥४॥

इसलिये तुम्हें कहता हूं, जितने यहां आये हो: तुम्हारा सबका मंगल हो; जैसे खसके लिये लोग उषीरको खोदते हैं, वैसे ही तुम तृष्णाकी जड़को खोदो।

यथापि मूले अनुपद्दवे दळ्हे छिन्नोपि रुक्खो पुनरेव रूहति।
एवम्पि तण्हानुसये अनूहते निब्बत्तति दुक्खमिदं पुनप्पुनं॥५॥

जैसे जड़के दृढ़ और न कटी होनेपर कटा हुआ भी वृक्ष फिर उग आता है, इसी प्रकार तृष्णा-रूपी अनुशय (= मल) के न नष्ट होनेपर, यह दुःख बार-बार पैदा होता है।

यस्स छत्तिंसती सोता मनापस्सवना भुसा।
वाहा वहन्ति दुद्दिट्ठिं सङ्कप्पा रागनिस्सिता॥६॥

जिसके छत्तीस स्रोत[1] मनको अच्छी लगनेवाली (चीजों) को ही लानेवाले हों, (उसके लिये) रागलिप्त संकल्प-रूपी वाहन बुरी धारणाओंको वहन करते हैं।

---

[1] ३६ स्रोत: आंख, कान, नाक, जीभ, काया (= चर्म), मन, रूप, गंध, शब्द, रस, स्पर्श, धर्म (= मनका विषय), आंखका विज्ञान, (= आंखसे होनेवाला ज्ञान), और कान, नाक, जीभ, काया तथा मनके विज्ञान, यही भीतरी और बाहरी भेदसे छत्तीस स्रोत होते हैं।

सवन्ति सब्बधि सोता लता उब्भिज्ज तिट्ठति।
तञ्च दस्वा लतं जातं मूलं पञ्ञाय छिन्दथ ॥७॥

(यह) स्रोत चारों ओर बहते हैं; (जिसके कारण) (तृष्णा-रूपी) लता अंकुरित रहती है। उस उत्पन्न हुई लताको जानकर, प्रज्ञासे (उसकी) जड़को काटो।

सरितानि सिनेहितानि च
सोमनस्सानि भवन्ति जन्तुनो।
ते वे सोतसिता सुखेसिनो
ते वे जाति-जरूपगा नरा ॥८॥

(यह) (तृष्णा-रूपी) नदियां स्निग्ध और प्राणियोंके चित्त-को खुश रखनेवाली होती हैं, नर (जिनके) स्रोतमें बंधे, सुख-की खोज करते, जन्म और जराके फेरमें पड़ते हैं।

तसिणाय पुरक्खता पजा
परिसप्पन्ति ससो'व बाधितो।
सञ्ञोजनसङ्गसत्तका
दुक्खमुपेन्ति पुनप्पुनं चिराय ॥९॥

तृष्णाके पीछे पड़े प्राणी, बंधे खरगोशकी भांति चक्कर काटते हैं; संयोजनों (= मनके बंधनों) में फंसे (जन) पुनः-पुनः चिरकालतक दुःखको पाते हैं।

तसिणाय पुरक्खता पजा परिसप्पन्ति ससो'व बाधिता।
तस्मा तसिणं विनोदये भिक्खू अकङ्खी विरागमत्तनो ॥१०॥

तृष्णाके पीछे पड़े प्राणी बंधे खरगोशकी भांति चक्कर काटते हैं; इसलिये भिक्षुको चाहिये कि वह अपने वैराग्यकी इच्छा रखकर तृष्णाको दूर करे।

यो निब्बनथो वनाधिमुत्तो वनमुत्तो वनमेव धावति।
तं पुग्गलमेव पस्सथ मुत्तो बन्धनमेव धावति ॥११॥

जो निर्वाणकी इच्छावाला (पुरुष) वन (= तृष्णा) से मुक्त होकर, वनसे सुमुक्त होकर, फिर वन (= तृष्णा) ही की ओर दौड़ता है, उस व्यक्तिको (वैसे ही) जानो जैसे कोई (बंधन) से मुक्त (पुरुष) फिर बंधन ही की ओर दौड़े।

न तं दळ्हं बन्धनमाहु धीरा यदायसं दारुजं बब्बजञ्च।
सारत्तरत्ता मणिकुण्डलेसु पुत्तेसु दारेसु च या अपेक्खा ॥१२॥

(यह) जो लोहे, लकड़ी या रस्सीका बंधन है, उसे बुद्धिमान् (जन) दृढ़ बंधन नहीं कहते; (वस्तुतः दृढ़ बंधन है) धन (= सारवत्) से आसक्त होना, या मणि, कुण्डल, पुत्र, स्त्रीमें इच्छाका होना।

एतं दळ्हं बन्धनमाहु धीरा ओहारिनं सिथिलं दुप्पमुञ्चं।
एतम्पि छेत्वान परिब्बजन्ति अनपेक्खिनो कामसुखं पहाय ॥१३॥

धीर पुरुष इसीको दृढ़ बंधन, अपहारक, शिथिल और दुरत्याज्य कहते हैं; (वह) अपेक्षा रहित होकर तथा काम-सुखोंको छोड़कर, इस (दृढ़) बंधनको छिन्नकर प्रव्रजित होते हैं।

ये रागरत्तानुपतन्ति सोतं सयं कतं मक्कटको'व जालं।
एतम्पि छेत्वान बजन्ति धीरा अनपेक्खिनो सब्बदुक्खं पहाय ॥१४॥

जो रागमें लीन हैं वह जैसे मकड़ी अपने बनाये जालमें पड़ती है, (वैसे ही) अपने बनाये स्रोतमें पड़ते हैं। धीर (पुरुष) इस (स्रोत) को भी छेदकर, सारे दुःखोंको छोड़कर, आकांक्षारहित हो चल देते हैं।

मुञ्च पुरे मुञ्च पच्छतो मज्झे मुञ्च भवस्स पारगू।
सब्बत्थ विमुत्तमानसो न पुन जातिजरं उपेहिसि ॥१५॥

आगे, पीछे और मध्यकी (सभी वस्तुओंको) त्याग दो, (और उन्हें छोड़) भव (सागर) के पार हो जाओ, जिसका मन चारों ओरसे मुक्त हो गया, (वह) फिर जन्म और जराको प्राप्त नहीं होता।

वितक्कपमथितस्स जन्तुनो तिब्बरागस्स सुभानुपस्सिनो।
भिय्यो तण्हा पवड्ढति एसो खो दळ्हं करोति बन्धनं ॥१६॥

जो प्राणी संदेहसे मथित, तीव्र रागसे युक्त, सुन्दर ही सुन्दरको देखनेवाला है, उसकी तृष्णा और भी अधिक बढ़ती है, वह (अपने लिये) और भी दृढ़ बंधन तैयार करता है।

वितक्कूपसमे च यो रतो असुभं भावयति सदा सतो।
एस खो ब्यन्तिकाहिती एसच्छेज्जति मारबन्धनं ॥१७॥

संदेहके शांत करनेमें जो रत है, सचेत रहकर (जो) अशुभ (दुनियाके अंधेरे पहलू) की भी सदा भावना करता है, वह मारके बंधनको छिन्न करेगा, विनाश करेगा।

निट्ठङ्गतो असन्तासी वीततण्हो अनङ्गणो।
अच्छिद्द भवसल्लानि अन्तिमो'यं समुस्सयो ॥१८॥

जिसके (पाप-पुण्य) समाप्त हो गये, जो त्रास-उत्पादक नहीं है, जो तृष्णारहित और मलरहित हैं, वह भवके शल्योंको उखाड़ेगा, यह उसका अंतिम देह है।

वीततण्हो अनादानो निरुत्तिपदकोविदो।
अक्खरानं सन्निपातं जञ्ञा पुब्बापरानि च ॥
स वे अन्तिमसारीरो महापञ्ञो'ति वुच्चति ॥१९॥

जो तृष्णारहित, परिग्रहरहित, भाषा और काव्यका जानकार है, और (जो) अक्षरोंको पहले-पीछे रखनेको जानता है, वह निश्चय ही अंतिम शरीरवाला तथा महाप्राज्ञ कहा जाता है।

सब्बाभिभू सब्बविदूहमस्मि सब्बेसु धम्मेसु अनूपलित्तो।
सब्बञ्जहो तण्हक्खये विमुत्तो सयं अभिञ्ञाय कमुद्दिसेय्यं ॥२०॥

मैं (राग आदि) सभीको परास्त करनेवाला हूं, (दुःखसे मुक्ति पानेकी) सभी (बातों) का जानकार हूं, सभी धर्मों (= पदार्थों) में अलिप्त हूं, सर्वत्यागी, तृष्णाका क्षय हो जानेसे मुक्त हूं, (विमल ज्ञानको) अपने ही जानकर (मैं अब) किसको अपना (गुरु) बतलाऊं?

सब्बदानं धम्मदानं जिनाति सब्बं रसं धम्मरसो जिनाति।
सब्बं रतिं धम्मरती जिनाति तण्हक्खयो सब्बदुक्खं जिनाति ॥२१॥

धर्मका दान सारे दानोंसे बढ़कर है, धर्मरस सारे रसोंसे प्रबल है, धर्ममें रति सब रतियोंसे बढ़कर है, तृष्णाका विनाश सारे दुःखोंको जीत लेता है।

हनन्ति भोगा दुम्मेधं नो चे पारगवेसिनो।
भोगतण्हाय दुम्मेधो हन्ति अञ्ञे'व अत्तनं ॥२२॥

(संसारको) पार होनेकी कोशिश न करनेवाले दुर्बुद्धि

(पुरुष) को भोग नष्ट करते हैं, भोगोंकी तृष्णामें पड़कर (वह) दुर्बुद्धि परायेकी भांति अपना ही हनन करता है।

तिणदोसानि खेत्तानि रागदोसा अयं पजा।
तस्मा हि वीतरागेसु दिन्नं होति महप्फलं ॥२३॥

खेतोंका दोष तृण है, इस प्रजा (= मनुष्यों) का दोष राग है। इसलिये (दान) वीतराग (पुरुष) को देनेमें महाफल-प्रद होता है।

तिणदोसानि खेत्तानि दोसदोसा अयं पजा।
तस्मा हि वीतदोसेसु दिन्नं होति महप्फलं ॥२४॥

खेतोंका दोष तृण है, इस प्रजाका दोष द्वेष है, इसलिये वीतद्वेष (= द्वेषरहित) को देनेमें महाफल होता है।

तिणदोसानि खेत्तानि मोहदोसा अयं पजा।
तस्मा हि वीतमोहेसु दिन्नं होति महप्फलं ॥२५॥

खेतोंका दोष तृण है, इस प्रजाका दोष मोह है। इसलिये वीतमोह (= मोहरहित) को देनेमें महाफल होता है।

तिणदोसानि खेत्तानि इच्छादोसो अयं पजा।
तस्मा हि विगतिच्छेसु दिन्नं होति महप्फलं ॥२७॥

खेतोंका दोष तृण है, इस प्रजाका दोष इच्छा है, इसलिये विगतेच्छ (= इच्छारहित) को देनेमें महाफल होता है।

हम अंतिम पदपर ध्यान करेंगे।

८-८-१९५८

२५. भिक्खुवग्गो (भिक्षु)

चक्खुना संवरो साधु साधु सोतेन संवरो।
घाणेन संवरो साधु साधु जिव्हाय संवरो ॥१॥

आंखका संवर (= संयम) ठीक है, ठीक है कानका संवर, घ्राण (= नाक)का संवर ठीक है, ठीक है जीभका संवर।

कायेन संवरो साधु साधु वाचाय संवरो।
मनसा संवरो साधु साधु सब्बत्थ संवरो ॥
सब्बत्थ संवुतो भिक्खू सब्बदुक्खा पमुच्चति ॥२॥

कायाका संवर (= संयम) ठीक है, ठीक है वचनका संवर। मनका संवर ठीक है, ठीक है सर्वत्र (इन्द्रियों) का संवर। सर्वत्र संवर-युक्त भिक्षु सारे दुःखोंसे छूट जाता है।

हत्थसञ्ञतो पादसञ्ञतो वाचाय सञ्ञतो सञ्ञतुत्तमो।
अज्झत्तरतो समाहितो एको सन्तुसितो तमाहु भिक्खू ॥३॥

जिसके हाथ, पैर और वचनमें संयम है, (जो) उत्तम संयमी है, जो घटके भीतर (= अध्यात्म) रत, समाधियुक्त, अकेला (और) संतुष्ट है, उसे भिक्षु कहते हैं।

यो मुखसञ्ञतो भिक्खू मन्तभाणी अनुद्धतो।
अत्थं धम्मञ्च दीपेति मधुरं तस्स भासितं ॥४॥

जो मुखमें संयम रखता है, मनन करके बोलता है, उद्धत नहीं है, अर्थ और धर्मको प्रकट करता है, उसका भाषण मधुर होता है।

धम्मारामो धम्मरतो धम्मं अनुविचिन्तयं।
धम्मं अनुस्सरं भिक्खू सद्धम्मा न परिहायति ॥५॥

धर्ममें रमण करनेवाला, धर्ममें रत, धर्मका चिंतन करता हुआ, धर्मका अनुस्मरण करता हुआ भिक्षु सच्चे धर्मसे च्युत नहीं होता।

सलाभं नातिमञ्ञेय्य, नाञ्ञेसं पिहयं चरे।
अञ्ञेसं पिहयं भिक्खू समाधिं नाधिगच्छति ॥६॥

अपने लाभकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। दूसरोंके (लाभ) की स्पृहा न करनी चाहिये। दूसरोंके (लाभकी) स्पृहा करनेवाला भिक्षु समाधि (= चित्तकी एकाग्रता) को नहीं प्राप्त करता।

अप्पलाभोपि चे भिक्खू स लाभं नातिमञ्ञाति।
तं वे देवा पसंसन्ति सुद्धाजीविं अतन्दितं ॥७॥

चाहे अल्प ही हो, भिक्षु अपने लाभकी अवहेलना न करे। उसीकी देवता प्रशंसा करते हैं (जो) शुद्ध जीविकावाला और आलस्यरहित है।

सब्बसो नामरूपस्मिं यस्स नत्थि ममायितं।
असता च न सोचति स वे भिक्खू'ति वुच्चति ॥८॥

नाम-रूप (जगत्‌में) जिसकी बिलकुल ही ममता नहीं, न होनेपर (जो) शोक नहीं करता, वही भिक्षु कहा जाता है।

मेत्ताविहारी यो भिक्खू पसन्नो बुद्धसासने।
अधिगच्छे पदं सन्तं सङ्खारूपसमं सुखं ॥ ९॥

मैत्री (= भावना) से विहार करता जो भिक्षु बुद्धके उपदेशमें प्रसन्न (= श्रद्धावान्) रहता है, (वह) सभी संस्कारोंको शमन करनेवाले शांत और सुखमय पदको प्राप्त करता है।

सिञ्च भिक्खू ! इमं नावं सित्ता ते लहुमेस्सति।
छेत्वा रागञ्च दोसञ्च ततो निब्बाणमेहिसि ॥१०॥

हे भिक्षु ! इस नावको उलीचो; उलीचनेपर यह तुम्हारे लिये हल्की हो जायगी। राग और द्वेषको छेदन कर तुम निर्वाणको प्राप्त होगे।

पञ्च छिन्दे पञ्च जहे पञ्चवुत्तरि भावये।
पञ्च सङ्गातिगो भिक्खू ओघतिण्णो'ति वुच्चति ॥११॥

(जो रूप, राग, मान, उद्धतपना और अविद्या, इन) पांचको छेदन करे, (जो नित्य आत्माकी कल्पना, संदेह, शील-व्रत-पर अधिक जोर, भोगोंमें राग और प्रतिहिंसा, इन) पांचका त्याग करे, उपरांत (जो श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा)

इन पांचकी भावना करे; (जो राग, द्वेष, मोह, मान और झूठी धारणा, इन) पांचके संसर्गको अतिक्रमण कर चुका है (वह काम, भव दृष्टि और अविद्या-रूपी) ओघों (= बाढ़ों) से उत्तीर्ण हुआ कहा जाता है।

झाय भिक्खू! मा च पमादो मा ते कामगुणे भमस्सु चित्तं।
मा लोहगुलं गिली पमत्तो मा कंदी दुक्खमिदन्ति डय्हमानो ॥१२॥

हे भिक्षु! ध्यानमें लगो, गफलत मत करो, तुम्हारा चित्त भोगोंके चक्करमें न पड़े, प्रमत्त होकर लोहेके गोलेको मत निगलो। "(हाय) यह दुःख", कहकर दग्ध होते (पीछे) तुम्हें क्रंदन न करना पड़े।

नत्थि झानं अपञ्ञस्स पञ्ञा नत्थि अझायतो।
यम्हि झानञ्च पञ्ञा च स वे निब्बाणसन्तिके ॥१३॥

प्रज्ञाविहीन (पुरुष) से ध्यान नहीं (होता) है, ध्यान (= एकाग्रता) न करनेवालेको प्रज्ञा नहीं हो सकती। जिसमें ध्यान और प्रज्ञा (दोनों) हैं, वही निर्वाणके समीप है।

सुञ्ञागारं पविट्ठस्स सन्तचित्तस्स भिक्खुनो।
अमानुसी रती होति सम्माधम्मं विपस्सतो ॥१४॥

शून्य (= एकांत) गृहमें प्रविष्ट, शांतचित्त, भली प्रकार धर्मका साक्षात्कार करते भिक्षुको, अमानुषी रति (= आनंद) होती है।

यतो यतो सम्मसति खन्धानं उदयब्बयं।
लभती पीतिपामोज्जं अमतं तं विजानतं ॥१५॥

(पुरुष) जैसे-जैसे (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान, इन) पांच स्कंधोंकी उत्पत्ति और विनाशपर विचार करता है, (वैसे-वैसे, वह) ज्ञानियोंकी प्रीति और प्रमोद (-रूपी) अमृतको प्राप्त करता है।

तत्रायमादि भवति इध पञ्ञस्स भिक्खुनो।
इन्द्रियगुत्ती सन्तुट्ठी पातिमोक्खे च संवरो।
मित्ते भजस्सु कल्याणे सुद्धाजीवे अतन्दिते ॥१६॥

यहां प्राज्ञ भिक्षुके लिये सबसे पहले जरूरी है — इंद्रिय-संयम, संतोष और प्रातिमोक्ष (= भिक्षुओंके आचार) की रक्षा। (वह इसके लिये) निरालस, शुद्ध जीविकावाले, अच्छे मित्रोंका सेवन करे।

पटिसन्थारवुत्तस्स आचारकुसलो सिया।
ततो पामोज्जबहुलो दुक्खस्सन्तं करिस्सति ॥१७॥

जो सेवा-सत्कार स्वभाववाला तथा आचार (पालन) में निपुण है, सानंद दुःखका अंत करेगा।

वस्सिका विय पुप्फानि मद्दवानि पमुञ्चति।
एवं रागञ्च दोसञ्च विप्पमुञ्चेथ भिक्खवो ॥१८॥

जैसे जूही कुम्हलाये फूलोंको गिरा देती है वैसे ही, हे भिक्षुओ! (तुम) राग और द्वेषको छोड़ दो।

सन्तकायो सन्तवाचो सन्तवा सुसमाहितो।
वन्तलोकामिसो भिक्खू उपसन्तो'ति वुच्चति ॥१९॥

काया (और) वचनसे शांत, भली प्रकार समाधियुक्त शांति-सहित (तथा) जिसने लोकके आमिषको वमन कर दिया ऐसे भिक्षुको "उपशांत" कहा जाता है।

अत्तना चोदय'त्तानं पटिवासे अत्तमत्तना।
सो अत्तगुत्तो सतिमा सुखं भिक्खू विहाहिसि ॥२०॥

(जो) अपने ही आपको प्रेरित करेगा, अपने ही आपको संलग्न करेगा; वह आत्म-गुप्त (= अपने द्वारा रक्षित), स्मृति-संयुक्त भिक्षु सुखसे विहार करेगा।

अत्ता हि अत्तनो नाथो अत्ता हि अत्तनो गति।
तस्मा सञ्ञामयत्तानं अस्सं भद्रं'व वाणिजो ॥२१॥

(मनुष्य) स्वयं अपना स्वामी है, स्वयं अपनी गति है; इसलिये अपनेको संयमी बनाये, जैसे कि सुंदर घोड़ेको बनिया (संयत करता है)।

पामोज्जबहुलो भिक्खू पसन्नो बुद्धसासने।

अधिगच्छे पदं सन्तं सङ्खारूपसमं सुखं ॥२२॥

बुद्धके उपदेशमें प्रसन्न, बहुत प्रमोदयुक्त भिक्षु संस्कारोंको उपशमन करनेवाले सुखमय, शांत पदको प्राप्त करता है।

यो ह वे दहरो भिक्खु युञ्जते बुद्धसासने।
सो इमं लोकं पभासेति अब्भा मुत्तो'व चन्दिमा ॥२३॥

जो भिक्षु यौवनमें बुद्ध-शासन (= बुद्धोपदेश, बुद्ध-धर्म) में संलग्न होता है, वह मेघसे मुक्त चंद्रमाकी भांति इस लोकको प्रकाशित करता है।

यहां जो सलाहें दी गयी हैं उनमेंसे एक सलाह है कि हमेशा सद्भावनापूर्ण बने रहो। इसे आमतौरपर दी जानेवाली घिसी-पिटी सलाहोंमेंसे एक न मान लेना चाहिये। यहां एक काफी मजेदार बात कही गयी है, इसे बहुत मजेदार भी कह सकते हैं। मैं टीका करती हूं : "हमेशा सद्भावनापूर्ण बने रहो और तुम दुःखसे मुक्त हो जाओगे, हमेशा संतोषी और सुखी रहोगे। तुम अपना शांत सुख चारों ओर फैलाओगे।"

यह खास ध्यान देने योग्य बात है कि पाचनकी सभी क्रियाएं आलोचनापूर्ण, दुर्भावनापूर्ण, तीखे मनोभावके प्रति और कटु निर्णयके प्रति अत्यधिक संवेदनशील होती हैं। उसके सिवा पाचनका कार्य और किसी भी वस्तुसे इतना नहीं बिगड़ता। यह एक दुष्चक्र है : जितनी अधिक पाचनक्रिया बिगड़ती है, उतने ही अधिक तुम दुर्भावनापूर्ण, आलोचनापूर्ण, जीवनसे, चीजोंसे और मनुष्योंसे असंतुष्ट होते हो। इस तरह तुम उसमेंसे निकल नहीं पाते। और इसके लिये बस एक ही उपचार है, वह है निरंतर संयमद्वारा इस मनोभावसे समझ-बूझकर निकल आना, उसे पूरी तरह अस्वीकार करना और उसे अपने ऊपर लदने न देना, पूर्ण सद्भावनाका अभीष्ट मनोभाव अपना लेना। कोशिश करो और तुम देखोगे कि तुम्हारा स्वास्थ्य बहुत अच्छा हो गया है।

२२-८-१९५८

२६. ब्राह्मणवग्गो (ब्राह्मण)

छिन्द सोतं परक्कम्म कामे पनुद ब्राह्मण !
संखारानं खयं ञत्वा अकतञ्ञूसि ब्राह्मण ॥१॥

हे ब्राह्मण ! (तृष्णा-रूपी) स्रोतको छिन्न कर दे, पराक्रम कर, (और) कामनाओंको भगा दे। संस्कार (= कृत वस्तुओं, ५ उपादान स्कंधों) के विनाशको जानकर तू अकृत (= न कृत, निर्वाण) को पानेवाला हो जायेगा।

यदा द्वयेसु धम्मेसु पारगू होति ब्राह्मणो।
अथस्स सब्बे संयोगा अत्थं गच्छन्ति जानतो ॥२॥

जब ब्राह्मण दो धर्मों (= चित्त-संयम और भावना) में पारंगत हो जाता है, तब उस जानकारके सभी संयोग (= बंधन) अस्त हो जाते हैं।

यस्स पारं अपारं वा पारापारं न विज्जति।
वीतद्दरं विसञ्ञुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम् ॥३॥

जिसके पार (= आंख, कान, नाक, जीभ, काया, मन), अपार (= रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श, धर्म) और पारापार (= मैं और मेरा) नहीं है, (जो) निर्भय और अनासक्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

झायिं विरजमासीनं कतकिच्चं अनासवं।
उत्तमत्थं अनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम् ॥४॥

(जो) ध्यानी, निर्मल आसनबद्ध (= स्थिर), कृतकृत्य आस्रव (= चित्तमल) रहित है, जिसने उत्तम अर्थ (= सत्य)-को पा लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

दिवा तपति आदिच्चो रत्तिं आभाति चन्दिमा।
सन्नद्धो खत्तियो तपति झायी तपति ब्राह्मणो।
अथ सब्बमहोरत्तिं बुद्धो तपति तेजसा ॥५॥

दिनमें सूर्य तपता है, रातको चंद्रमा प्रकाश देता है, कवच-बद्ध (होनेपर) क्षत्रिय तपता है, ध्यानी (होनेपर) ब्राह्मण

तपता है और बुद्ध रात-दिन (अपने) तेजसे सब (से अधिक) तपता है।

वाहितपापो'ति ब्राह्मणो समचरिया समणो'ति वुच्चति।
पब्बाजयमत्तनो मलं तस्मा पब्बजितो'ति वुच्चति॥६॥

जिसने पापको (धोकर) बहा दिया वह ब्राह्मण है; जो समताका आचरण करता है वह समण (= श्रमण, संन्यासी) है, (चूंकि) उसने अपने (चित्त-) मलोंको हटा दिया, इसीलिये वह प्रव्रजित कहा जाता है।

न ब्राह्मणस्स पहरेय्य नास्स मुंचेथ ब्राह्मणो।
धि ब्राह्मणस्स हन्तारं ततो धि यस्स मुञ्चति॥७॥

ब्राह्मण (= निष्पाप) पर प्रहार नहीं करना चाहिये और ब्राह्मणको भी उस (प्रहारदाता) पर (कोप) नहीं करना चाहिये; ब्राह्मणको जो मारता है, उसे धिक्कार है और उससे भी धिक्कार उसको है जो (उसके लिये) कोप करता है।

न ब्राह्मणस्सेतदकिञ्चि सेय्यो यदा निसेधो मनसो पियेहि।
यतो यतो हिंसमनो निवत्तति ततो ततो सम्मति एव दुक्खं॥८॥

ब्राह्मणके लिये यह बात कम कल्याण (-कारी) नहीं है कि वह प्रिय (पदार्थों) से मनको हटा लेता है। जहां-जहां मन हिंसासे मुड़ता है वहां-वहां दुःख (अवश्य) ही शांत हो जाता है।

यस्स कायेन वाचाय मनसा नत्थि दुक्कतं।
संवुतं तीहि ठानेहि तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥९॥

जिसके मन, वचन कायसे दुष्कृत (= पाप) नहीं होते, (जो इन) तीनों ही स्थानोंसे संवर (= संयम-) युक्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

यम्हा धम्मं विजानेय्य सम्मासम्बुद्धदेसितं।
सक्कच्चं तं नमस्सेय्य अग्गिहुत्तं'व ब्राह्मणो॥१०॥

जिस (उपदेशक) से सम्यक्संबुद्ध (= बुद्ध) द्वारा उपदिष्ट

धर्मको जाने उसे (वैसे ही) सत्कारपूर्वक नमस्कार करे जैसे अग्नि होत्रको ब्राह्मण।

न जटाहि न गोत्तेहि न जच्चा होति ब्राह्मणो।
यम्हि सच्चञ्च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो ॥११॥

न जटासे, न गोत्रसे, न जन्मसे ब्राह्मण होता है; जिसमें सत्य और धर्म है वही शुचि (= पवित्र) है और वही ब्राह्मण है।

किं ते जटाहि दुम्मेध ! किं ते अजिनसाटिया।
अब्भन्तरं ते गहनं बाहिरं परिमज्जसि ॥१२॥

हे दुर्बुद्धि ! जटाओंसे तेरा क्या (बनेगा) (और) मृगचर्मके पहननेसे तेरा क्या ? भीतर (=दिल) तो तेरा (=राग आदि मलों) से परिपूर्ण है, बाहर क्या धोता है ?

पंसुकूलधरं जन्तुं किसं धमनिसन्थतं।
एकं वनस्मि झायन्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१३॥

जो प्राणी फटे-चीथड़ोंको धारण करता है, जो दुबला-पतला और नसोंसे मढ़े शरीरवाला है, जो अकेला वनमें ध्यानरत रहता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मत्ति सम्भवं।
'भो वादि' नाम सो होति स वे होति सकिञ्चनो।
अकिञ्चनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१४॥

माता और योनिसे उत्पन्न होनेसे मैं (किसी) को ब्राह्मण नहीं कहता। वह भी "भो वादी"[1] है, वह (तो) संग्रही है। मैं ब्राह्मण उसे कहता हूं जो अपरिग्रही और लेनेकी (इच्छा) न रखनेवाला है।

सब्बसञ्ञोजनं छेत्वा यो वे न परितस्सति।
सङ्गातिगं विसञ्ञुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१५॥

---

[1] उस समयके ब्राह्मण ब्राह्मणको ही "भो" कहकर संबोधन किया करते थे।

जो सारे संयोजनों (= बंधनों) को काटता है, जो भय नहीं खाता, जो संग और आसक्तिसे विरत है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

छेत्वा नन्दिं वरत्तञ्च सन्दानं सहनुक्कमं।
उक्खित्तपळिघं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१६॥

नन्दी (= क्रोध), वरत्रा (= तृष्णा-रूपी रस्सी), सन्दान (= ६२ प्रकारके मतवादरूपी पगहे), और हनुक्रम (= मुंह-पर बांधनेके जाबे) को काट एवं परिघ (= जूए) को फेंक जो बुद्ध (= ज्ञानी) हुआ, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

अक्कोसं वधबन्धञ्च अदुट्ठो यो तितिक्खति।
खन्तिबलं बलानीकं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम् ॥१७॥

जो विना दूषित (चित्त) किये गाली, वध और बंधनको सहन करता है, क्षमा बल ही जिसके बल (= सेना) का सेना-पति है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

अक्कोधनं वतवन्तं सीलवन्तं अनुस्सुतं।
दन्तं अन्तिमसारीरं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१८॥

जो अक्रोध, व्रती, शीलवान, बहुश्रुत, संयमी (= दान्त) और अंतिम शरीरवाला है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

वारि पोक्खरपत्ते'व आरग्गेरिव सासपो।
यो न लिप्पति कामेसु तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१९॥

कमलके पत्तेपर जल और आरेकी नोकपर सरसोंकी भांति जो भोगोंमें लिप्त नहीं होता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

यो दुक्खस्स पजानाति इधेव खयमत्तनो।
पन्नभारं विसञ्ञुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२०॥

जो यहां (= इसी जन्ममें) अपने दुःखोंके विनाशको जान लेता है, जिसने अपने बोझको उतार फेंका और जो आसक्ति-रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

गम्भीरपञ्ञं मेधाविं मग्गामग्गस्स कोविदं।
उत्तमत्थं अनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२१॥

जो गंभीर प्रज्ञावाला, मेधावी, मार्ग-अमार्गका ज्ञाता, उत्तम पदार्थ (= सत्य) को पाये हुए है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

असंसट्ठं गहट्ठेहि अनागारेहि चूभयं।
अनोकसारिं अप्पिच्छं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२२॥

घरवाले (= गृहस्थ) और बेघरवाले, दोनों ही में जो लिप्त नहीं होता, जो बिना ठिकानेके घूमता तथा बेचाह है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

निधाय दण्डं भूतेसु तसेसु थावरेसु च।
यो न हन्ति न घातेति तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२३॥

चर-अचर (सभी) प्राणियोंमें प्रहारविरत होकर जो न मारता है, न मारनेकी प्रेरणा करता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

अविरुद्धं विरुद्धेसु अत्तदण्डेसु निब्बुतं।
सादानेसु अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२४॥

जो विरोधियोंके बीच विरोधरहित रहता है, जो दंडधारियों-के बीच (दंड-) रहित है, संग्राहियोंमें जो संग्रहरहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

यस्स रागो च दोसो च मानो मक्खो च पातितो।
सासपोरिव आरग्गा तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२५॥

आरेके ऊपर सरसोंकी भांति जिसके (चित्तसे) राग, द्वेष, मान, डाह फेंक दिये गये हैं, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

अकक्कसं विञ्ञापनिं गिरं सच्चं उदीरये।
याय नाभिसजे किञ्चि तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२६॥

(जो इस प्रकारकी) अकर्कश, आदरयुक्त (तथा) सच्ची वाणी बोले जिससे कुछ भी पीड़ा न हो, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

यो'ध दीघं वा रस्सं वा अणुं थूलं सुभासुभं।
लोके अदिन्नं नादियते तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२७॥

(चीज) चाहे दीर्घ हो या ह्रस्व, मोटी हो या पतली, शुभ हो या अशुभ, जो संसारमें (किसी भी) बिना दी हुई चीजको नहीं लेता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

आसा यस्स न विज्जन्ति अस्मिं लोके परम्हि च।
निरासयं विसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२८॥

इस लोक और परलोकके विषयमें जिसकी आशाएं (= चाह) नहीं रह गयी हैं, जो आशारहित और आसक्तिरहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

यस्साऽऽलया न विज्जन्ति अञ्ञाय अकथंकथी।
अमतोगधं अनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२९॥

जिसमें आलय (= तृष्णा) नहीं है, जो भली प्रकार जान-कर अकथ (-पद) का कहनेवाला है, जिसने गाढ़े अमृतको पा लिया, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

यो'ध पुञ्ञञ्च पापञ्च उभो सङ्गं उपच्चगा।
असोकं विरजं सुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३०॥

जिसने यहां पुण्य और पाप, दोनोंकी आसक्तिको छोड़ दिया, जो शोकरहित, निर्मल (और) शुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

चन्दं'व विमलं सुद्धं विप्पसन्नमनाविलं।
नन्दीभवपरिक्खीणं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३१॥

जो चंद्रमाकी भांति विमल, शुद्ध, प्रसन्न और स्वच्छ (= अना-विल) है, (तथा जिसकी) सभी जन्मोंकी तृष्णा नष्ट हो गयी है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

यो इमं पलिपथं दुग्गं संसारं मोहमच्चगा।
तिण्णो पारगतो झायी अनेजो अकथंकथी।
अनुपादाय निब्बुतो तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३२॥

जिसने इस दुर्गम संसार (= जन्म-मरण) के चक्करमें डालनेवाले मोह (-रूपी) उलटे मार्गको त्याग दिया, जो

(संसारसे) पारंगत, ध्यानी तथा तीर्ण (= तर गया) है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

यो'ध कामे पहत्त्वान अनागारो परिब्बजे।
कामभवपरिक्खीणं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३३॥

जो यहां भोगोंको छोड़, बेघर हो प्रव्रजित (= संन्यासी) हो गया है, जिसके भोग और जन्म नष्ट हो गये, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

यो'ध तण्हं पहत्त्वान अनागारो परिब्बजे।
तण्हाभवपरिक्खीणं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३४॥

जो यहां तृष्णा को छोड़, बेघर बन प्रव्रजित है, जिसकी तृष्णा और (पुनर-) जन्म नष्ट हो गये, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

हित्वा मानुसकं योगं दिब्बं योगं उपच्चगा।
सब्बयोगविसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३५॥

मानुषी (भोगोंके) लाभोंको छोड़कर दिव्य (भोगोंके) लाभको भी (जिसने) त्याग दिया, सारे ही लाभोंमें जो आसक्त नहीं है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

हित्वा रतिञ्च अरतिञ्च सीतिभूतं निरूपधिं।
सब्बलोकाभिभुं वीरं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३६॥

रति और अरति (= घृणा) को छोड़, जो शीतल-स्वभाव (तथा) क्लेशरहित है, (जो ऐसा) सर्वलोकविजयी वीर है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

चुतिं यो वेदि सत्तानं उप्पपत्तिञ्च सब्बसो।
असत्तं सुगतं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३७॥

जो प्राणियोंकी च्युति (= मृत्यु) और उत्पत्तिको भली प्रकार जानता है, (जो) आसक्तिरहित सुगत (= सुंदर गतिको प्राप्त) और बुद्ध (= ज्ञानी) है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

यस्स गतिं न जानन्ति देवा गन्धब्बमानुसा।
खीणासवं अरहन्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३८॥

जिसकी गति (= पहुंच) को देवता, गंधर्व और मनुष्य नहीं जानते, जो क्षीणास्रव (= रागादि-रहित) और अर्हत है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

यस्स पुरे च पच्छा च मज्झे च नत्थि किञ्चनं।
अकिञ्चनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३९॥

जिसके पूर्व और पश्चात् और मध्यमें कुछ नहीं है, जो परिग्रहरहित (= आदानरहित है), उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

उसभं पवरं वीरं महेसिं विजिताविनं।
अनेजं नहातकं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥४०॥

(जो) ऋषभ (= श्रेष्ठ), प्रवर, वीर, महर्षि, विजेता, अकम्प्य, स्नातक और बुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

पुब्बेनिवासं यो वेदि सग्गापायञ्च पस्सति।
अथो जातिक्खयं पत्तो अभिञ्ञावोसितो मुनि।
सब्बवोसितवोसानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥४१॥

जो पूर्व जन्मको जानता है, स्वर्ग और अगतिको देखता है, जिसका (= पुनर्) जन्म क्षीण हो गया, (जो) अभिज्ञा (= दिव्य ज्ञान) परायण और पूर्ण ज्ञानी है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

यह है 'धम्मपद'का उसंहार। और अगर — उसीके प्रतीकके अनुसार — उसने हमें जो सिखाया है उसमेंसे हमने राईका एक दाना ही क्रियात्मक रूपमें उतारा हो, तो ठीक है, हमने अपना समय नष्ट नहीं किया।

और एक चीज है जिसका उल्लेख यहां, 'धम्मपद'में, नहीं किया गया है: एक परम अनासक्ति और परम मुक्ति जो पूर्णताके अनुशासनका, प्रगतिके अभियानका अनुसरण है। उस निश्चित उद्देश्यके लिये नहीं जिसका यहां वर्णन मिलता है, यानी, निर्वाणकी मुक्तिके लिये नहीं, बल्कि इसलिये कि प्रगतिका यह अभियान पार्थिव जीवनका, वैश्व अस्तित्वके सत्यका गहन विधान और अस्तित्व-हेतु है, और परिणाम चाहे कुछ भी क्यों न हो, हम सहज रूपसे उसके साथ कदम मिलाकर चलेंगे।

भागवत कृपामें एक गंभीर विश्वास, भागवत इच्छाके प्रति पूर्ण समर्पण,

दिव्य योजनामें पूर्ण निष्ठा, ये वे चीजें हैं जो परिणामकी चिंता किये बिना जो चीज करनी चाहिये तुमसे वही करवाती है, और यही है संपूर्ण मुक्ति।

यह, यह है दु:खका सच्चा उन्मूलन, चेतना एक निर्विकार आनंदसे भर उठती है। और प्रत्येक पग तुम्हें एक अद्भुत वैभव दिखाता है।

मानव प्रगतिको बुद्धने जो दिया है उसके लिये हम उन्हें धन्यवाद देते हैं और, जैसा कि मैंने शुरूमें कहा था, उन्होंने हमें जो सुंदर चीजें सिखायी हैं, हम उन्हें थोड़ा-बहुत प्राप्त करनेकी कोशिश करेंगे; किंतु हम अपने उद्देश्य और प्रयत्नोंके परिणामको उस परम ज्ञानके ऊपर छोड़ देंगे जो समस्त बोधसे परे है।

५-९-१९५८

प्रश्न और उत्तर १९२९
का परिशिष्ट

('प्रश्न और उत्तर १९२९' के कुछ भागोंके बारेमें श्रीअरविन्दसे कुछ प्रश्न किये गये थे। यहां वे प्रश्न और श्रीअरविन्दके उत्तर दिये जा रहे हैं।)

प्रश्न और उत्तर १९२९ का परिशिष्ट

माताजी पूछती हैं: "तुम योग-साधना किसलिये करना चाहते हो? शक्ति प्राप्त करनेके लिये?"[1] क्या यहां "शक्ति" का अर्थ अपना अनुभव दूसरोंके अन्दर संचारित करनेकी शक्ति है? इसका ठीक-ठीक अर्थ क्या है?

शक्ति एक सामान्य परिभाषा है — यह संचारित करनेकी शक्तितक ही सीमित नहीं। शक्तिका सबसे अधिक सामान्य रूप है पदार्थों, व्यक्तियों, घटनाओं एवं बलोंपर नियंत्रण।

१-१-१९३७

माताजी कहती हैं: "जिस बातकी आवश्यकता है वह है भगवान्पर एकाग्रता जो उनके 'संकल्प' और 'अभिप्राय' के प्रति पूर्ण और निरपेक्ष आत्म-समर्पणके भावसे की गयी हो।"[2] क्या उनका 'संकल्प' उनके 'अभिप्राय' से भिन्न है?

दोनों शब्दोंका अर्थ एक ही नहीं है। अभिप्रायका अर्थ है प्रयोजन, वह दृष्टिगत लक्ष्य वा उद्देश्य जिसके लिये भगवान् कार्य कर रहे हैं। संकल्प उससे अधिक व्यापक परिभाषा है।

१-१-१९३७

"हृदय-केंद्रमें अपने-आपको एकाग्र करो।"[3] एकाग्रता क्या चीज है? ध्यान क्या होता है?

एकाग्रताका अर्थ है चेतनाको एक ही केंद्रके भीतर एकत्र करना और एक ही विषय (पदार्थ) या एक ही विचार या एक ही अवस्थापर स्थिर करना। ध्यान एक व्यापक परिभाषा है जो अपने अंदर अनेक प्रकारकी आंतरिक क्रियाओंको समाविष्ट कर सकती है।

१-१-१९३७

---

[1] प्रश्न और उत्तर १९२९, पृ० १ [2] वही, पृ० १ [3] वही, पृ० १

"वहां ... एक अग्नि जल रही है। यही है तुम्हारे अंतरमें रहनेवाले भगवान्‌का दिव्य अंश — तुम्हारी सत्य सत्ता (हृतपुरुष)। इसकी आवाज सुनो और इसके आदेशका पालन करो।"[1]

मैंने अपने अन्दर यह अग्नि कभी नहीं देखी। तो भी मुझे लगता है कि मैं अपनी अन्तःस्थित दिव्य सत्ताको जानता हूं। मुझे लगता है कि मैं उसकी आवाज सुनता हूं और फिर उसके आदेशके अनुसार चलनेके लिये भरसक यत्न करता हूं। क्या मुझे अपने वेदनपर सन्देह करना चाहिये ?

नहीं, तुम्हें जो लगता है वह बहुत संभवतः चैत्य पुरुषसे मनके द्वारा प्राप्त इंगित है। चैत्य अग्निसे प्रत्यक्षतः सचेतन होनेके लिये मनुष्यमें सूक्ष्म अंतर्दृष्टि और सूक्ष्म इंद्रिय होनी चाहिये या फिर होनी चाहिये चेतनामें प्रकट शक्तिके रूपमें कार्य करते हुए चैत्यकी सीधी क्रिया।

२-१-१९३७

"हम सब पूर्व जन्मोंमें मिल चुके हैं।"[2]

"हम" से यहां ठीक-ठीक क्या मतलब है? क्या आप दोनोंको मेरी स्मृति है? क्या भूतकालमें मैंने इस कार्यके लिये आपकी बहुधा सेवा की थी?

यह एक सामान्य सिद्धांत है जो घोषित किया गया है। इसमें वे सब आ जाते हैं जिन्हें कार्यके लिये पुकारा गया है। उन दिनों माताजी, जिनके साथ वे यह वार्तालाप कर रही थीं उनका भूतकाल (या उसका एक भाग) देखा करती थीं और इसीलिये उन्होंने ऐसा कहा था। इस समय हम भौतिक चेतनामें चल रहे निर्णायक कार्यमें इतने अधिक व्यस्त हैं कि इन चीजोंपर ध्यान नहीं दे सकते। और हम देखते हैं कि इसने साधकोंमें एक प्रकारकी प्राणिक रूमानियतको प्रोत्साहित किया, जिसके वश उन्होंने साधनाके कठिन कार्यकी अपेक्षा इन चीजोंको अधिक महत्त्व दिया। इसलिये हमने पिछले जीवनों और व्यक्तित्वोंकी बात कहना बंद कर दिया है।

२-१-१९३७

---

[1] वही, पृ० १ [2] वही, पृ० ३

"योग-साधनाके दो मार्ग हैं, एक है तपस्याका और दूसरा है समर्पणका।"[1]

एक बार आपने मेरे अन्तर्दर्शनकी व्याख्या करते हुए कहा था कि अग्नि, पवित्रीकरण और तपस्याकी अग्नि 'सत्यके सूर्य' को जन्म दे रही है। मैं किस पथका अनुसरण कर रहा हूं? समर्पणके मार्गमें तपस्याका क्या स्थान है? क्या कोई समर्पणके मार्गमें बिलकुल तपस्याके बिना काम चला सकता है?

एक तपस्या वह है जो समर्पणके परिणामस्वरूप आप-से-आप होती है और एक तपस्या वह है जिसका अनुसरण व्यक्ति किसी दूसरेकी सहायताके बिना अपने ही प्रयत्नसे करता है — "योगके दो मार्गों" में पिछलेसे ही मतलब है। किंतु तपस्याकी आगके रूपमें 'अग्नि' दोनों ही अवस्थाओं-में जल सकती है।

४-१-१९३७

"काम-वासना और इस प्रकारके दूसरे आवेशोंको बल मिलनेका प्रायः यह कारण होता है कि लोग इनपर बहुत अधिक ध्यान देते हैं।"[2]

वे अन्य आवेश कौन-से हैं जिनकी ओर इस वाक्यमें संकेत किया गया है?

यह प्रबल प्राणिक आवेशोंकी ओर संकेत है।

४-१-१९३७

"सारा जगत् इस विषसे भरा हुआ है और तुम हर सांसके साथ उसे अंदर ले रहे हो।"[3]

साधक कबतक छूत लग जानेके इस भयके वशमें रहता है? ऐसा प्रतीत होता है कि मुझे अब ऐसी छूत नहीं लगेगी। क्या मेरी प्रतीति विश्वासयोग्य है?

---

[1] वही, पृ० ४ [2] वही, पृ० ५ [3] वही, पृ० ६

मुझे नहीं लगता। इसके पूर्व कि कोई इतना सुरक्षित हो सके उसे मार्ग-पर बहुत दूरतक आगे बढ़ना होता है।

४-१-१९३७

"परंतु जिनमें आवश्यक नींव और आधार है उनसे हम ठीक इसके विपरीत कहते हैं: 'अभीप्सा करो और खींचो'।"[1]

क्या अभीप्सा करने और खींचनेकी यह क्षमता पहलेसे की जा चुकी महान् प्रगतिकी सूचक है?

नहीं। तुलनात्मक दृष्टिसे यह एक आरंभिक अवस्था है।

५-१-१९३७

"आध्यात्मिक अनुभूतिका अर्थ है अपने अंदर (अथवा बाहर, जो उस क्षेत्रमें एक ही बात है) भगवान्‌का संस्पर्श।"[2]

अपने "बाहर" स्थित भगवान्‌का क्या अर्थ है? क्या इसका अर्थ है विश्वगत भगवान् या परात्पर भगवान् या दोनों?

इसका अर्थ है बाहर पदार्थों, सत्ताओं, घटनाओं आदि-आदिमें भगवान्‌को देखना।

९-१-१९३७

क्या 'जान ऑफ आर्क'की प्रकृति दो प्रधान देवदूतों, 'अधि-मानस'की दो सत्ताओंके साथ[3] उनके सम्बन्धके कारण कुछ भी रूपान्तरित हुई थी?

मैं नहीं देख पाता कि रूपान्तरका प्रश्न यहां कैसे घुस आया। 'जोन ऑफ आर्क' योगका अभ्यास या रूपान्तरकी अभीप्सा नहीं कर रही थीं।

९-१-१९३७

---

[1] वही, पृ० ११-१२ [2] वही, पृ० १७ [3] वही, पृ० १८

व्यक्ति अधिक गहरे स्रोतसे आनेवाले स्वप्नमें और एक अन्त-र्दर्शन[1]में कैसे भेद कर सकता है?

इसके लिये कसौटी नहीं है, परन्तु यदि कोई निद्रामें नहीं, बल्कि उस आन्तरिक अवस्थामें हो जिसमें अधिकतर अन्तर्दर्शन होते हैं, तो उस समय उसपर जो संस्कार पड़ता है उसके स्वरूपके द्वारा वह सहज ही भेद कर सकता है। स्वप्नमें प्राप्त अन्तर्दर्शन और जीवन्त-स्वप्न-अनुभवमें भेद करना अधिक कठिन है, परन्तु व्यक्ति भेद अनुभव करने लगता है।

९-१-१९३७

कभी तो मनुष्य स्वप्नोंको याद रखता है और कभी नहीं।[2] ऐसा क्यों होता है?

यह जागनेके समय चेतनाकी दो अवस्थाओंमें सम्बन्धपर निर्भर है। सामान्यतया चेतनाका एक ऐसा पलटाव होता है जिसमें स्वप्नावस्था कम या अधिक आकस्मिक ढंगसे विलुप्त हो जाती है, और स्वप्नकी घटनाओंने अन्नमय कोषपर जो क्षणभंगुर छाप डाली थी उसे (या वस्तुतः उन घटनाओंके प्रतिलेखको) मिटा देती है। यदि जागरण अधिक शान्त (कम आकस्मिक) ढंगसे हो या, यदि छाप बहुत प्रबल हो, तो कम-से-कम अन्तिम स्वप्नकी स्मृति बनी रहती है। इनमेंसे अन्तिम अवस्थामें (अर्थात्, छापके प्रबल होनेपर) मनुष्य स्वप्नको चिरकालतक याद रख सकता है; किन्तु सामान्यतया उठनेके बाद स्वप्नकी स्मृतियां मिट जाती हैं। जो लोग अपने स्वप्न याद करना चाहते हैं वे कभी-कभी (जागनेके बाद) शान्त लेटे रहने और स्मृतिमें पीछे जाकर स्वप्नका सन्धान करनेका अभ्यास करते हैं और इस प्रकार वहां स्वप्नोंको एक-एक करके फिरसे पा लेते हैं। मनुष्य बोझिल स्वप्नावस्थाकी अपेक्षा हलकी-फुलकी अवस्थाके स्वप्न ज्यादा याद कर सकता है।

९-१-१९३७

"तुम्हारे पास ऐसी कोई चीज न होनी चाहिये जिसे तुम अपना

---

[1] वही, पृ० १३-१४ [2] वही, पृ० १४

कह सको, जो कुछ तुम्हारे पास आये उसे भगवान्‌के यहांसे आया हुआ अनुभव करो और उसे उसके मूल स्रोतकी भेंट कर दो। इस अनुभूतिको प्राप्त कर लेनेपर अत्यंत सामान्य-से-सामान्य चीज जिसपर तुम ध्यान नहीं देते या जिसकी साधारणतः परवाह नहीं करते, वह भी अकिंचन या तुच्छ नहीं रह जाती, वह अर्थपूर्ण हो जाती है और तुम्हारी दृष्टिके सामने दूरतक देख सकनेके लिये एक विशाल क्षितिज खोल देती है।"[1]

क्या यह अवस्था "अभीप्सा करो और खींचो" — जितनी आरंभिक है?

इतनी आरंभिक नहीं।

१४-१-१९३७

"परंतु यदि हम भगवान्‌के राज्यके लिये इच्छुक हों तो हम जो कुछ हैं, जो कुछ हमारे पास है और हम जो कुछ करते हैं, उस सबको हमें भगवान्‌के अर्पण कर देना चाहिये।"[2]

यदि कोई इसे पूर्णतया कर ले तो क्या उसे और कुछ भी करना होता है?

नहीं। परन्तु इसे पूर्ण रूपसे करना आसान नहीं।

१४-१-१९३७

हम यह कैसे पहचान सकते हैं कि कौन उस सबको, जो उ[सके] पास है और जो वह है तथा जो वह करता है, भगवान्‌को देता है?

तुम नहीं पहचान सकते, जबतक तुममें अन्तर्दृष्टि न हो।

१४-१-१९[३७]

[1] वही, पृ० २३ [2] वही, पृ० २४-२५

"संसारमें ऐसी कोई चीज है ही नहीं जिसका अन्तिम सत्य और आश्रय भगवान्में न हो।"[1]

इस बातको अनुभवके द्वारा पूर्ण रूपसे जान लेना बहुत महान् उपलब्धि, शायद अन्तिम उपलब्धि प्राप्त कर लेना है; क्या मेरा कहना ठीक है ?

हां।

१९-१-१९३७

"यह तो स्पष्ट ही है कि जो कुछ हुआ है वह होनेको था; यदि उस प्रकार अभिप्रेत न होता तो वह होता ही नहीं।"[2]

तो फिर, मनुष्यके जीवनमें पश्चात्तापका क्या स्थान है ? क्या साधकके जीवनमें उसका कोई स्थान है ?

पश्चात्तापका स्थान भविष्यके लिये उसके प्रभावमें है — यदि वह प्रकृतिको उस प्रकारकी वस्तु-स्थितिसे मुंह मोड़नेके लिये प्रेरित करे जिसने घटनाको उत्पन्न किया था। परन्तु साधकके लिये पश्चात्ताप नहीं, बल्कि क्रियामें गलतीको स्वीकार करना और उसके फिरसे न होनेकी जरूरत महसूस करना आवश्यक है।

१९-१-१९३७

"तुम कर्मके सांकलसे जकड़े हुए हो और इस सांकलके बन्धनमें रहते हुए जो कुछ होता है वह अचूक रूपसे पूर्वकर्मोंके परिणाम-स्वरूप होता है।"[3]

क्या "पूर्व कर्मों"का अर्थ है सभी विगत जीवनोंमें, बिलकुल पहले जीवनसे लेकर इस जीवनतकमें ?

इसका अर्थ है वस्तुओंको समष्टि-रूपमें ग्रहण करना। दार्शनिक अर्थमें, जो कुछ घटित होता है वह, काम करनेके क्षणसे पहले जो कुछ भी हो चुका है उस सबका परिणाम होता है। व्यावहारिक दृष्टिसे, विशेष परि-

---

[1] वही, पृ० २७ [2] वही, पृ० २७ [3] वही, पृ० २९

णामोंके भूतकालमें विशेष पूर्वकारण होते हैं और यही उन परिणामोंके निर्धारक कहे जाते हैं।

(ये उद्धरण कहांसे लिये गये हैं ? किसी वाक्यके ठीक-ठीक आशयमें कभी-कभी बहुत कुछ प्रकरणपर निर्भर करता है।[1])

१९-१-१९३७

"तुम्हें बहुत-से लोग इस बारेमें अद्भुत कहानियां सुनायेंगे कि इस सृष्टिकी रचना कैसे हुई, भविष्यमें इसकी क्या गति होगी, तुम पहले कैसे और कहां जन्मे थे और आगे क्या होगे, कैसे-कैसे जीवन तुमने बिताये हैं और अब कैसे-कैसे जीवन बिताओगे। परंतु इस सबसे आध्यात्मिक जीवनका कुछ संबंध नहीं।"[2]

ऐसे लोग जो कुछ कहते हैं वह सब क्या निरी बकवास है ? क्या आध्यात्मिक प्रक्रियासे भिन्न कोई और प्रक्रिया भी है जिसके द्वारा मनुष्य इन सब चीजोंको जान सके ?

प्राय: ही वह सब बकवास होती है, किन्तु यदि वह ठीक भी हो तो भी उसमें आध्यात्मिक तत्त्व कुछ भी नहीं होता। अनेकों माध्यम, अतीन्द्रिय-दर्शी या विशिष्ट योग्यतासे संपन्न व्यक्ति तुम्हें ये चीजें बताया करते हैं। वह योग्यता भी उसी तरह आध्यात्मिकतासे रहित है जिस प्रकार पुल बनाने या स्वादु खाद्य तैयार करने या गणितका प्रश्न हल करनेकी क्षमता। बौद्धिक क्षमताएं भी होती हैं और गुह्य क्षमताएं भी — बस इतना ही।

२०-१-१९३७

"वे (पिशाचों जैसे मनुष्य) मनुष्य नहीं होते, उनका रूप या दिखावा ही मनुष्यके जैसा होता है। . . . उनका तरीका यह है कि पहले तो वे किसी मनुष्यपर अपना प्रभाव जमानेका प्रयत्न

---

[1] श्रीअरविन्दकी इस टिप्पणीसे स्पष्ट ही है कि इस प्रश्नमालाके उत्तरके समय उन्हें पता नहीं था कि प्रश्नोंमें उद्धृत वचन 'प्रश्न और उत्तर १९२९' से लिये गये हैं।

[2] वही, पृ० ४०

करती हैं; फिर धीमे-धीमे उसके वातावरणमें घुस आती हैं और अन्तमें उसकी वास्तविक मानव आत्मा और उसके व्यक्तित्वको एकदम बाहर निकालकर उसे पूर्ण रूपसे अपने अधिकारमें कर सकती हैं।"[1]

'क्ष' ने एक लड़कीसे विवाह किया है जिसके विषयमें माताजीने कहा है कि वह कुछ हदतक पिशाच-जैसी है। तो क्या वह इन सब संकटोंसे घिरा है? उसे क्या सावधानियां बरतनी चाहिये? क्या मैं उसे चेता दूं?

सर्वप्रथम, यहां जो कुछ अभिप्रेत है वह यह नहीं कि पिशाच या प्राणिक सत्ता किसी एक मनुष्यके शरीरपर अधिकार जमाये होनेपर भी एक और मनुष्यको अपने अधिकारमें करनेका यत्न करती है। यह सब तो केवल इस बातका वर्णन है कि कैसे एक देहरहित (पैशाचिक) प्राणिक सत्ता मानव शरीरमें साधारण ढंगसे जन्म लिये बिना उसे अपने कब्जेमें कर लेती है —क्योंकि ऐसी प्राणिक सत्ताओंकी यही इच्छा होती है कि मानव शरीरको अधिकृत करें, पर जन्मके तरीकेसे नहीं। जब एक बार वे इस प्रकार मानवीय आकार ग्रहण कर लेती हैं तो दूसरोंके लिये वे संकट-रूप इसलिये होती हैं कि जो लोग उनके संपर्कमें होते हैं उनकी प्राण-शक्तिको ही वे अपना आहार बनाती हैं— बस इतना ही।

दूसरे, इस उदाहरणमें, माताजीने केवल यही कहा है कुछ हदतक पिशाच-सी। उसका यह अर्थ नहीं कि वह इन सत्ताओंमेंसे एक है, वरन् यह कि — उसमें कुछ हदतक दूसरोंकी प्राणशक्तिसे अपना पोषण ग्रहण करनेकी आदत है। 'क्ष' को कुछ कहनेकी कोई जरूरत नहीं। इस बातसे उसे केवल क्षोभ ही होगा, सहायता तो जरा भी नहीं मिलेगी।

२१-७-१९३७

माताजी कहती हैं: "योगका पहला प्रभाव होता है मानसिक संयमको हटा देना, इससे साधककी वे अतृप्त वासनाएं, जो उसके अंदर सोयी पड़ी रहती हैं, हठात् मुक्त होकर ऊपर उभड़ आती हैं और उसपर आक्रमण करती हैं।"[2]

---

[1] वही, पृ० ४१ [2] वही, पृ० ५

पहले वे (कामनाएं एवं विचार) इसलिये प्रबल नहीं थे कि उन्हें कुछ-कुछ तुष्ट किया जा रहा था या कम-से-कम प्राण सामान्यतया किसी-न-किसी ढंगसे उनका उपभोग कर रहा था। जब उनका पूर्ववत् उपभोग नहीं किया जाता तो वे दुर्दम हो उठते हैं। परंतु वे कोई नई शक्तियां नहीं होतीं जो योगद्वारा उत्पन्न की गयी हों — वे सब समय ही उपस्थित थीं।

मानसिक नियंत्रणके हट जानेका मतलब यह है कि मन उन्हें केवल दबाये हुए था, उन्हें हटा नहीं पाया। योगमें मानसिक नियंत्रणका स्थान चैत्य या आध्यामिक संयम ले लेगा। वह उस कामको कर सकता है जिसे प्राण नहीं कर पाता। बात यह है कि बहुत-से साधक यह अदला-बदली समयपर नहीं करते और केवल मानसिक नियंत्रणको हटा देते हैं।

१२-५-१९३३

माताजी कहती हैं: "जो हंसता, कूदता या चिल्लाता है उसको ऐसा भान होता है मानों उसकी उत्तेजना अत्यन्त असाधारण है और उसकी प्राण-प्रकृति इसमें बड़ा सुख मानती है।"[1] क्या उनके कहनेका मतलब यह है कि आध्यात्मिक अनुभूति होनेपर मनुष्यको अपनी उत्तेजनामें साधारण रहना चाहिये, असाधारण नहीं?

माताजीका यह मतलब बिलकुल नहीं था कि मनुष्यको अपनी उत्तेजनामें साधारण बना रहना चाहिये — उनका मतलब था कि वह मनुष्य केवल उत्तेजित ही नहीं होता, बल्कि अपनी उत्तेजनामें सबसे भिन्न (असाधारण) होना चाहता है। स्वयं उत्तेजना बुरी है और असाधारण प्रतीति होनेकी इच्छा तो और भी बुरी।

७-६-१९३३

इस वाक्यसे माताजीका क्या मतलब है: "जब तुम भोजन करो

[1] वही, पृ० ११

तो तुम्हें अनुभव होना चाहिये कि इस क्रियामें तुम्हारे द्वारा भगवान् ही आरोग रहे हैं" ?[1]

इसका अर्थ है भोजन अहंकार या कामनाको नहीं, बल्कि भगवान्‌को अर्पण करना जो सभी क्रियाओंके पीछे विद्यमान है।

११-१-१९३५

माताजी विचारोंकी शक्तिकी चर्चा करती हैं और उदाहरण देती हैं कि यदि "तुम्हारी यह तीव्र इच्छा है कि अमुक व्यक्ति तुम्हारे पास आये और इच्छाके इस प्राणमय आवेगके साथ-साथ यदि तुम्हारे बनाये हुए मनोमय आकारके साथ एक जोर-दार कल्पना भी जुड़ी हो...और यदि तुम्हारे विचारमय आकारमें कार्य-सिद्धिके लिये पर्याप्त इच्छा-शक्ति है, यदि उस आकारका गठन भली-भांति हुआ है तो वह अपना काम पूरा करेगा।"[2]

मान लें कि प्रस्तुत उदाहरणमें प्राणके अन्दर कोई प्रबल कामना न हो पर मनमें केवल विचार या धुंधली कल्पनाएं हों तो क्या वे उस व्यक्तिके पास जाकर उसे आनेको प्रेरित करेंगी ?

वे ऐसा कर सकती हैं; विशेषकर यदि वह व्यक्ति स्वयं भी आनेको इच्छुक हो तो वे उसे निर्णायक धक्का दे सकती हैं। परंतु अधिकतर दृष्टांतोंमें विचार-शक्तिके पीछे कामना या संकल्पकी आवश्यकता होगी।

२६-८-१९३६

माताजी कहती हैं कि उदासी और निरुत्साह नाड़ी-कवचमें छेद कर देते हैं और उनके कारण विरोधी आक्रमणोंका होना अधिक आसान हो जाता है।[3] एक अर्थमें इसका मतलब हुआ कि एक सदाशयी व्यक्तिको किसीके गलत विचारों, आवेगों

---

[1] वही, पृ० २३ [2] वही, पृ० ४९ [3] वही, पृ० ८७

या चेष्टाओंको निरुत्साहित नहीं करना चाहिये। परन्तु क्या यह साधारण जीवन तथा साधनाके सिद्धान्तोंके विपरीत नहीं होगा? ऐसे लोगोंके साथ बरताव करते समय चुप रहना भी एक तरीका है, परन्तु कभी-कभी वह भी उन्हें साफ-साफ निरुत्साहित करनेकी अपेक्षा अधिक चोट पहुंचाता है।

विषाद और अनुत्साहके जिन बुरे परिणामोंकी ओर माताजी-ने इंगित किया है, क्या वे साधारण जीवनमें भी होंगे?

विषादके परिणामके विषयमें साधकको दिये गये ज्ञानका उद्देश्य यह है कि वह इन चीजोंसे बचना सीखे। वह लोगोंसे यह आशा नहीं कर सकता कि वे उसकी विफलताओं या भूलोंके विषयमें केवल इस कारण चिकनी-चुपड़ी बातें करें या उसकी दुर्बलताओंको केवल इसलिये प्रश्रय दें कि उसने विषादमें ग्रस्त होनेकी तथा वैसी अवस्थाओंमें अपने नाड़ी-कवचको चोट पहुंचानेकी आदत डाल रखी है। अपनेको विषादसे मुक्त रखना उसका अपना काम है, न कि दूसरोंका। उदाहरणके लिये, कुछ लोगोंकी आदत है कि यदि माताजी उनकी इच्छाएं पूरी नहीं करतीं तो वे उदास हो जाते हैं — इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि उन्हें खुश रखनेके लिये माताजीको उनकी इच्छाएं पूरी करनी ही चाहिये — उन्हें मनकी इस आदतसे छुटकारा पाना सीखना होगा। अपने सभी कामोंके लिये प्रोत्साहन या प्रसंशा पानेकी लोगोंकी इच्छाके बारेमें भी यही बात है। मनुष्य यह कर सकता है कि वह चुप रहे या हस्तक्षेप न करे, किन्तु यदि इससे भी उनका चित्त खिन्न हो जाय तो यह उनका अपना दोष है, किसी और का नहीं।

निःसन्देह, साधारण जीवनमें भी यही बात है, — विषाद सदैव हानि-कारक होता है। पर साधनामें वह अधिक भयावह होता है क्योंकि वह लक्ष्यकी ओर निर्विघ्न एवं द्रुत प्रगतिमें प्रबल बाधा बन जाता है।

१८-७-१९३६

माताजी कहती हैं: "Même ceux qui ont la volonté de s'enfuir, quand its arrivent de l'autre côté, peuvent trouver que la fuite ne sert pas à grand' chose après tout." **अर्थात्: "जिन लोगोंकी इच्छा यहांसे भाग जानेकी है, वे भी, हो सकता है कि, दूसरी दिशामें पहुंचकर यह अनुभव करें कि आखिर**

इस प्रकार भाग आनेका कोई विशेष लाभ नहीं हुआ।"[1] इस वाक्यमें "arrivent de l'autre côté" का क्या अभिप्राय है? क्या इसका यह मतलब है कि "जब वे इस लोकमें आते हैं" या "जब वे उस नीरवताके लोकमें जाते हैं जिसका उन्होंने साक्षात्कार किया था।"?

नहीं—"arrivent de l'autre côté" का अर्थ इतना ही है: "जब वे मर जाते हैं"। माताजीका आशय यह था कि जब वे सचमुच निर्वाणमें पहुंचते हैं तो अनुभव करते हैं कि यह अन्तिम समाधान नहीं या परम प्रभु-का बृहत्तम साक्षात्कार नहीं, और अन्तमें उन्हें उस बृहत्तम साक्षात्कारतक पहुंचनेके लिये वापिस आना और जगत्कार्यमें अपना हिस्सा बंटाना होगा।

२-५-१९३५

माताजी कहती हैं: "इस पृथ्वीपर समस्त जीवनके साथ मृत्यु एक तथ्यके रूपमें लगायी गयी है।"[2] "तथ्यके रूपमें" और "लगायी गयी"—ये शब्द हमपर यह छाप डालनेकी प्रवृत्ति रखते हैं कि आखिर मृत्यु अटल है। परंतु उससे पहलेका वाक्य—"यदि इस विश्वासको पहले सचेतन मनसे... निकाल बाहर किया जाय तो मृत्यु अपरिहार्य नहीं रह जायगी"[3]—अर्थकी संदिग्धताको ले आता है क्योंकि यह मृत्युको उतना अटल रूप नहीं देता; यह एक शर्त—एक "यदि"—को जोड़ देता है जिससे मृत्युको टाला जा सकता है। परंतु "तथ्यके रूपमें"—इन पदोंवाले वाक्यमें अर्थकी जो सुनिश्चितता आती है वह मनुष्यकी भौतिक अमरत्वकी आशाको अपेक्षाकृत हल्का कर देती है। और फिर दूसरे वाक्यकी "यदि" वाली शर्त इतनी विकट है कि उसे पूरा ही नहीं किया जा सकता।

मुझे तो इसमें कोई सन्दिग्धता नहीं दिखायी देती। "तथ्यके रूपमें" और "लगायी गयी"—ये शब्द अपरिहार्यताका कोई भाव नहीं सूचित करते। "तथ्यके रूपमें" का अर्थ इतना ही है कि एक तथ्यके रूपमें वस्तुतः, आज

---

[1] वही, पृ० २५ [2] वही, पृ० ३६ [3] वही, पृ० ३६

जैसी वस्तुस्थिति है उसमें (भूतलपर) समस्त जीवनके साथ मृत्यु उसके अन्तके रूपमें जुड़ी हुई है; किन्तु यह इस विचारको तनिक भी प्रकट नहीं करता कि इससे उलटी बात कभी नहीं हो सकती या यह समस्त जीवनका अपरिवर्तनीय नियम है। कुछ कारणोंसे जिनका प्रतिपादन यहां किया गया है — कुछ एक मानसिक एवं भौतिक अवस्थाओंके कारण — वर्तमानमें यह एक तथ्य है, यदि ये परिवर्तित हो जायं तो फिर मृत्यु अटल नहीं रहेगी। स्पष्ट ही, यह परिवर्तन केवल तभी आ सकता है "यदि" कुछ शर्तें पूरी की जायं, — क्रम-विकासके द्वारा साधित समस्त प्रगति एवं परिवर्तन एक "यदि" की शर्तपर निर्भर करता है जो पूरी हो जाती है। यदि पशुगत मनको वाणी और तर्क-बुद्धिका विकास करनेके लिये प्रवेग न मिला होता तो मनोमय मनुष्य कभी अस्तित्वमें न आता, — परन्तु वह "यदि", — एक बड़ी भारी और विकट शर्त पूरी हो ही गयी। और आगेकी प्रगतिके लिये शर्त बांधनेवाली "यदियों" की भी यही बात है।

३१-७-१९३६

अनुक्रमणिका

अंतरात्मा दे० चैत्यपुरुष
अंतर्दर्शन
क्या उच्च आध्यात्मिकताका चिह्न हैं ? १३
को ठीक समझना मुख्य १३-४
और स्वप्न १४, ३१३
-ोंके प्रतीक जाति, परंपरा, धर्मके अनुसार भिन्न-भिन्न १४
क्या झूठे नहीं होते ? १६-८
को सत्य रूपमें जाननेके लिये १७
अंधकार
के लोक १४२
की गहराइयोंमें ज्योति १४३
अंधविश्वास

सूचना :

ऐसे पढ़ें :

कठिनाई	**कर्म**	**कामना**	**चीज**
-यां	-ोंके	-एं	ें, सब
कठिनाइयां	कर्मोंके	कामनाएं	सब चीजें

(२) जिन वाक्योंमें केवल शुरूमें (') है, वह अपने-आपमें पूरा वाक्य है। उन्हें मूल शब्दके साथ मिलाकर न पढ़ें।

(३) जहां (") का आरंभ नहीं दिखाया गया, वहां मूल शब्दसे पहले (") कल्पना कर लें।

(४) कहीं-कहीं अधिक स्पष्टताके लिये लिखा है :

(दे० 'विश्व' मिथ्यात्व भी), इसका मतलब है **विश्व** के नीचेका वह वाक्य जो मिथ्यात्व से शुरू होता है।

(५) पृष्ठ संख्याके बाद अ का मतलब है कि वह प्रसंग उस पृष्ठके अंतसे शुरू होकर, बस, अगले पृष्ठके आरंभतक ही गया है।

(६) जहां वाक्य-रचना मूल शब्दके साथ संगत न जान पड़े, वहां मूल शब्दके आगे कोष्ठमें जो शब्द दिया गया है उसके साथ मिलाकर पढ़नेसे वह संगत बन जायगी।

(७) * संकेतका मतलब है 'धम्मपद' के वचन। जहां यह संकेत किसी पृष्ठसंख्याके आगे है तो वह पृष्ठसंख्या, जहां वाक्यके आगे है तो उस वाक्यकी पृष्ठ संख्याएं और जहां मुख्य शब्दके आगे है तो उस मुख्य शब्दके सब वाक्य और पृष्ठ संख्याएं 'धम्मपद'के वचनोंकी हैं।

'अंधविश्वासी नहीं, पर निर्वाणको जो जानता है २२०-२१
अकिञ्चन दे० 'अधिकार'
अग्नि [लौ]
हृदयगुहामें १, ३१०
अभीप्साकी : प्रभाव १३५-३६, १३९, २०१-२
तपस्याकी ३११
अचेतनता : फल २, १८९
अच्छा
और बुरा : की धारणा ११७
बननेके लिये जो कारण लोग देते हैं २५६
बनना : प्रेरक हेतु २६५, २८६-८७ (दे० 'घटना' भी)
अज्ञान ५५, ९९
-जनित दिलचस्पी ९४
और भ्रमके इतने दिन टिके रहनेका कारण ९४
का अर्थ १८२, २६४अ
[अविद्या] महामल १८१, *२६१, २६४
अति
का होना बुरा १८१
'किसीको दुःख न पहुंचाने' के सिद्धांतकी २४९
अतिमानस
की दृष्टि २८, ९३अ
और मनके बीच अनेक भूमिकाएं ९२; मध्यवर्ती भूमिकाओंका संपर्क भी चौंधियानेवाला ९२
की और मनकी दिलचस्पी विश्वकी गतियोंमें ९३-४
के द्वारा ही जगत्का दिव्य रूपांतर १५५, १६५, १६९
और अधिमानस १६४-६५
का प्रभाव १६९
की झांकी २४०-४१; यह संभव अहंमुक्ति या चैत्यद्वारसे २४०-४१
(दे० 'वैज्ञानिक' भी)
अतिमानसिक
अभिव्यक्ति १३७, १३८, १५४-५५
नमनीयता १६५-६६
रूपांतर, तब एक स्पष्ट तथ्य होगा १६६ (दे० 'रूपांतर' भी)
उपलब्धि १६७-६९
अवतरण १६९
(दे० 'सामंजस्य' भी)
अधिकार
में कुछ न होना : अर्थ २५३-५४
अधिमानस १८, १५७, १६४-६५
अनासक्ति [अलिप्तता] *३०१
भौतिक वस्तुओंके प्रति, 'मृत्यु अगले मुहूर्त' की भावनासे १७८
का आनंद २५३
परम ३०५
(दे० 'आसक्ति' भी)
***अपना**
स्वामी आप २३७, २९६
(दे० 'लाभ' भी)
***अभिवादनशील**
की चार बातें बढ़ती हैं २२३
अभीप्सा २६, १६८, २४४
भगवान्के लिये होना १
जाग्रत रखना १
करो और खींचो ११अ, ३१२, ३१४ (दे० 'साधक' भी)

सच्ची, तो सहायता अवश्य ३३, ३४, १८४
पौधोंमें ७०, १३०
भौतिकमें १३० (दे० 'भागवत प्रेम' भी)
'आत्मा'की, का आरंभ ७३
के गुणपर निर्भर कि कौन-सी शक्ति उत्तर देगी ९६, ९७
चैत्य सत्ताको पानेके लिये १२४
का मतलब १६०अ
(दे० 'अग्नि', 'पुकार', 'संकल्प' भी)
अमरता १६२
पार्थिव, की संभावना अब निकट (श्रीअरविंद) १७८
अवचेतना का कार्य जीवनमें ५६
अवतार ७५
का जब-जब आविर्भाव . . ३८-९
आया और बोला : मैं मुक्ति ला रहा हूं, शांति ला . . ३९
का काम १६८
यदि कारागारमें १६९
(दे० 'भागवत अवतरण', 'भागवत प्रेम' भी)
अवसाद [उदासी, खिन्नता, निरुत्साह] ६, ८५, १३६, १३७, १५०
के परिणाम ५५, ३१९-२०
का कवच-शरीरपर असर ८७, ३१९
उत्पन्न करनेवाला वातावरण १९२
से मुक्त रखना साधकका अपना काम, न कि दूसरोंका ३२०
अशुद्धि : अर्थ १८१
अशुभ [बुराई] दे० 'जगत्'
अष्टांगिक मार्ग [सम्यक्‌दृष्टि, सम्यक् संकल्प आदि] २४८-४९
असत्य १८५
पर विजय १३७-३८
के अधिपति १३७
से चिपक १३८
(दे० 'सत्य', 'विश्व' मिथ्यात्व भी)
***असत्य भाषण** [झूठ बोलना] १८९, २५७, २६२, २७९
असफलता १६३, १७७
***असाधु** [दुःशील] २५७, २८३
अहं ११८, १८१
और वास्तविक सत्ता १२५, १४४
की चिंता १५२
अक्खड़, गुण-अग्राही १६५
में और अहंके लिये जीनेवाला मूर्ख २१३
का होना अनिवार्य था, पर उसीसे आती हैं बाधाएं, दुःख-कष्ट २१३, २३८, २३९
जब अदृश्य हो जायगा २१३
और स्वार्थपरता २३८-४०
को पकड़ पाना कठिन २३८
-हीन होनेकी राहपर २३९-४०
से छुटकारा : नकारात्मक और सकारात्मक उपाय २६८-७०
***अहिंसा** [दुःख न पहुंचाना] २४९, २५८, २६६, २६८, २७७, ३०२

आ

आंतरिक वाणी [विधान]
सुनना ८-९, १९

सुनना : फल २८२
आइन्सटाइन ९२
आकर्षण-विकर्षण ८७-८, ९८-१००
आचरण
में लाना ज्ञानको *१९२, १९३, २२५, २७४, ३०५
और सुभाषित वाणी *२०७, २०९
आत्म-निवेदन
'यह रहा मैं अच्छे-बुरे गुणोंवाला .. १२५अ
एकदम नहीं कर सकते १२६
एकीकृत १२६
आत्मनिरीक्षण दे० 'विचार'
आत्म-संतुष्टता १२६, १३५, १६५, २३६
आत्म-संयम दे० 'संयम'
आत्म-संरक्षण सहजात ९९, १८९
आत्म-स्नेह *२७२, २७३
आध्यात्मिक अनुभूति
का अर्थ १७, ३१२
सर्वत्र समान, भेद रूपोंमें १७
आध्यात्मिक जीवन
की एकमात्र आवश्यकता २०
जीना और ध्यानादि साधनाएं २१-२
में प्रवेश : भगवान्में गोता २१-२
में गोता कैसे ? २१-२
का उद्देश्य ११६
की मांग ११७
के लिये आवश्यक गुण १८१, १८२
बुद्धके कालमें और आधुनिक युगमें १९५-९८
(दे० 'योग' भी)
आध्यात्मिक नवजन्म ८२, १६६-६७
आध्यात्मिक विजय
के लिये आवश्यक चीजें २०६
आध्यात्मिकता
सामान्य लोकदृष्टिमें ५३, ९१
और नैतिकता ११६-१७
(दे० 'चैत्य भूमिका' भी)
आनंद १२३, *२९५
निःस्वार्थ १५२
की स्थिति, चीजोंके पास होने या न होनेमें २५३ (दे० 'समता' भी)
का अर्थ २५३
बिना मिलावटके २५६
सच्चा : इच्छाओंकी मुक्तिसे २६८
अपने विषयमें न सोचनेसे २७० (दे० 'चिंता' भी)
***आर्य** २६०, २६८
आविष्कार आधुनिक : फल १९८
आवेग [आवेश] ५, ३११
-ोंपर संयम १९९, *२००
(दे० 'कामवासना', 'संयम' भी)
आश्रम
में चैत्य प्रभाव १२४
में भौतिक सुखकी मांग जब अस्वीकृत .. १२९
में सहनशीलताकी आवश्यकता १३४
और अतिमानसिक अवतरण १६९
(दे० 'पुनर्जन्म', 'भागवत अवतरण', 'साधक' भी)
आसक्ति
कोई न हो ९, ४७
से बाहर निकलनेपर छटपटाहट कब २०५

*परिवार, पुत्रादिमें व सांसारिक चीजोंमें २७३, २७४, २९०
-योंसे मुक्ति २४८
का कारण २५३
(दे० 'अनासक्ति' भी)
*आस्रव [चित्त-मल]
अस्त होते हैं जिनसे २५८, २७६
बढ़ते हैं जिनसे २६३, २७५

ई

ईर्ष्या ११५, १७६
ईसामसीह १७, ६७, ७४, ७५, ७८
ईसाई धर्म की स्थापना ७४

उ

उदार और लोभी ११७-१८
उदाहरण
कोई दो, एक-से नहीं होते १५४
उदाहरण
बच्चा, बंदरका और बिल्लीका ४
उद्धत बालकके साथ जैसा व्यवहार ७
योगी : 'मेज हटा लो' ७-८
अंधे मनुष्यको आंखें ८
नौजवान योगेच्छु, पिता नीच १०
एक बूंद पाकर ही जब तुम नाचने . . . ११
बादलोंके कारण सूर्यके आकारमें हेरफेर १२
पर्वतपर रथको खींचते छः घोड़े १३-४
सिद्धिके लिये दिनके प्रयासको रात्रि निगल . . १५
ईसामसीहको देखा ऐसा कहनेवाले १७
एक ही अंतर्दर्शन यदि हिंदू, मुसलमान या अन्य धर्मावलंबीको हो १७, १८
यहां ध्यानके लिये कुछको कहा गया है किंतु कुछको . . .२०अ
ध्यानमें बाधासे क्षुब्ध २१
सप्ताहमें एक बार गिरजाघर २१
समुद्रमें गोता २१
ध्यान और टहलनेमें अलग-अलग चेतना २४
निरर्थक पुस्तक, २७
घटिया संगीत २७
नाटकका पात्र २९
कठपुतलीकी तरह ३०
चित्र आंकनेके लिये सीमा ३१अ
केश-नाखून भी अपनेसे अलग न करनेवाले ३५
भूकंप, बाढ़ ३७
एक कसरतको बारंबार ३९अ
पत्र-व्यवहार प्राणमय सत्तासे ४२
प्राणमय सत्तासे अधिकृत वैरागी बनकर भी दुष्ट ४५
मुरगीके बच्चोंकी तरह ४७
पत्थर ४८, ६८
इच्छा कि अमुक व्यक्ति तुम्हारे पास आये ४९, ३१९
मातृदेवो भव . . ५२
अहिंसा परमो धर्मः ५२, ५३
योगी या योगिनीकी हमारी कल्पना ५२-३

अस्पतालमें काम करनेवालोंके हाथ ५५
छना हुआ पानी पीना ५६
समुद्रका व आगका भय ५६
अनेकों भीषण अग्निकाण्ड ५६
छड़ी, पानीमें ५८
दौड़-धूप और कूद-फांद कर्मकी, समुद्रपर फेन, कटोरेके जलको थपेड़ना ६६
सूर्यास्त : वृक्षोंसे उठती अभीप्सा ७०-१
खोज एक अंधेकी तरह ७३
ईसा और बुद्ध, दोनों स्वयं होनेका दावा करनेवाला ७८
यूरोपमें जन्म, पर भारतीय ८०
नये धर्मसंस्थापकका पुत्र ८१
घमोरी, गला बैठना ८२, ८४
बड़ोंको रुकना पड़ता है ताकि पिछड़ा लड़का ८४, ८५अ
चर्मरोग, दंतरोग ८८
भयसे हैजा ८९
इंजीनियर . . मेहराब ९१
कठपुतलीका तमाशा ९४
एक दर्जन सच्चे मनुष्य ९७
सांप-बिच्छू ९८
खतरनाक, खूंखार पशु ९९
लड़की, नर्तकी, कूटनीतिज्ञका लड़का योगसे . . १०३
लोग, जो योगी नहीं कहाते, पर . . १०५
तसवीर बैठकमें १०७, १०८
समुद्रमें जलकी एक बूंद ११३, ११४, १३३
लड़ो यदि अधिक तगड़ेसे ११४
दुनिया सिरके बल १२५
नदी जैसी निरंतरता १२५
पिछले युद्धमें सैनिकोंके कष्ट १३४
पैरिसकी कला-प्रदर्शनीका उद्घाटन १३५
डरपोक १३९
डाकू और उसका साथी १४०
बंदर योनिकी याद १४३अ
अगर कोई तुम्हें मारने आये १४८, १४९
अकेले आदमीके कारण जनसमूह बच गये १४९
उपन्यासका कथानक १४९
स्त्री, जिसके बाल झड़ते जा रहे थे १५०
चाकू १५०
अगर कोई तुमसे नाराज हो १५३
स्वप्नका बाघ, बिल्लीमें १५८
बाघ या सांपकी आंखमें सीधे ताको तो १५८अ
पेड़के साथ तादात्म्य १६०
चेहरा मनका सूचक १६२
*गाड़ीका पहिया जैसे बैलोंके पैरोंका पीछा १७३
*छाया जैसे मनुष्यका पीछा १७४
*मेरी निंदा की, मुझे मारा १७५
जज १७६
*वायु जैसे दुर्बल वृक्षको १७९
*वायु जैसे शैलपर्वतको १८०
शुतुर्मुर्ग १८३
*चूनेवाली छतमेंसे जैसे पानी १८६, १८७
मानसिक शांतिसे संत्रस्त लोग १८७
*ग्वाला जैसे गायोंको १९२, २३०

जेबमें ठोस सिक्के १९६
स्वादु भोजन १९७
नाकपर घूंसा १९७, २३९
गडरिया उस युगमें १९८
*द्वीप १९९, २६०, २६१
पर्वतपरसे मानों भू-स्थित लोगोंको देखना २००
*माता-पिता जैसी भलाई २०४
*बाढ़ जैसे सोते गांवको २०७, २७३
*भ्रमर जैसे पुष्प-रसको २०७
*पुष्पकी गंध २०८
*कमल, कूड़े-करकटमेंसे २०९
*जागनेवालेके लिये रात, थके हुए के लिये योजन, मूर्खके लिये जीवन-चक्र लंबा २१०
*पुत्र मेरा, धन मेरा २१०
*कलछी जैसे सूपरसको २१०
*जीभ जैसे सूपरसको २११
*ताजे दूधमें जैसे विकार २१२
*भस्मसे ढकी आग २१२
निधियोंको बतानेवालेकी तरह बुराईको दिखानेवाला २१४, २१६
*नहरवाले पानी ले जाते हैं, बाण बनानेवाले बाण ठीक करते हैं, बढ़ई लकड़ी ठीक करते हैं २१५, २३२
*पहाड़ जैसे हवासे कंपायमान नहीं २१५
*निर्मल सरोवरकी भांति स्वच्छ २१५, २१९
*किनारे-ही-किनारे दौड़नेवाले २१५
फलके अंदर कीड़ा २१७
*हंस २१८, २४२
*आकाशमें पक्षियोंकी गतिकी भांति अज्ञेय २१८
*सुशिक्षित घोड़ेकी भांति २१९, २८४, २९६
*इन्द्रकीलके समान २१९
*पृथ्वीके समान २१९
*रमणीय भूमि २१९अ
*यजन-पूजन २२२
*बूंद-बूंदसे घड़ा २२६
*भययुक्त रास्तेको जैसे धनी बन-जारा छोड़... २२६
*विषको जैसे जीनेकी इच्छावाला छोड़ देता है २२६
*व्रण-रहित शरीरमें जैसे विष नहीं लगता २२६
*धूल, फेंकनेवालेपर २२७
कोई चीज पसंद न आये तो तुम्हारी प्रतिक्रिया २२८
मकान साफ रखनेके लिये देरतक सावधानी २२९
पुलिस बनकर निगरानी २२९
*टूटे कांसेकी तरह निःशब्द २३०
*जटाधारण, पङ्कलेपन, उपवास, कठोर शैया, मृगचर्म २३१, ३००
*अलंकृत रहते भी यदि शांत २३१
*दीपक २३३
*शरत्कालीन लौकी २३४
*बैल २३४
*मछलीरहित सरोवरके पास बूढ़ा क्रौंच पक्षी २३५
*वज्रमणि २३७

*मालुव लता २३७, २८७
दरवाजेमें चाबीका छेद २४१
*बुलबुला, मरु-मरीचिका २४२
*मेघसे मुक्त चंद्रमा २४२, २९७
*जालसे मुक्त पक्षी २४२
*स्वर्णमुद्रा २४६, २५९
अधरोंपर रूमाल, रास्ता बुहारते चलना २४९
दोनों हाथोंसे कौर निगलना २५०
आकाशके नीचे, समुद्रके आगे, पेड़ोंतले बैठ जाओ २५०
*चंद्रमा जैसे नक्षत्रपथका २५३
*चिर-प्रवासीका आगमन २५६
*सारथी २५७
*मात्र लगाम पकड़नेवाले २५७
*पीले पत्तेके समान २६०
*सोनार जैसे चांदीके मलको २६१
*लोहेसे उत्पन्न मुर्चा उसे ही खा डालता है २६१
*कौए जैसा निर्लज्ज २६२
*भुस उड़ाना २६३
*जुआरी जैसे पांसेको ढांकता २६३
*आकाशमें पद नहीं २६३
*मंत्रका जाप २६४
*सिर मुंडाना २६७
पंखोंको खोल सीधे शिखरतक उड़ जाना २७०
*सारे वनको काटो, केवल झाड़ीको नहीं २७२
दूध पीता बछड़ा जैसे मातासे बंधा *२७२, २७३
*शरत्कालीन कुमुद २७२, २७३
*उत्तम घोड़ा जैसे कोड़ेको २३१
*वर्षा, हेमंत, ग्रीष्ममें वासकी योजना २७३
धन इकट्ठा करते, कलकी योजना बनाते, पर . . २७३अ
*माता-पिता : तृष्णा-अहंकार २७६
*दो क्षत्रिय [श्रोत्रिय] राजा २७६
*हिमालयकी धवल चोटियोंकी भांति प्रकाशित २७७
*रातमें फेंके बाणके समान २७७
जंगलमें जाकर अकेले रहनेवाले वहां पौधोंके मित्र २७८
*तप्त लोहेका गोला खाना २७९, २९५
*कुश २८०
*सीमांतका नगर २८१
युद्धमें जैसे हाथी *२८३, २८६
*धनपालक नामक हाथी २८४
*पला मोटा सूअर २८४
*महावत जैसे मतवाले हाथीको २८४
*पंकमें फंसा हाथी २८५
*राजा जैसे पराजित राष्ट्रको छोड़ . . . २८५
बेहूदा बातें तुम्हारे बारेमें या मजाक तुम्हारा . . २८६
*वानरकी भांति वह फलेच्छासे भटकता रहता है २८७
*वीरण तृणकी भांति उसके शोक बढ़ते हैं २८८
*कमल-पत्रपर जैसे पानी २८८, ३०१
*खसके लिये उषीरको खोदते २८८
*जड़से न कटा वृक्ष फिर उग २८८
*खरगोशकी भांति चक्कर २८९

*बंधन लोहे, लकड़ी, रस्सीके २९०
*मकड़ी अपने बनाये जालेमें २९०
*नावको उलीचो २९४
*जूही जैसे कुम्हलाये फूलोंको गिरा देती है २९६
*सूर्य दिनमें, चंद्रमा रातमें तपता है, ब्राह्मण . . २९८अ
*नंदी, वरत्रा, संदान, परिघ ३०१
*आरेकी नोकपर सरसों ३०१, ३०२
*चंद्रमाकी भांति विमल ३०३
स्वादु खाद्य तैयार करने या गणितका प्रश्न हल करनेकी क्षमता ३१६
'क्ष' का पिशाच-सी लड़कीसे विवाह ३१७
(दे० 'आश्रम', 'श्रीअरविंद', 'श्रीमाताजी', 'जीवन' भी)
उद्देश्य दे० 'लक्ष्य'

ऊ

ऊब [खालीपन] २४९-५०
***ऊर्ध्वस्रोत** २५५

ए

एकता दे० 'तादात्म्य', 'हृदय'
एकाग्रता
भगवान्‌पर : हृदयकेन्द्रमें १; के दूसरे केन्द्र १
(दे० 'ध्यान', 'बनना' भी)
एकांत [अकेले रहना] *२८५
सच्चा २७८-७९
एकीकरण (सत्ताका) ७, २३, ३०अ, १२४, १२५, १२६, १४०अ, १४२, १४४
एमिल कूए दे० 'कूए'

क

कठिनाई [आघात, बाधा, मुसीबत, विपत्ति] २७
-यां अग्नि-परीक्षाएं ३३, ५२
पारकर जब बाहर निकलोगे ३३
-यां, योगमें ५१-४, १३९
-यां तुम्हारी मानसिक रचनाओंको तोड़नेके लिये भी ५२-४
-यां भय-मुक्त करनेके लिये भी ५६-७
-योंका अंत तभी १२६, २०२, २७५
-योंका सामना १३४, १३६, १३९
की प्रकृति बताती है : किस प्रकारकी विजय प्राप्त करोगे १३९
-यां खेलका अंग, इस जीवनमें अगर नहीं तो अगले जीवनमें. . १४०
का कारण १५२
-योंको जीतनेके लिये २६४-६५
-यां पूर्णताकी ओर बढ़नेपर २६५, २८६
को नया अर्थ. . २८२
(दे० 'दुःख', 'परिस्थिति', 'सत्पुरुष', 'समर्पण' भी)
कर्म
-साधना २०अ
-ोंके कर्ता होनेका भान ५९
में चालित चैत्यपुरुषद्वारा ६२

का भ्रम ६६-७
सच्चा, चंचल कर्मण्यताद्वारा नहीं ६६-७
सार्थक, एक दिन करनेके लिये एक वर्ष शांत रहना ६७
अपने ही सुगति, दुर्गतिकी ओर ले जाते हैं १९०, *२६१
सम्यक् २४९
*शिथिल २८०
(दे० 'काम', 'पाप', 'समर्पण' भी)
कर्म [कर्मफल] १६७
की सांकल २९, ५७, ३१५-१६
को बदल सकते हो ३०
कला
और योग १०१-११
सच्ची १०२, १०६, १०७
का उद्देश्य मध्यकालीन युगमें १०२
-कृतिमें क्या योगसे उन्नति? १०२-३, १०४-५
और योगमें मूल सिद्धांत १०२अ
और जीवन १०६-७, १०९
कलाके लिये १०७
यूनान, मिस्र, जापान व भारतमें १०७
की अधोगतिका काल १०८
का आजकल अर्थ १०८
का पुनरुज्जीवन १०८
(दे० 'संगीत', 'नाटक', 'नृत्य' भी)
कलाकार १४२
क्या योगी हो सकता है? १०१-३, १०४-५, १०८ (दे० 'संगीतज्ञ' भी)
सच्चा १०२, १०३, १०४, १०८
प्रायः चरित्र-भ्रष्ट, क्यों? १०३-४
की प्रेरणा योगमें केवल एक कारण से बंद १०४
अधिकांश १०४, १०६
उच्चकोटिका, होना संभव क्या योगमें? १०५
बौद्ध भिक्षु १०५
(दे० 'चित्रकार' भी)
कल्पना
की शक्ति १४९-५१
का उपयोग योगमें १५०
का प्रयोग श्रीअरविंदके रूपांतर-कार्यके लिये १५०अ
(दे० 'विचार' भी)
काम [कार्य]
ग्रहण करने और छोड़नेमें समभाव ९
करणीय, को जानना १९, १५३
को सत्तापर दबाव डालकर करना ११३
करने लायक १४९, १६३, १८०, २०९, २१३, २४४, २६८-७०, २८६-८७, ३०५-६ (दे० 'चीज' एकमात्र महत्त्व भी)
-ों, निजी, की कुरूपतासे सचेतनता १८८-८९
यहीं, जीवनमें, कर लेनेकी कोशिश करनी चाहिये १९०
दोषपूर्ण : प्रभाव १९२ (दे० 'पाप' भी)
अच्छा, सौजन्यपूर्ण : फल १९२
सोच-विचारकर १९९
उत्तम रूपमें करो, बोलो थोड़ा २०९
*ठीक और अ-ठीक : पहचान २११

व्यक्ति हमेशा कुछ-न-कुछ खोज निकालेगा २७८
(दे० 'प्रयास', 'परिणाम', 'मंत्र' भी)
कामना [इच्छा] ४७, १८४
के फलस्वरूप भी वस्तुओंकी प्राप्ति १०
-एं और लालसाएं मृत्युके बाद ४१
ध्यानके विशिष्ट रूपकी ९७
-मात्रका त्याग ९९, ११५, ११७
के दुष्परिणाम ११५,*२०७,*२५५
-एं प्रकृतिकी लहरें ११५-१६
-एं अच्छी या बुरी ! ११७
का उद्भव ११७
-ओंमें खुल खेलना १३१
भूलपर आग्रहका कारण १८३
-ओं, उचित, का अनुसरण १८५
कोई, नहीं होनी चाहिये १८५
के विषयको बदल देना १८५
*समाप्त नहीं हुई तो शुद्धि, न नंगे रहने, न जटासे . . २३१
*-ओंकी तृप्ति २४६
दुःखका कारण २४८, *२८८
-ओंसे मुक्ति : आसान नहीं २६८-६९; कार्यका नकारात्मक पक्ष २६९
(दे० 'कामवासना', 'तृष्णा', 'भगवान्', 'प्रगति', 'भूख' भी)
कामवासना ४५, ३११
से खतरा योगमें ५
जैसे आवेगोंको बल मिलनेका कारण ५
जैसे आवेगों, इच्छाओं व संदेहोंके साथ व्यवहार ५, ३४अ
काषाय वस्त्र २७९
का अधिकारी १८०-८१
काल
हर घटनाका क्या निश्चित है ? २८
सापेक्षिक है ६५अ
(दे० 'देश और काल', 'समय' भी)
कूए [एमिल कूए] ३५, १५०
***कृपण** [कंजूस] २४३, २५७, २६१, २६२
कृपा दे० 'भागवत कृपा'
कृतज्ञता १९७, २१६
कौशल [प्रवीणता] १०६, १०८, ११०
क्रोध १५३, १५९, *२५७
क्वानोन जापानियोंकी देवी १८
***क्षमा** २४५, ३०१

ग

गीता श्रेष्ठ साहित्य १०५
गुरु *२९१
स्वयं-नियुक्त ६
महत्त्वाकांक्षी ९
'जगद्गुरु ७५
के सामने दोष-स्वीकार १३८
मिलना १४७
ग्रहणशीलता ३८, ८४, १३०
(दे० 'शरीर' भी)

घ

घटना
घटित, की आवश्यकता २७, ३१५
'जो कुछ होता है क्या अच्छे-से-अच्छा होता है ? १४८

(दे० 'भगवान्'की ही, 'समर्पण' भी)
घृणा ९८, ११५, १७६, १७७

च

चमत्कार ३१, ९१, १४७
चिंतन
बंद कर देना, उच्चतर प्राप्ति १८७
चिंता (अपनी) २७३
करनी न पड़े २५६-५७
(दे० 'आनंद' भी)
चित्त दे० 'आस्रव', 'मन'
चित्रकार
में नेत्रोंकी चेतनाकी वृद्धि १०३
चीज
प्रत्येक, का अंतिम सत्य भगवान्में २७, ३१५
का वास्तविक मूल्य स्वतंत्र चुनावमें ७९
का उपयोग किस प्रकार किया जाता है, इसपर सब निर्भर १०९
एकमात्र महत्त्वकी १२३, १६४, २०९, २७०, ३०५अ
–ें, सब, अनित्य हैं १५३, २४८, २७१, २७४ (दे० 'सापेक्षता' भी)
एकमात्र पाने योग्य २१३
चुनाव
प्रतिक्षण २, १९४
संभावनाओंमें २८
स्वतंत्र, अपने परिवार, देश, धर्मका ७९-८०, ८१
बुरा २४३-४४
चेतना
जिसमें भगवान्के बिना कुछ नहीं हो सकता २६
की एक भूमिकाके नियम दूसरीपर लागू नहीं २९, ३१, ५८
की द्विविध गति : आरोहण और अवरोहण ३०-१
विशाल और देहसीमित ३५
अज्ञानको दूर करती है ९९
अधिक, की जरूरत ९९
पूर्णता-प्राप्त, के प्रकाशमें चीजें अपने असली रूपमें ९९; इसे पानेका उपाय ९९
दर्पण-सी; सर्चलाइट-सी ९९
के रूपांतरके योग्य कब १२७
को ऊंची-से-ऊंची स्थितिमें रख सको तो . . १४८
की सीढ़ीमें एक डंडा और १६८
व्यक्तिगत, में निरंतरता नहीं २४८
शुष्क, कण्टकाकीर्ण २५६
की आदर्श स्थिति २५६; इसके लिये प्रयास क्यों नहीं करते २५७
चैत्य चेतना [उपस्थिति]
और चैत्य सत्ता १४३, १४४-४५
चैत्य जगत्
पर विरोधी शक्तियोंके आक्रमण नहीं ६१
चैत्यपुरुष [चैत्यसत्ता, हृत्पुरुष, अंतरात्मा] २२
ही तुम्हारी सत्य सत्ता १
का अनुसरण करो १
एकीकरणका केंद्र ७, ६१अ, १२४, १२५, १४२

से एकात्मता [संपर्क] : फल ७, ६२, १२३-२५, २४४
के बारेमें ६१-२
तुम्हारा शाश्वत व्यक्तित्व ६२
और विश्व चेतनाका व्यवहार ६२
में ही सच्चा विवेक १२४
को जाननेके लिये १२४-२५
से मेरा मतलब १२४
का नया शरीर १४१
स्वभावसे ही अमर १४२
का लक्ष्य १४२
का आरंभ जानवरोंमें १४६
सिर्फ मनुष्यमें (कैथोलिक धर्म) १४६
का ज्ञान १४६
(दे० 'अतिमानस' भी)

चैत्य प्रेरणा के बारेमें तर्क १४७

चैत्य भूमिका
और 'अध्यात्म' भूमिका ६३

ज

जगत् [संसार, दुनिया]
के विषकी छूत ६, ३११अ
से उपलब्धि-प्राप्त लोगोंके हट जानेका परिणाम २४
से भागनेवाले भी दूसरी दिशामें पहुंचकर . . २५, ३२०-२१
में प्रेमका अवतरण, तभीसे यह जीवनके आदिस्रोतकी खोजमें ७२-३
सारा, रूपांतरकी प्रक्रियामें ८४
में बुराइयां कहांसे, यदि भगवान् सृष्टिके मूल हैं? १००
की रचना १००, १६६
के प्रति दृष्टि १२७, १५४-५५, *२४२
का सुधार नहीं, परिवर्तन १२८
को बदलनेके लिये १४८, १५४-५५, १५६, १६३, १६४-६५, १६९, १७७-७८
वर्तमान रूपमें १५६, १६२, २३२
*इस, में और परलोकमें सुखी २४१, २४३
(दे० 'विश्व', 'रूपांतर' भी)

जगत् (जड़, भौतिक)
पर विजय २४अ, १६३
हमारा, क्या सबसे नीची श्रेणी-का? १००-१
में सभी जगत् संकेंद्रित १०१
एक दिन सुन्दर होगा १०१, १६९, २४४ (दे० 'जीवन' भी)
को ही सत्य मानना १९६ (दे० 'प्रकृति' भी)
(दे० 'अतिमानस' भी)

जड़तत्त्व ३३
के विकासका अर्थ ३६
की अवस्थाओंने मृत्युको अनिवार्य बनाया ३६-७, ८४-५
की कठिनाईका सामना ३९
में उपलब्धि ३९
में संवेदन-क्षमता प्राणसे ७१, १४०
अज्ञानांधकारका पर्याय नहीं १०१
(दे० 'रूपांतर' भी)

जड़वाद
आधुनिक, का परिणाम १९५-९८

जन्म
हमारा विभिन्न देशों, विभिन्न धर्मों-में हो चुका है ८०

*और जराके फेरमें और उनसे मुक्त २८९-९०
(दे० 'पुनर्जन्म' भी)
जागरूकता [अप्रमाद] *२८५
का अर्थ १९४
दो प्रकारकी १९४-९५
का फल २०२, *२०४, *२५८
*'जागरूक वे हैं जो २७६-७७
(दे० 'सचेतनता' भी)
जाति
-गत सुझाव ९८
'जातीय श्रेष्ठता १४५
जानना
भागवत संकल्पको ८, १९अ
अपनी चाहको १०
करणीय कामको १९, १५३
अपनी सच्ची सत्ताको १२४
स्पंदनोंको १५९
सत्य और असत्यको १८५
(दे० 'समझना', 'योगी', 'ज्ञान', 'अन्धविश्वास' भी)
जापान
की कला १०६, १०७
के मकान १०७
की नृत्यकला ११०
में कलाकी समझ ११०
जिम्मेवारी [उत्तरदायित्व] १२५, १३१, १६७, २५६
जीवन २३, ४१
साधारण और दिव्य, में वृत्ति ६, २२
के दो भाग जबतक २४ (दे० 'समझौता' भी)
सारा ही योग है ५५
सामान्य १२३ (दे० 'भौतिक चेतना' भी)
हमारा, कल्पना-सृष्टिका मूर्त रूप १५० दे० 'परिस्थिति'
युद्ध-क्षेत्र १६३
सामान्य, मनद्वारा शासित १७३
से हट जाना या प्रगतिको अपनाना १८५
जीना सूर्यके सामने खिलते फूलकी तरह १९२, २५६
और मृत्यु १९४
आजका और प्राचीन कालका १९५-९८
*का एक दिन सहस्रों वर्षोंके जीवनसे जिनका श्रेष्ठ २२३-२४
*मरणांत २३४
दुःखसे बंधा है २४८
विनाशसे भरा है २४९
जीना अर्ध-निद्रामें २४९
पार्थिव : स्वरूप २५३
खराब है, के विचार २७४
नये, के प्रति आशाका संदेश २७४अ
(दे० 'रूपांतर' भी)
जोन ऑफ आर्क १८, ३१२
ज्ञान २१३
बाह्य, एक अवसरमात्र, अंदरके ज्ञानको बाहर लानेका ५१
तादात्म्यद्वारा ९०, १५९-६०, १६८
साधारण स्थितिमें १५९
सच्चे, का मतलब १६८
की तलवार *२०४, २०५
और शक्ति २१७
सचमुच प्राप्त करना चाहें तो २२०-२१
(दे० 'जानना', 'आचरण', 'प्रेम',

'चैत्यपुरुष', 'वैज्ञानिक' भी)

त

तपस्या
का मार्ग ४
और संकल्पपूर्वक कर्ममें भेद १८अ
(दे० 'अग्नि', 'समर्पण' भी)
तादात्म्य [ऐक्य, भागवत चेतना व इच्छाके साथ] २१, ९०
का साधन : उत्सर्ग २२-३
प्रमाणित करना विचारों या क्रिया-ओंकी बाहरी समानतासे १३१-३२
वास्तविक १३२
वास्तविक, और मानसिक ग्रहण-शीलतामें भेद १३२अ
प्राप्त करनेके तरीके १६०
(दे० 'ज्ञान' भी)
***तृष्णा** २५५, २६३, २८७, २९८
का क्षय २४६
को जड़से काटो २८८-८९
के पीछे पड़े लोग २८९
(दे० 'कामना' भी)
त्याग
उस सबका जो . . २, ११५
के बारेमें १२७-२८
(दे० 'कामना' भी)
त्यागराज १०२

द

दर्शनशास्त्र ४०, ७७
***दान** २४३, २५७, २५८
धर्मका २९१
वीतरागको २९२
दिखावा १८१, २१३
की लंबी आयुसे सचाईका एक क्षण श्रेष्ठ २२४
दुःख [शोक, अनुताप] *२८५
*का कारण : दुष्ट मन १७३, १७५; मलिन कर्म १८८–८९, १९०अ, १९२, २८१; कामना व तृष्ण २४८, २८८, २८९
-क्लेशकी तीव्रता शरीर छोड़नेसे कम नहीं १९०
समयके अपव्ययका २०२
विलीन कब २१३, २९७
*-से छुटकारा २४६-४७, २४८, २७०, २९१, २९६, २९७
*सबसे बड़ा २५२
और भय दिखाकर सन्मार्गपर प्रवृत्त करना २५६
*-से निर्वेद २७१
से क्या चिपके रहोगे जब तुम ज्योतिमें जी सकते हो? २७५
*देनेवाली चीजें २७७
का सच्चा उन्मूलन ३०६
(दे० 'कठिनाई', 'कामना', 'मन', 'विचार', 'जीवन' भी)
दुर्बलता [कमजोरी] ११, १००, २१७
दुर्भावना २१७
-ओंके आक्रमण २८६
और पाचन-क्रिया २९७
दूसरे
पर अपना दृष्टिकोण थोपना ११७
से जब बुरा व्यवहार मिले १३४, १३६, १५३

*को अपने समान जानकर व्यवहार करना २२९
*को उपदेश, अनुशासन २३६
*को शुद्ध दूसरा नहीं कर सकता २३८
(दे० 'दोष', 'मनुष्य', 'लाभ', 'समझना' भी)
दृढ़ता २, ३३
-पूर्वक डटे रहना २६४
देवता १६४, *२५१
वे हैं जो २५३अ
*-ओंके पास वह जाता है २५८
(दे० 'रूपदाता' भी)
देश और काल १५७
दोष २८१
स्वीकार करना १३८
पर विजय १३९
निकालना अच्छी चीजमें १५१
सबसे महान् १८१
दूसरेके नहीं, अपने देखना २०७, २०९, २६३
दिखानेवाला, खजाना दिखानेवाला २१६-१८
*लगाना निर्मल पुरुषपर २२७, २३० (दे० 'निंदा' भी)
*खेतोंका व प्रजाका २९२
(दे० 'मूल' भी)
***द्वेष** २५२, २६३, २९२
(दे० 'राग' भी)

ध

धन
-शक्ति प्राणमय सत्ताओंके कब्जेमें ४४-५
के रक्षकोंका चरित्र ४४-५
के संरक्षकोंको बदलना ४५
और भोग्य वस्तुओंसे छुटकारा पानेकी प्रवृत्ति ५४
'धम्म' का अनुवाद १९९
धर्म ३५, १३५, *१९१, *१९३
क्या आध्यात्मिक जीवनमें बाधक है? ७४, ७६-७
का यथार्थ स्वरूप ७४
-ोंका जन्म ७४-५
को आध्यात्मिक जीवनमें बाधक बनानेवाली चीज ७६
-ों, सभी, में भावपूर्ण और आध्यात्मिक लोग ७६-७
से निकृष्टतम और उत्कृष्टतम, दोनों प्रवृत्तियोंको प्रोत्साहन ७७
भी लादी हुई चीज ८१
और अनुयायियोंकी संख्या ८१
कुछ, स्वर्गके पासपोर्ट . . १९१
साधारण, मृत्युके बाद स्वर्गका प्रलोभन दिखाते हैं १९३
(दे० 'सत्य', 'बौद्धधर्म', 'ईसाई धर्म' भी)
***धर्मनिष्ठ** [धर्मचारी] २४१, २६६
धोखा [कपट] १८४, २४४, २७८
जहां, वहीं खतरा ६, २१७
देना अपने-आपको ९७, १८४
मिलनेका कारण १४७
देना दूसरोंको १८९
आज, जीवन-पद्धतिमें २३२
(दे० 'भगवान्', 'मन', 'पाखण्ड' भी)
धैर्य [धीरज] २, १२६, १३९
ध्यान २०२, २९५

और आध्यात्मिक प्रगति २०-१
में काम करनेवाली शक्तियां ९६
में शून्य कर लेनेका अर्थ यह नहीं ९६
'सम्मिलित एकाग्रता ९७
में पहली आवश्यकता : सच्चाई ९७
सबसे अच्छे वे... २७८अ
और एकाग्रता ३०९
(दे० 'एकाग्रता' भी)

न

नमनशीलता ५४
नरक [दुर्गति, बुरा लोक]
चेतनाकी विशिष्ट अवस्था १९१
*को वे प्राप्त होते हैं २७९-८१
का सच्चा अर्थ २८२
(दे० 'स्वर्ग' भी)
नाटक की कला १०६
निंदा *२४५
और झिड़कीके लिये तैयार १३५
*करना अर्हतोंके धर्मकी २३७अ
*से बचा कोई नहीं २५८
(दे० 'प्रशंसा' भी)
निःस्वार्थता २६५
(दे० 'आनंद', 'प्रशंसा' भी)
निद्रा सच्चिदानन्दमयी १६
नियति दे० 'स्वतंत्रता'
नियम [विधान]
प्रकृतिके १५४
आंतरिक २८२
निराशा दे० 'अवसाद'
निर्भयता २०६, *२५१, *२५२
प्राणिक जगत्पर १५८-५९
निर्वाण *२५२, ३२१
शब्दका यहां प्रयोग १९४
*को वे प्राप्त होते हैं १९८, २१६, २२७, २३०, २४२, २८४, २९४, २९५, २९८
सच्चा २६९
(दे० 'अंधविश्वास' भी)
निश्चय दे० 'संकल्प'
निष्ठा १५६
का अर्थ १८१
(दे० 'सच्चाई', 'सत्यनिष्ठा' भी)
नीत्शे १६३
नीरवता
मेंसे सच्चा कर्म ६६, ६७
से मेरा अभिप्राय ६७
पृथ्वीकी स्मृतिको पढ़नेके लिये ९२, ९३
का प्रतिदिन अभ्यास १८८
(दे० 'शांति' भी)
नृत्यकला ११०
नैतिकता ४६, १८२, २८२
'नैतिक स्वास्थ्य उस जमानेमें २३२-३३
(दे०'अच्छा', 'आध्यात्मिकता' भी)

प

***पंडित** [धीर, ज्ञानी] २३६, २४२, २७३, २९०
वह है जो...२१४-१६, २६६
(दे० 'बुद्ध [संबुद्ध]' भी)
पतन [गिरना] १९५
स्वर्गसे १४५
पथ [मार्ग, राह]

पर कब २०२, २८७
*को कौन ढूंढ निकालेगा २०६
पर बढ़नेके लिये २५०, २६५, २६९, २८६
*का बटोही २७७
(दे० 'अष्टांगिक मार्ग', 'शुद्धि', 'मध्यम पथ' भी)

***पर-स्त्रीगामी** २८०

परिणाम [फल]
भगवान्के हाथोंमें छोड़...९५
की आशाके बिना अच्छा करना २६५, ३०५अ

परिवर्तन
जगत्में, दौड़-धूपसे नहीं ६६
पिछले वर्षोंकी तुलनामें ८१
(दे० 'जगत्', 'रूपांतर' भी)

परिस्थिति २५०, २८६
बेमेल, स्व-रचित ५० (दे० 'जीवन' भी)
प्रतिकूल, और योग ५१, ११८
कष्टकर, और प्राण १३४
और उचित अभिवृत्ति १४८, १६३
को एक सुयोगमें १९४, २८६-८७
प्राप्त, में अपनेपर विजय २७८
प्राप्त, में 'शाश्वत' के साथ अकेले ..,२७९
और हमारा वातावरण २८२
(दे० 'कठिनाई' भी)

परीक्षा
बाहरीकी जगह भीतरी ज्यादा १६३

पवित्रता १९९, २६५
परम, गमीरतम प्रदेशमें २०९
*भीतरी, और बाह्य वेश ३००
(दे० 'शुद्धि', 'योग' भी)

पश्चात्ताप १६७, ३१५

***पांच चीजें**
छेदन करने, त्याग करने, भावना करने और अतिक्रमण करने-योग्य २९४अ

पाखण्ड १८१, २१३

पावन-क्रिया दे० 'दुर्भावना'

पाप [अनुचित कर्म, दुष्कर्म] २२५, २६४, २८६, ३०३
वह है १७९
अज्ञानमें किया गया और जानते हुए १८९, २१७
का फल : दुर्गति, अनुताप १९०, १९१अ, *२११, *२३०, *२८१, २८२
*का विपाक २१२, २२५, २३०
*की अवहेलना २२६
*के फलसे बच सके ऐसा कोई स्थान नहीं २२७
*करना सुकर २३७
*अपने ही को मलिन करता है २३८

पापकारी
*को शोक १८८
का आंतरिक जीवन [वातावरण] १९०, १९१अ, २८२
जिसे धर्म-शंका नहीं *२४२अ, २८२
*सुखी २६२
*अपनी जड़ खोदता है २६२
और सफलता २८२अ
को यदि अभागा देखो २८३

***पार**
जानेवाले २१५, २१६, २३१अ
अपार और पारापार २९८

पाश्चात्य लोग
-ोंकी कठिनाई ४
-ों और पौरस्त्य लोगोंमें भेद १२
पीछे
हटना १५२-५३, १५९, २८३
न देखो, आगे देखो २३६
(दे० 'मनुष्यजाति' भी)
पुकार [आवाहन]
और सहायता [उत्तर] ३३, ३४, ९५, ९७अ, १५३, १५८, १५९
(दे० 'अभीप्सा' भी)
***पुण्य** [पुण्य-कर्म, सुकृत] २२५, २२६, २४५, २४७, २५६, २८१, २८५, ३०३
***पुण्यात्मा** १९०, १९१
(दे० 'सत्पुरुष' भी)
पुनर्जन्म
के बारेमें १४१-४२, १४३-४४
(दे० 'आध्यात्मिक नवजन्म' भी)
पुरुष
में स्त्रीके लिये कामना *२७२, २७३
पुरुषार्थी [उत्साही, उद्योगी] *१८०, *१९८, १९९, *२२३
पुस्तक
साधारण कोटिकी, पढ़ना, साधनामें २७
सत्यज्ञानकी ५१, ६४
***पूजा** [सेवा-सत्कार] २७७
अपनी २१२, २१३
पूजनीयोंकी २२२-२३, २४७, २९६, ३००
पूर्णता की प्यास १२४, ३०५
पूर्णयोग [अतिमानसिक योग]
का आदर्श २३-५
के योग्य कब १२७
(दे० 'योग' भी)
पूर्वजन्म
-ोंमें हम सब मिल चुके हैं ३, ३१०
-ोंकी स्मृति ४०, १४३
-ोंकी बातें बतानेकी क्षमता ३१६
पृथक्ता
का भ्रम ५८-९; इस भ्रमसे छुटकारा जरूरी सत्यचेतनाको पानेके लिये ५८-९
पृथ्वी
की स्मृति ९३
पर ही उन्नति १९०
*और यमलोकको कौन जीतेगा? २०६
(दे० 'भागवत अवतरण' भी)
प्रकाश [ज्योति] १३०
में लाना असत्यको १३१, १३८
को नीचे बुलाओ १५६
बिना परछाईंके २५६
मानसिक, फैला है २७४
नयी, और दुःखमय जीवन २७४-७५
प्रकृति
संपूर्ण, का रूपांतर : उपाय २३
(दे० 'रूपांतर' भी)
की यांत्रिकताके गुलाम २९
के सचेतन सहयोगी ३०
में दुर्घटनाएं क्या मानवजातिके पापके कारण? ३७
पार्थिव, का परिवर्तन ३९
असंस्कृत मानव, से हम बंधे नहीं हैं ९९

के युग-चक्रोंका मतलब १२९
को सत्य मानना १५३-५४ (दे० 'जगत्' [जड़] भी)
का परिवर्तन दे० 'जगत्' को
पर संयोगका राज्य १५५-५६ (दे० 'प्रतिरोध' भी)

प्रगति २०५
आध्यात्मिक, का प्रमाण २०
आंतरिक, पृथ्वीकी ३९
में बाधक, कर्मका भ्रम ६६
असमान, रोगका कारण, ८३-४, ८५
के बाद स्थावरताका काल ८५
सच्ची व स्थायी, के लिये १२३, १२४, १२५
करनेकी कामना १८५
के लिये सदा उद्यत १९४अ, २३६
*को सुरक्षित रखना २०४, २०६
करना जैसे ही बंद २३५-३६
ही पार्थिव जीवनका विधान ३०५ (दे० 'मनुष्यजाति' भी)

प्रतिरोध
निम्न प्रकृतिका ३७, १६२, १६३

प्रतीक दे० 'अंतर्दर्शन'

प्रभुत्व भौतिक जीवनपर २४-५

प्रमाद [आलस्य] *१९४, *२४१, *२६१, *२९५
का अर्थ २०१

प्रमादी [आलसी, असावधान] *१७९, *२२३, *२७१, *२७५, *२८४
न बने रहो, उठ बैठो २४३-४४ (दे० 'श्रमण' भी)

प्रयास १२६
के प्रति तुम्हारा भाव ९५
की सिद्धिके लिये आवश्यक चीजें १८०
पहले, मैं ही लक्ष्यतक नहीं २२९
कम उग्र, ज्यादा स्थिर २४९, २५० (दे० 'काम', 'चेतना', 'शक्ति', 'संकल्प' भी)

प्रशंसा २८६, ३२०
के लिये प्राणकी भूख १३३-३६
निःस्वार्थ १५१-५२, १६५
अपनी १६६, २२८
पानेके लिये जागरूक होना या योग करना २०१, २८७
*-निंदासे अविचलित २१५
*'प्रशंसित या निंदित सर्वथा २५८
*'प्रशंसित देवताओंसे २५९
उतनी ही कम, जितने तुम सामान्य मनुष्यसे दूर २८७ (दे० 'यश', 'सत्य' भी)

प्राण
की तृप्तियोंमें लोग सीमा . . ३२
का यथार्थ व्यापार ३३
अनिवार्य साधन, दिव्य प्रेमकी अभिव्यक्तिमें ७१-२
के बिना गति, प्रगति नहीं ७१, १४०
बुरी तरहसे विकृत ७१, ७२; करने योग्य काम ७२
में संपूर्ण उत्सर्गकी क्षमता ७२
की सत्य गति अन्य सभी गतियोंसे उत्कृष्ट ७२
शक्ति-प्रदर्शनसे प्रभावित १२४
-शक्तिका त्याग १३१, १४०
में ही असंतोष १३३-३४
से बरतना १३३-३४

परिवर्तित, का चिह्न १३६-३७
को प्रशिक्षण १४०
(दे० 'जड़तत्त्व', 'परिस्थिति', 'प्रशंसा' भी)
प्राणमय जगत् [प्राण-लोक] ४१
में प्रवेश ४६-७
में सकुशल घूमनेके लिये ४७
(दे० 'व्यक्तित्व' भी)
प्राणमय सत्ता
-ओंके खिलौने ६, ६६
-ओंके बारेमें ४१, ३१७
-ओंके प्रभावसे आत्मरक्षाका उपाय ४२-३
-ओंको रूपांतरित करनेकी आशा ४२
-एं, जब शरीरमें ४२-३
-ओंके बलके साथ जब ज्ञान भी जुड़ जाता है ४३
-ओंमें वशीकरण ४३
-ओंमें आध्यात्मिक जीवनकी ओर आकर्षण ४३
-ओंका उपयोग आध्यात्मिक व्यक्तियोंमें संबंध स्थापित करनेमें ४३
-ओंके लिये यह चुनावका समय ४४
-ओंके पुनरुद्धारका एक अवसर सत्य-जिज्ञासुका संपर्क ४४
-ओंद्वारा उच्चतर सत्ताओंकी नकल ६१
-एं पूजापर पनपती हैं १३५
-एं इच्छानुसार भयंकर रूप ले सकती हैं २५७
(दे० 'विरोधी शक्ति' भी)
*प्रिय
-अप्रिय जिनके नहीं २५४
सबका २५५
प्रेम *२५५
मानव, और भागवत प्रेम ६७-७४
विश्व-व्यापी शक्ति है ६७-८
पशु, वनस्पति पत्थरतकमें ६८
-शक्तिके जो विकार ६८
अपनी शुद्ध गतिमें ६८
को मनुष्यने क्या बना डाला ६८-९, ७१
का प्रथम संस्पर्श ६८-९
और ज्ञान-मार्ग ६९
भावुकतापूर्ण और आत्मविस्मृतिपूर्ण ६९
-शक्ति उन चेतनाओंकी खोजमें ७०
पुष्पों और वृक्षोंमें ७०-१
आया, जगत्को भगवान्की ओर वापस ७२-३
का, मानवको ज्ञात, उच्चतम रूप ७३
घृणाको उत्तर देनेकी जगह भागवत प्रेमको उत्तर क्यों न दें १७७

फ

फल दे० 'परिणाम'
फूल
'भौतिकमें भागवत प्रेमके लिये अभीप्सा' १२८
'सफल भविष्य' १६९
(दे० 'प्रेम', 'श्रीमाताजी' भी)

ब

बंधन
-ोंसे मुक्ति ८०-१, ८२, १६७, १९३, २०२, *२९८
*दृढ़ २९०
(दे० 'भार' भी)

बनना
जो चाहते हो उसीपर एकाग्र होओ ८२, २०९

बलिदान
का अर्थ ११२
अपनी भलाईके लिये संसारका १८९
(दे० 'भगवान्' की महान् भी)

बलि १११

बालक
अभिभावक, का चुनाव २४३-४४

बाह्य सत्ता
जमी पपड़ीकी तरह ७
यदि दुर्बल ११
में समभावका सुदृढ़ आधार ११
जगत्से किनारा करनेवालोंकी २४

बिनोवेन १०९, १११

बुढ़ापा
वर्षोंकी गिनतीपर निर्भर नहीं २३५-३६

बुद्ध ७५, ७८, २६९
'भगवान्' शब्दका व्यवहार नहीं करते पर . . १७८
की शिक्षा : ध्यान देने योग्य बात १८५-८६, १९१, १९५, २०१
की शिक्षा और श्रीअरविंद १८५-८६
के उपदेश श्रोताओंके अनुसार २३२, २७३
को धन्यवाद ३०६
(दे० 'आध्यात्मिक जीवन', 'शरण' भी)

***बुद्ध [संबुद्ध]** २६३अ, २७०
को किस पथसे पाओगे २४४-४५
-ोंका जन्म २४५, २४७
-ोंकी शिक्षा २४५-४६
अपने तेजसे तपता है २९८अ

बुद्धि
साधनामें सहायक या बाधक ? ३२-३
की क्रिया सही भी, गलत भी ३२
पर नियंत्रणको लोग . . ३२
का यथार्थ व्यापार ३३
(दे० 'मन' भी)

***बैर** १७५-७७, २५१

बौद्ध धर्म
के अनुसार प्रत्येक मनुष्यका जगत् ४९, ६४, १९१
की स्थापना ७५
की शाखा-प्रशाखाएं ७५
(दे० 'स्वर्ग' भी)

***ब्राह्मण** २८६
निष्पाप २७६
वह है जो २९८-३०५
पर प्रहार २९९
और बाह्य परिधान ३००

भ

भक्ति
में भावावेशकी उत्तेजना १०-१, ३१८

भगवती माता का अंतर्दर्शन १८
भगवान् १२३
ही हैं क्या तुम्हारे जीवनके सत्य ? १
के साथ धोखा ४, ५-६
की आड़में इच्छाओंकी तृप्ति ५-६
की ओर मुड़नेपर पुरानी शक्तियों-से संबंध रखना ५, २०५
ने जब 'हां' कह दिया ७
के आदेशका अनुसरण करनेके लिये ९
से आयी वस्तुकी पहचान १०
क्या कभी-कभी इच्छित वस्तुओं-को प्रदान नहीं करते ? १०
अभीतक क्यों नहीं आये ११
का संस्पर्श अपने अंदर या बाहर १७; 'बाहर' का अर्थ ३१२
में गोता और निवास २१-२
के हो तुम, सतत अनुभूति २३
के राज्यके इच्छुकको २४अ, ३१४
की विजय बाह्य जीवनपर, विस्तार-में २४-५, १६३
की विस्मृति कार्यव्यस्ततामें २५-७
ही होते हैं जब तुम्हारे प्राणके प्राण २६-७
के साथ एकता-प्राप्त चेतना सब चीजोंमें रस लेती है २७
के लिये धनको जीत लानेका अर्थ ४५
पर अपनी धारणाएं लादते ५४
की महान् आहुति ७०, १६४
के साथ संबंध बाध्यताका नहीं, स्वतंत्र पसंदका ८१
ही तुम्हारा धर्म, देश, परिवार ८२
से रोग-मुक्ति जैसी चीजें मांगना ९५
को केवल चाहो तो १२७अ
से जब कुछ छिपाते हो १३१
धरतीपर उपस्थित, को स्वीकार करनेके अनिच्छुक १५१
की ही इच्छासे सब कुछ होता है, यह मानना १५४अ, १५६, १६२
और वैश्व चेतना १६१
को सच्चे विरोधका सामना १६२
ने कृपा और प्रेमके रूपको स्वी-कारा १६३
पूर्णतः नम्र हैं १६६
अपने-आपको ढूंढनेमें लगे रहते हैं १६६
(दे० 'तादात्म्य', 'परिणाम', 'मनुष्य, 'समर्पण', 'सोचना', 'स्मृति' और 'मागवत ...' के अंतर्गत भी)
भय ४७, ९८, *२४६, *२८१
से भरी है मानव-अवस्था ५६
से मुक्ति साधना-साध्य ५६
कभी मत करो ८९, १५९
प्रतिकूल परिस्थितिमें १४८, १४९
का संचार प्राणिक सत्ताओंद्वारा १५८
*-शोक जिन्हें नहीं २५४-५५
(दे० 'निर्भयता', 'दुःख', 'योग', 'रोग', 'विकर्षण' भी)
भागवत अवतरण [भागवत चेतना, शक्तिका]
को सहनेके लिये ११
और पृथ्वीकी अवस्था ३७-९

के प्रतिषेधका फल ३७
मानव जातिकी अवस्थाओंपर निर्भर नहीं ३८
के लिये यदि एक व्यक्ति, छोटा-सा संघ, थोड़े-से लोग . . ३८
की यथार्थ और विकृत अभिव्यक्ति ७८
(दे० 'अतिमानसिक' भी)
भागवत इच्छा [संकल्प]
को जानना कठिन नहीं ८
के साथ अपने संकल्पके मेलको जानना १९४
की पूर्ण अभिव्यक्तिके लिये १६३
भागवत कृपा १२९, १६३, १८४
जब प्रयासमें तुम्हारे साथ हो १२६अ
कठिनाइयोंके अनुपातमें १२९
जब तुम्हारे निश्चयको गंभीरता-पूर्वक लेती है २८९
भागवत चेतना
से अलग करनेवाली चीजें ५५
के चुने यंत्र ६६, ७९
आज जितनी क्रियाशील . . ७८अ
अपना अबाधित कार्य तभी कर सकती है ९९
(दे० 'तादात्म्य', 'पृथक्ता' भी)
भागवत प्रेम १६३अ
अपने-आपको दे देता है ६८, ७०
को अभिव्यक्त करनेके लिये ६९
की अभिव्यक्ति अवतारद्वारा ६९
प्रत्युत्तरके सृष्टिकी ओर ७२, ७३
मात्र किसी शरीरधारीमें ७१
के लिये अभीप्सा भौतिकमें १२८
को प्रत्युत्तर इतना कम १७७
(दे० 'प्राण', 'प्रेम' भी)
भागवत शक्ति
का अवरोहण : परिणाम ३०-१
(दे० 'योगशक्ति' भी)
भारत
की स्थापत्य, मूर्ति व चित्रकला १०२, १०५, १०७
की नृत्यकला ११०
भावना
की अभिव्यक्ति ११
उच्चतर प्राणकी चीज, चैत्यकी नहीं १२४
*भिक्षु २०१
वह है जो २३१, २६७, २९३, २९४
को चाहिये २८९, २९६
भूख
सामान्य निचली चीजोंकी १२९
*सबसे बड़ा रोग २५२
भूत [भूतकाल]
के बन्धनोंसे मुक्ति २८, ८२, १६६-६७, २०९
की स्मृति २४८
भूल ९, २७, ६५, १३६, १६७, १८९, १९४, २०९, ३२०
से प्यार १८३
*को जो दोहराता नहीं २४२
(दे० 'दोष' भी)
*भोग २४६, २९२, ३०१
भोजन १९७, *२११
भी अर्पण भावमें २३, ३१८अ
का ही चिंतन १२३, १२५
*में असंयत १७९, २८४
*में संयत १८०, २१८, २४६
भौतिक चेतना [साधारण, तुच्छ चेतना]

मनुष्यकी १२८, १३४, १६०
को सत्यका दर्शन कैसे . . .१२९
(दे० 'जीवन' सामान्य भी)
भौतिक जगत् दे० 'जगत्' [जड़]
भौतिक प्रकृति दे० 'प्रकृति', 'बाह्य सत्ता'

म

मंत्र २६४
मूर्खतापूर्ण कामोंसे रक्षाका : "स्मरण और समर्पण" २६
मध्यम पथ १८१
मन
की क्रिया भिन्न जातियोंमें भिन्न १२
कर्म करने और आकार देनेका यंत्र ३३, ४९, ६१
वैयक्तिक, अलग जगत्, अपने-आपमें बंद ४९, ६४ (दे० 'मनुष्य' भी)
तुम्हारा सीमित ५२
टुकड़ोंमें देखता है ५८
एक गति है, इसके कई स्तर हैं ६०
के एक स्तरपर सब वस्तुओंकी स्मृति संग्रहीत ९२; वहां पहुंचनेके लिये ९२-३
और अतिमानस ९३
और प्राण अज्ञानी १२४
के लिये हर प्रतिभाशाली विचार ज्योतिर्मय विचार १२४
पक्ष-विपक्षमें युक्ति दे सकता है १२४
*सब क्रियाओंमें श्रेष्ठ है १७३
को संयमित करना : चार क्रियाएं १७३, १७५
*[चित्त]को संयमित करना २०६, २८४
*सदोष, का पीछा दुःख १७३, १७५
*स्वच्छ, के साथ सुख १७४, १७५
*[चित्त] असंयमित : फल १८६, २०४, २०५
को शांत करना १८६-८७
में अपने-आपको धोखा देनेकी शक्ति २०५
की प्रगति पहले युगसे २३२-३३, २७४
(दे० 'विचार', 'मानसिक रचना', 'बुद्धि' भी)
मन (उच्चतर)
का स्वरूप ६१
प्राणमय गतियों और विरोधी शक्तियोंसे मुक्त ६१
मन (मौतिक) १४०
और निम्न प्राणमें मैत्री ६०; इस स्तरपर आक्रमण ६०अ
मनुष्य
औसत, का भाव, भगवान्के प्रति २
बंद, एक-दूसरेके लिये १४ (दे० 'मन' भी)
अधिकांश, आंतर सत्ता व चैत्य सत्तासे अनभिज्ञ १६, ६२
बहुत ऊपर उठ चुके, क्या इस भूमिकापर वापस आते हैं ? २५
औसत, को भगवान्की जरूरत नहीं २६

कुछ पिशाचों जैसे, क्यों ? ४१, २१६-१७
प्रत्येक, के अपने पूर्वाग्रह ५२
की बनायी सभी चीजें अपूर्ण ७६
आकर्षित, शांत अभिव्यक्तिकी अपेक्षा बातें बनानेवालोंसे ८२
सभी, अपरिहार्य, हर एकमें एक भागवत आशय ११९
में निहित संभावना १४६
हर, उपन्यासकार १४९अ
क्षुद्र १५१, १५२, १८९
की आंखोंमें एक शक्ति १५९
-जीवन मनद्वारा शासित १७३
*उत्तम २१९, २२०, २२१, २३१, २४७
*-जीवन मिलना कठिन २४५
(दे० 'बौद्ध धर्म', 'भौतिक चेतना' भी)
मनुष्य जाति
की कर्मकी हलचल ६७
की प्रगति पहले युगकी अपेक्षा १९६-९८, २३२-३३, २७४, २७९
खतरनाक मोड़पर २३३
की सार्वजनिक भ्रष्टताका हल २३३
पीछे नहीं जा सकती, आगे बढ़ना चाहिये २३३
(दे० 'भागवत अवतरण', 'योग' भी)
मनोरंजन [दिलबहलाव] २४९-५०
*मल २६०, २६४
को जलाना २६१
स्वाध्याय, मंत्र, गृह, शरीर आदि-का २६१
इहलोक और परलोकका : पाप २६१, २६४
सबसे बड़ा २६१, २६४
महत्त्वाकांक्षा २१३
से खतरा योगमें ४
से अनेक योगियोंका नाश ७
का एक सामान्य रूप : मानव सेवा-का विचार ९
महाभारत उत्कृष्ट काव्य-रचना १०५
महासरस्वती अब क्रियाशील १६८
मानसिक रचना
-ओंसे मुक्ति जरूरी १७, ५२-४, ८२
मार
बौद्ध साहित्यमें १७९
*से पराजित १७९
*से अपराजित १८०, २०८
*के बंधनोंसे मुक्त २०३, २७१, २९१
*को पराजित.. २४२, २७०
*मित्र
अच्छा न मिले तो इकला ही चले २१०, २८५
दुष्ट, का सेवन २१४
*मिथ्यावृष्टि [मिथ्या संकल्प] १८२अ, १८३, २४१, २४३, २८१, २८८
मिल्टन १०५
मिलन दे० 'कला'
मीराबाई १०२
मुक्ति
परम ३०५-६
(दे० 'अवतार', 'बंधन', 'मार', 'मृत', 'मानसिक रचना' भी)

*मुनि वह है जो २६७अ
मूर्ख २५७
*का साथ २१०, २५२, २८५
*यदि अपनी मूढ़ताको समझता है २१०
*यदि पंडितके पास रहे भी २१०
*का ज्ञान केवल अनर्थ . . २१२
*की कामना और दर्प २१२
शब्दके बदले 'अहं' शब्द २१३
*का मांस बढ़ता है, प्रज्ञा नहीं २३४
(दे० 'अहं', 'मंत्र' भी)
मूल्यांकन १३१
भागवत गतिका १५१, १६३
दिखावेके आधारपर २८३
(दे० 'राय' भी)
मृत्यु
आवश्यक नहीं (विज्ञान) ३६
में विश्वासको यदि बाहर ३६
अपरिहार्य नहीं ३६, ३७, ८८, १२१-२२
की धारणा पशुजातिमें ३६
का प्रकृतिमें सच्चा अर्थ ३६-७
को छुटकारा मानना ४६-७, १९०, १९१
के बाद १४०-४२, १४४
अगले मुहूर्त्त, की भावना १७८
के प्रति सही वृत्ति १७८
का भय, १७८, २०५
*के वशवर्ती २०७, २७३
*न सताये ऐसा कोई स्थान नहीं २२७
*के वशवर्ती न होनेके लिये २४२
*सामने है २६०, २७३, २७४
(दे० 'जड़तत्व' भी)
मेरी कुमारी १८
मोह [ममता] *२६१, *२९४
का अर्थ १९३
मौन २६०

य

यंत्र
यदि भगवान्‌के अर्पण नहीं ११०
(दे० 'भागवत चेतना', 'विश्व' भी)
यश [ख्याति] ४५
पानेके लिये नैतिक आचरण १९९
का अनुवाद १९९
(दे० 'अच्छा', 'प्रशंसा' भी)
युद्ध दे० 'सत्य', 'संघर्ष'
यूनान दे० 'कला'
योग [योग-साधना] २२, १३७, १५६
किस लिये ? शक्ति पानेके लिये ? १; 'शक्ति'का अर्थ ३०९
के लिये आवश्यक चीजें १, २, २०, ५४, ८२ (दे० 'आध्यात्मिक जीवन' भी)
क्या मनुष्य जातिके लिये ? २-३
हमारे, का हेतु २-३
के दो मार्ग : तपस्या और समर्पण का ४, २११
में पवित्रीकरणकी प्रक्रिया और साधककी वृत्ति ५
से मानसिक संयमके हट जानेपर ५, २१७-१८
का प्रयोजन ६, ३०, ६२
'सच्ची यौगिक स्थिति ९अ, ९८अ
में प्रिय वस्तुका विच्छेद १३

का अंतिम उद्देश्य २१, २६
का अर्थ एवं प्रक्रिया २२-५
का द्वार खोलते ही बाधाएं ५२
का आरंभ कहां, अंत कहां ५५
में भयमुक्त होना होगा ५६-७, ९९
से समयकी बचत, प्रकृतिकी धीमी प्रक्रियामें तेजीसे ६२, ८४, १२९
से सिरमें दबाव ८९
में प्रवेश करनेपर वस्तुओंके मूल्यमें परिवर्तन १०१
में परिचालित प्राणका सहयोग १३७
हमारा और प्राचीन १६५
(दे० 'कठिनाई', 'कल्पना', 'प्रशंसा' भी)
योग-मार्ग
के लिये पुकार : पहचान १
के खतरे ३-६
क्या पाश्चात्य लोगोंके लिये खतरनाक ? ३-४
पर निरापद यात्राके लिये ४अ
को चुना तो परिणामोंको बहादुरीके साथ . . . ८९
*में प्रवेश यौवनमें २९७
योगशक्ति,
की क्रिया साधकके मन-प्राण-शरीरमें ८३
की क्रियासे रूपांतरमें वेग ८३, ८४, ८५
की क्रिया शरीरमें एक हदतक ही ८३
(दे० 'भागवत शक्ति' भी)
योगी, *२४२
के लिये सच्चा भाव ९अ, ५४, ९८अ
का बल ९९
क्या सब कुछ जान सकता, सब प्रश्नोंके उत्तर दे सकता है ? ९०-३
कलाकार १०१, १०५-६, १११
(दे० 'वैज्ञानिक' भी)
योजनाएं अज्ञात भविष्यकी २७३अ
यौवन दे० 'बुढ़ापा'

*राग २५५, २९२
के पुष्प २०७
के समान आग नहीं २५२, २६३
-द्वेषको छोड़ो २९४, २९६
राजयोग २१
रात्रि [रात] १४२
पर अधिकार १५-६
में सचेतन होनेके संकल्पका समर्पण १९
*के तीन यामोंमेंसे एकमें जागरण २३६
(दे० 'स्वप्न' भी)
रामायण उत्कृष्ट काव्य-रचना १०५
राय
सत्यकी १३५
अच्छी, सुननेके लिये तैयार नहीं १८४
(दे० 'मूल्यांकन' भी)
रूप दे० 'शरीर'
रूपदाता (मध्यवर्ती) १८, १००, १६४

रूपांतर
 की गतिशीलता हृत्पुरुषसे १, ६२, १२४
 संपूर्ण जीवन [प्रकृति] का २३-५, १२८; यह असंभव यदि जीवन-के दो भाग बने रहें २४
 जड़ जगत्‌का २८, १६६
 प्राणके द्वारा ही ७१
 की ओर भव्य यात्रा १२६
 सच्चा १२८
 की समस्याकी चाबी १४८
 -कारिणी नयी ज्योति २७४अ
 (दे० 'अतिमानस', 'जगत्', 'परि-वर्तन', 'श्रीअरविंद' भी)
रूस के नृत्य ११०
रोग [व्याधि]
 का कारण क्या विरोधी शक्तियोंके आक्रमण हैं ? ५४
 का कारण आंतरिक सत्ता तब बनती है . . .
 और कीटाणु ५४-५
 का असली कारण ५५
 -ों, सभी, का मूल कारण क्या मन-की किसी अव्यवस्थामें ? ८२
 के कारण बहुविध और जटिल ८२अ, ८६, ८९
 योगके कारण होनेवाले ८३-९०
 योगमें, भागोंकी असमान प्रगतिसे ८३-४, ८५
 का स्थानविशेष आंतरिक कारण व उपचारका सूचक ८६
 के-से लक्षण, पर रोग नहीं ८६
 कवच-शरीरमेंसे होकर ८६-७
 होगा ही नहीं यदि . . . ८८
 अधिक प्रतिरोधवाले ८८
 और भय ८९
 योगमें, डगमगाते रहनेसे ९०
 -निवारणके लिये किस पद्धतिका प्रयोग : संकल्पशक्ति या दृढ़ विश्वास या भरोसा ? ९४-५
 -मुक्तिकी चेतना ९५
 (दे० 'स्वच्छता' भी)

ल

लक्ष्य [उद्देश्य]
 -निर्धारण कार्य-संचालनके लिये ३१-२
 हमारा १५४-५५, १६८ (दे० 'योग', 'पूर्णयोग' भी)
*लज्जा २३१, २६२, २८१
*लाभ [हित]
 अपना और दूसरेका २३८, २९४
 (दे० 'बलिदान' भी)
 छोड़ना, मानुषी और दिव्य ३०४
लियोनार्दो द विन्सी १०८

व

वाग्नर १०९
वाणी [बोलना] १५३, *२५९, *२७२
 'वार्तालापके लिये आदर्श अवस्था ६३-४
 दस मिनट सार्थक बोलनेके लिये दस दिन मौन ६७
 *कठोर, दुःखदायक २२०
 *निःशब्द रहो : कलह नहीं २३०

सम्यक् २४८अ
*का संयम २५९, २९३
*कटु वाक्योंको सहना २८३
*अकर्कश ३०२
(दे० 'आचरण', 'काम', 'शब्द' भी)
वातावरण
के संसर्गसे सावधान ६
साधारण जगत्का २२
हानिकर, से रक्षा १००
अपने कर्मोंसे उत्पन्न १९०
दुष्टताका १९२
ज्योतिर्मय १९२
आधुनिक जड़वादका १९७
अपना, सामंजस्य या दुर्भावनाका २८२
(दे० 'पापकारी' भी)
विकर्षण [हटाव]
सांप-बिच्छू जैसे जंतुओंसे ९८-१००
भयके कारण ९८
अशान्तकी एक क्रिया ९९
दुर्बलताकी एक क्रिया १००
विकास दे० 'जड़तत्त्व'
विचार
-रचनाकी शक्ति ४८-५०, ३१९; इसका सदुपयोग ५०
आकारमय होते हैं ४९
-ोंका अपना स्वतंत्र जीवन ४९-५०
-रचना और जीवन-परिस्थिति ५०
'आकारहीन भावोंका एक जगत् ६१, ६३
-ोंपर प्रभुत्व : चार स्तर — निरीक्षण, चौकसी, संयम . . . १७३, १७४-७६, २२७-२९; इसके लिये लंबा प्रयास अपेक्षित २२९
करना बोलकर, बिनबोले शब्दोंकी सहायतासे, बिना शब्दोंके १८७
बहुत-से इकट्ठे करनेकी जगह एक विचारके प्रभावको अंततक पहुंचाना २२४-२५
-ोंके साथ लापरवाही २२७-२८
घिनौने, तुममें २२८
गलत चुनना २४३-४४
करने योग्य चीजें २५०
(दे० 'कल्पना', 'शब्द', 'समाधि', 'सोचना' भी)
विजय
घृणा, जुगुप्सा, भयपर ९८, ९९
अपने प्राणपर १४०
*अपनेपर २२१-२२
*आत्मसंयमीकी २२२
आंतरिक, बाह्य विजयोंसे महत्त्वपूर्ण २२४
आंतरिक, शक्तियोंके हस्तक्षेपसे मुक्त २२४
*कुछ व्यक्तियोंकी २७४
सच्ची, २७९
(दे० 'असत्य', 'जगत् (जड़)', 'सत्य' भी)
विज्ञान (भौतिक) १३४, १५३-५४
(दे० 'जड़वाद' भी)
विज्ञापन
की आवश्यकता बातें बनानेवालोंको ८२
विद्रोह ३, ११३, ११४
विनम्रता [विनय] १३१, १३६
विभिन्नता [विविधता] १६१
का सत्य ११६
विरोधी शक्ति

-योंके आक्रमणका सामना ३३-४, ३४अ, २०५
-योंके अस्तित्वका हेतु ३३-४, ६५, २१३
-योंको कोई चीज प्रत्युत्तर ३४
-योंसे पराजयका कारण ३४
-यां बाहरसे आती हैं या अंदरसे ? ३४; आंतर और बाह्यके बीच रेखा कहां ? ३५
-योंके आक्रमण : क्या मनोमय भूमिकापर भी ? ६०-१; के लिये मार्ग खोलनेवाली चीजें ८७; और अतिमानसिक शरीर १६६; और असंयमी १७९; और श्रद्धावान् संकल्पनिष्ठ १८०
-यां विलीन कब ६५-६, २१३
-यां भीषण घोर २०५
(दे० 'प्राणमय सत्ता' भी)
विवेक ३३, १२४, १७६
विवेकानन्द ६७
विशालता ३५, ९९, २५४
विश्व [सृष्टि] १८५
का क्या कोई अंतिम लक्ष्य है ? ३१-२
एक शाश्वत गति है ३१
-लीला परस्पर गुथी एक सांकल ५७
-लीलाके यंत्र : अज्ञानपूर्ण, कम अज्ञानपूर्ण, पूर्ण ज्ञान-प्राप्त ५९-६०
की रचना १००, १६६
हर क्षण नया १६७
मिथ्यात्व और अज्ञानकी सृष्टि (श्रीअरविंद) २४४
(दे० 'जगत्' भी)
विश्वास १२३, १२५, *२५
सहायतामें न होना, आक्रमणसे पराजयका कारण ३४
स्वास्थ्यसंबंधी सावधानीमें ५५अ
से कवच-शरीरको पोषण ८७
अटल, की जरूरत ८९
दृढ़, चैत्यसंपर्कसे १२४, १४६
श्रीअरविंदके रूपांतर-कार्यकी सफलतामें १३७
अपनी संभावनाओंपर १८०
उन चीजोंपर, जिनका हमें व्यक्तिगत अनुभव नहीं २२०-२१
(दे० 'श्रद्धा' भी)
विश्वासघात १४७
वैज्ञानिक
का प्रेरणा-लोक और अतिमानस ९२
और योगीका ज्ञान १५३-५४
वैराग्य [संन्यास] *२७०, *२७१, *२८९
में आसक्ति १०
और योग ५२-३, १११
वैष्णव बेलना ६२
को भगवान् मानना १६१
व्यक्ति
यदि कोई ऐसा हो जो उस भूमिका और इस पार्थिव भूमिकाको मिला सके ३८
में क्या सृजन या मौलिक रचनाकी कोई शक्ति नहीं ? ५७-८
में अनेक तत्त्व, व्यक्तित्व ७८, ८०, १२६
सचेतन, पहले बनें फिर अहंसे मुक्ति २२९

व्यक्तित्व १४५
के अनुराग ४, १६१
विशाल और क्षुद्र ३५
और प्राणिक जगत् ४८
तुम्हारा सच्चा ६२, १२४, १२५
तुम्हारे, का अर्थ ६२, ११४
तुम्हारा सामान्य, बाहरी १२५, १४१, १४२, १४३
मृत्युके बाद १४०-४२, १४४
और चैत्य सत्ता १४५
पानेमें सहायता, अहंसे २२८
(दे० 'व्यक्ति', 'समर्पण' भी)
व्याख्या
चीजोंकी, विश्व प्रतिबिम्ब . . २८

शंकर [शंकराचार्य] १५५
शक्ति
-योंका प्रदर्शन ८
का उचित उपयोग और अनुचित ८, २२अ
बेकारके प्रयत्नमें, २४९
(दे० 'शोक' भी)
शब्द
-ोंको समझना ६३
एक, जो शांति दे, उन सहस्रों शब्दोंसे . . *२२१, २२४
एकदम आवश्यक बोलना : रोज एक घंटा अभ्यास २५९-६०
-ोंका संयम : परिणाम २६४
(दे० 'वाणी', 'समझना' भी)
*शरण
उत्तम २४६-४७
बुद्ध, धर्म, संघकी २४६
शरीर
और स्नायु बलवान् ११
के व्यापारोंपर वश अधिक कठिन १५
'स्थिर रूपकी आवश्यकता ३६
एक सुरक्षा, एक सुयोग ४६-७, १९०
हमारा संरक्षण कैसे ? ४७-८
को भय-मुक्त करना कठिन ५६
की ग्रहणशीलता सीमित ८३
की जड़ताका विरोध रोगरूपमें ८४; यदि सावधानी रखें . . ८४, ८५
स्वभावतः पीछे खींचता है ८५
'कवच-शरीरके विषयमें ८७
बहुत सहनशील १३३
पर प्राणकी ज्यादती १३३अ
ही अलग व्यक्तित्वका कारण १६१
अब भी पूरी तरह जड़ नहीं १६१अ
को भी उसके व्यक्तित्वको खोये बिना नमनीय बना सकते हैं : आत्माकी सच्ची अभिव्यक्ति १६१-६२
अतिमानसिक : चार गुण १६६
*को मिट्टीका घड़ा समझ २०४
*फेनके जैसा, मरु-मरीचिका जैसा २०६
*ही जब अपना नहीं, २१०
*रोगका घर, भंगुर २३४
(दे० 'जड़तत्त्व', 'मल', 'संयम' भी)
शांति *२५२
उपाय, आक्रमणसे बरतनेका ३३, १४९, १५३

जितनी, शक्ति उतनी ३३
स्थिरता, नीरवता सच्चे कर्मकी
शर्त्त ६६-७
से कवच-शरीरको पोषण ८७
भागवत, सारी सत्तामें : प्रभाव १४९
बनाये रखो, पीछे हट . . . १५३
अनगिनत बार तुम्हें दी जा चुकी
है १५६
(दे० 'अवतार', 'सुख' भी)
शिकायत १३७
छोटी-मोटी १२९, १३३, १३४
शुद्धि
का अर्थ १८२
*बाह्य क्रियाओंसे २३१
*-अशुद्धि प्रत्येककी अलग-अलग
२३८
*का मार्ग २७०-७२
(दे० 'पवित्रता' भी)
शेक्सपियर १०५, १०६
शेली १०५
श्रद्धा ४७, *२८६
भगवान्‌की सहायतामें ३३, ३४
क्या सब कुछ कर सकती है ? ३५-६
मानसिक पर्याप्त नहीं ३५
समग्र, की शक्ति ३५अ, १४६
को डिगाना, अपराध ७७
के सिवा कोई सहारा न हो ८२
की अटलता भावकत संकल्पकी
विजयशीलताका चिह्न ९६
श्रीअरविंदके रूपांतरके महान्
कार्यमें १३७, १५०अ
के बारेमें १४६-४७
का अर्थ 'धम्मपद' में १८०
(दे० 'विश्वास' भी)
*श्रमण [परिव्राजक] २७६
-पनका मार्ग १९२-९३, २३१,
२४५, २६७, २९९
बाहरमें नहीं रहता २६३
ढीला-ढाला २८०
श्रीअरविंद २४४
द्वारा चर्चा दंतरोग-पीड़ित योगी-
की ८८
के रूपांतर-कार्यमें सफलता निश्चित
१३७, १५१
ने केवल 'हां' कहा और . . १३८
के कमरेमें शांति, बाहर तूफान
१४९
का काम : धरतीका रूपांतर १६४
(दे० 'अमरता', 'बुद्ध', 'विश्व',
'श्रद्धा' भी)
श्रीरामकृष्ण परमहंस ४, ११, ६७
श्रीमाताजी
दस वर्षतक कलाकारोंके बीच १०४
बचपनमें छोटीसी बातके लिये
शिकायत करनेपर १२९
जब मांग अस्वीकृत . १२९, १३०
'फूल मेरे प्रभावके प्रति अधिक खुले
हैं १३०
'मेरे पास ताजा फूल लाना १३०
'मैं अतिमानसमें वस्तुओंका रूप
देख रही थी . . . १३८
'जब मैं छोटे बच्चोंको सुन्दर चीज
करते देखती १५२

स

संकल्प [संकल्प-शक्ति, इच्छा-शक्ति]
१८०

का समर्पण १९-२०
अपनी, का प्रयोग दूसरेपर क्यों करने दिया जाता है ? ४५-६
वैयक्तिक, का स्थान ही कहां, यदि व्यक्ति विश्व-संकल्पकी . . ५७
वैयक्तिक, और विश्व-संकल्पका संबंध ५७-६०
*मिथ्या [रागलिप्त] १८२अ, २८८
की शिथिलता २०१, २१७
सम्यक् २४८
संकल्प [निश्चय, समर्पण या सत्प्रयास-का]
पहला कदम २३, १२६
दृढ़, की जरूरत १२७
को झुठला न सकनेके लिये २०५, २२९
(दे० 'भागवत कृपा', 'समर्पण' भी)
संगीत
भी आध्यात्मिक कला है १०९
नाटकका १०९
संगीतज्ञ
बहुतेरे, उच्चतर चेतनाके संस्पर्शमें १०९
संघर्ष
प्राचीन और नवीनका १५६
*संतोष २५२, २८५, २९६
संदेह ६, ५५, ९०, *२९०-९१
उच्चतर जीवनमें १९६, २५७
(दे० 'कामवासना' भी)
संन्यास दे० 'वैराग्य'
संपत्ति [खजाना]
सबसे श्रेष्ठ १९७
(दे० 'दोष' भी)
संभावना
-ओंका खेल निम्न भूमिकापर २८
*संयम [नियंत्रण, दमन]
-हीनता : फल १७९
का फल १८०, १९९, २३७
अपना, जैसे नहरवाले . . . २१५, २३२
अपना, ही कठिन २३७
करनेवाला सबसे श्रेष्ठ २८४
*शरीर, मन, वाणीका २५९, २९३
(दे० 'मन', 'विचार', 'विजय', 'शब्द' भी)
संयोग १५५-५६
*संस्कार २५२
सचेतनता
पहली चीज, योगके लिये २, २०
स्वप्नोंसे १५
पहले, फिर अधिकार १५
मूलसिद्धांत, कला और योगमें १०२
का अर्थ : प्रभावशाली होना १६०
(दे० 'जागरूकता', 'काम', 'रात्रि', 'व्यक्ति' भी)
सच्चाई [ईमानदारी] १८२, २६५, २८३
का प्रश्न योगमें ४
और समर्पण कसौटीपर ५
की जरूरत : मूलको जानने में ९; सत्य-असत्यको जाननेमें १८३-८५; आध्यात्मिक विजयमें २०६; इच्छाओंसे मुक्तिमें २६९
गुण, सभी देशोंमें एकसमान, बाह्य रूप भिन्न १२
और सहायता दे० 'अभीप्सा'
*भीतरी, और बाहरी क्रियाएं या

वेश २३१, २६७, ३०० (दे० 'दिखावा', 'तादात्म्य' भी)
सच्ची २८७ (दे० 'अच्छा' भी)
(दे० 'निष्ठा', 'सत्यनिष्ठा', 'ध्यान' भी)
*सत्पुरुष [साधु, सदाचारी]
वह है जो २१५, २६६अ
का अभिवादन २२३
का एक दिनका जीवन २२३
का धर्म जराको प्राप्त नहीं २३४
का दर्शन, संगति २५२
की कठिनाइयां २६२
(दे० 'पुण्यात्मा' भी)
सत्य
एक ही, रूप अनेक १७अ (दे० 'सच्चाई' गुण भी)
का दर्शन असह्य ७७
के किसी विशेष रूपको एकमात्र सत्य कहना ७७, ८०
आध्यात्मिक, और धर्म ८१-२
को वास्तविक रूप देनेकी शक्ति १३८
व सुन्दरको मान्यता देना १५१
वैज्ञानिक और जड़वादीकी दृष्टिमें १५३-५४, १९६
की विजय युद्धके बिना संभव नहीं १५६, १६२-६३
को असत्यसे अलग करके जानना १८३-८५, २४४
-प्राप्त व्यक्तिसे सहायता १८४
के पक्षमें रहनेके लिये २२८
चार आर्य *२४७, २४८, *२७०
में जीना २५३, २७४
-मार्गपर दुर्भावनाओंके आक्रमण २८६-८७
सत्यनिष्ठा
का अर्थ १८२
पूरी, कठिन २२८
*सदाचार की सुगंध २०८
सद्भावना २४८, २४९
-द्वारा दुःखोंसे मुक्ति २९७
सभ्यता
-एं प्राचीन ३९
का असली अर्थ १३४
आधुनिक १९६
समझना
अतिभौतिक गतियोंको बुद्धिके द्वारा ४०, ६३
एक-दूसरेके विचारोंको ४९, ६३-५
कही गयी बातको ४९, ५१
'समझ तुम वही सकते हो जिसका तुम्हें पहलेसे ज्ञान हो ५०-१
(दे० 'जानना' भी)
समझौता १२८
समता [समचित्तता] ८७, *२९९
पहचान, भगवान्‌के साथ संपर्ककी १०
योगका अनिवार्य आधार ३३, ५२, ९८अ
की वही मुस्कान, चीजोंको लेते और छोड़ते समय ५३, ५४, २५३
भोजनके प्रति १२३
(दे० 'शांति', 'काम', 'ब्राह्मसत्ता' भी)
संयम
आत्म-निवेदनमें कितना १२७
आ गया है ऊपर उठनेका १९८

और शक्तिका अपव्यय २०१-२, संपूर्ण, करनेवालेको क्या कुछ और भी करना होता है? ३१४
खाली, का उपयोग २४९-५०
गंवानेके प्रति जब जागते हो २४९, २५०
(दे० 'काल', 'योग' भी)
समर्पण [आत्मदान] २६, ६२
का मार्ग ४
का अर्थ ४, १९, ११२, १२५, १६१.
को सच्चाईके साथ अपना लो तो कोई गंभीर कठिनाई, भय नहीं रहता ४
का अर्थ बाधारहित सरल प्रगति नहीं ६
-मार्गमें तपस्याका स्थान १८अ
निष्क्रिय और सक्रिय १९
छोटी-से-छोटी क्रियामें भी २२-५, ३१४
संपूर्ण रूपसे करो ८०, २७०
-भावसे समस्त कार्य ९५
और बलिदान ११२
का फल ११३, ११४-१५, १२३अ
से इंकार : फल ११३-१४, १५६
में व्यक्तित्व खोते नहीं, दिव्य व्यक्ति बनते हो ११४, १६१
करनेपर जो होता है अच्छे-से-अच्छेके लिये होता है १२३; पर जबतक यह चैत्य न हो, गड़बड़ी . . १२४
और आत्मनिवेदन १२५-२७
नहीं तो योगका प्रश्न ही नहीं १२५
का निश्चय कई द्वारोंसे १२५
से मनको पूरी शांति १३१
में सबसे बड़ी बाधा १६१-६३
सभी क्रियाओंका, अर्घ्य रूपमें २५६
(दे० 'यंत्र', भी)
समाधि सम्यक् २४९
सम्यक्दृष्टि २४८
सम्यगाजीव २४९
सम्यग्व्यायाम २४९
सरलता प्राचीन २३२-३३
सर्वशक्तिमत्ता १२३
सहनशीलता १३७, *२८५, २८६
के बारेमें १३३-३४
सहयोग
रूपांतर-कार्यमें १२४, १४९, १५०
भगवान्के साथ १६३
सहायता दे० 'अभीप्सा', 'पुकार'
साधक (दिव्य जीवनके)
-ों, कुछ, को कहते हैं 'मत खींचो' ११, ८५
का मार्ग २६अ
के करने लायक दे० 'काम'
(दे० 'अवसाद', 'योग' भी)
सापेक्षता
का भाव धर्म, देश, समाजके प्रति ७९, ८०
का भाव वस्तुओंके प्रति १५३
सापेक्षतावाद ९०, ९२
सामंजस्य
और सौंदर्यकी अभिव्यक्ति १०६अ
का, मनसे ऊपर, एक लोक ११०-११; समस्त कला-रचनाका यही मूल १११; इसकी अभिव्यक्तिके प्रति पहलेवालोंकी उदासीनता १११
सच्चा : अतिमानसिक १५५

*सार-असार १८२ख, १८४
सिद्धि
  का अर्थ १६८
  सच्ची, स्थायी २७८
सीजर फ्रैंक १०९
सुख
  -शांतिका उत्तम साधन १३१, १८९
  *की खोज १७९, २८९
  *-दुःखमें अविकारी २१५
  *चाहना दूसरेको दुःख देकर २२९, २७५
  *सबसे बड़ा २५२
  *विपुल, के लिये थोड़े सुखका त्याग २७५
  *देनेवाली चीजें २८५, २८६
    (दे० 'आनंद', 'जगत्' भी)
सुनना
  शब्दोंके पीछे नीरवतामें ५१, ६३
सुरक्षा [संरक्षण] १२३
  का साधन ४७, १५२
  हानिकर वस्तुओंसे ९९, १००
    (दे० 'योग-मार्ग', 'विनाश' भी)
सूर्य १२, १३०, १४३, ३११
सोचना
  किसी व्यक्तिके बारेमें १५७
  भगवान्‌के, न कि अपने बारेमें २५६, २७०
    (दे० 'आनंद' भी)
*स्कंध पांच २९५
*स्थविर वह है जो २६६
स्पंदन
  क्रोधके १५३, १५९
  के बारेमें जानकारी १५९
स्मरण
  ऊबसे बचनेका उपाय २५०
    (दे० 'मंत्र' भी)
स्मृति
  पहले ऊपर पहुंच चुके होनेकी २५
  भगवान्‌की, बनाये रखनेका उपाय २६
  सम्यक् २४९
  *काय-विषयक २७६, २७७
  *बुद्ध, धर्म, संघ-विषयक २७६
  (दे० 'पूर्वजन्म', 'पृथ्वी', 'मन' भी)
*स्रोत
  -आपत्तिका फल २४३
  छत्तीस २८८
स्वच्छता और स्वास्थ्य ५५-६
स्वतंत्रता [स्वाधीनता]
  'सर्वथा स्वतंत्र' ९, १०
  का मान २९
  और नियतिवाद २९-३१, ५७-६०
  दायित्वसे १३१, १६७
  भूतकालसे दे० 'भूत'
  वस्तुओंकी प्राप्ति-अप्राप्तिसे २५३
  परिस्थितियोंके बीच २७९
    (दे० 'मुक्ति' भी)
स्वप्न
  -ोंकी व्याख्या १४
  -ोंके साथ व्यवहार १४-५
  -रहित निद्रा १६
  में कुछ ऐसे लोगोंसे भेंट जिनसे परिचय बादमें १६
  डरावने ४६, ४७, १५८
  -लोकमें विचरण : प्राणिक सत्ताओंसे व्यवहार १५७-५८
  -ोंकी स्मृति क्यों नहीं रहती? ३१३

(दे० 'अंतर्दर्शन', 'सचेतनता' भी)
स्वर्ग
और नरक बौद्ध धर्ममें १९१, १९३
*को वे जाते हैं २२७, २४२
स्वार्थपरता १३९, २३८-३९

ह

हंसना
शत्रुके मुंहपर १३६
हठयोग २१
हृदय
की गहराईमें तुम सबके साथ एक हो १२

सूची

प्रश्न और उत्तर १९२९

७ अप्रैल

योग : भगवान्के लिये ... १
एकाग्रता ... १
योगके लिये तैयारियां : सचेतन होना ... २
योग और मानवजाति ... २
हम सब पूर्वजन्मोंमें मिल चुके हैं ... ३

१४ अप्रैल

योगके खतरे ... ३
दो मार्ग : तपस्या और समर्पण ... ४
आवेग, इच्छाएं और योग ... ५
कठिनाइयां ... ६
चैत्य पुरुषके चारों ओर ऐक्य ... ७
महत्त्वाकांक्षा : अनेक योगियोंके विनाशका कारण ... ७
शक्तियोंका दुरुपयोग और उचित उपयोग ... ८
भागवत संकल्पको कैसे पहचानें ... ८
प्राणिक भक्ति ... ११
सबल मन और स्नायुओंकी आवश्यकता ... ११
आन्तरिक सत्ता : अविकारी ... १२

२१ अप्रैल

अन्तर्दर्शन : देखना और व्याख्या करना ... १३
स्वप्न और स्वप्नलोक ... १४
स्वप्नरहित निद्रा ... १६
अन्तर्दर्शन और नाम-रूप ... १६
समर्पण : निष्क्रिय और संकल्पित ... १८
ध्यान और प्रगति ... २०
आध्यात्मिक जीवनमें प्रवेश : भगवान्में गोता ... २१

२८ अप्रैल

निवेदन : सामान्य और ब्यौरेवार ... २२
पूर्णयोग ... २३

भगवान्‌की स्मृति ... २५
पढ़ना और योग ... २७
आवश्यकता और पूर्वनिश्चितता घटनाकी ... २८
स्वतंत्रता ... २९
चमत्कार ... ३१
सृष्टिका लक्ष्य ... ३१

५ मई

बुद्धि : सही और गलत क्रिया ... ३२
विरोधी शक्तियोंके आक्रमण ... ३३
श्रद्धा : सर्वांगपूर्ण और निरपेक्ष ... ३५
मृत्यु : आवश्यकता नहीं है ... ३६
भागवत चेतनाका अवतरण ... ३७
आन्तरिक प्रगति ... ३९
पूर्वजन्मोंकी स्मृति ... ४०

१२ मई

प्राण-लोककी सत्ताएं (पिशाच सत्ताएं) ... ४१
मन-शक्ति और प्राणिक सत्ताएं ... ४४
संकल्प-शक्तिकी अभिव्यक्तिकी क्षमता ... ४५
प्राणमय जगत्‌में प्रवेश ... ४६
शरीर : एक रक्षा-कवच ... ४६
व्यक्तित्व और प्राणमय जगत् ... ४८

१९ मई

मन और उसके कार्य कलाप; विचार-रूप ... ४८
योग और विरोधी अवस्थाएं ... ५१
मानसिक संरचनाएं ... ५२
रोग और योग ... ५४

२६ मई

व्यक्ति; पृथक्ताका भ्रम ... ५७
विरोधी शक्तियां और मनोमय भूमिका ... ६०
चैत्य जगत्; चैत्य पुरुष ... ६१
अध्यात्म और चैत्य ... ६३
शब्द; कही गयी बातको समझना या पुस्तक पढ़ना ... ६३
विरोधी शक्तियां, उनकी उपयोगिता ... ६५
कर्मका भ्रम; सच्चा कर्म ... ६६

२ जून

भागवत प्रेम और उसकी अभिव्यक्ति ... ६७
भागवत प्रेमके आविर्भावमें हमारी प्राणमय सत्ताका भाग ... ७१

९ जून

धर्मका स्वरूप ... ७४
धर्म और आध्यात्मिक जीवन ... ७६
भागवत सत्य और शक्तिका अवतरण ... ७७
अपने धर्म, देश, परिवारके लिये निश्चित होनेके लिये उसे स्वयं चुनो ... ७९
धर्म और अनुयायियोंकी संख्या ... ८१

१६ जून

रोग और योग ... ८२
सूक्ष्म शरीर (नाड़ी-कवच) ... ८७
भय और रोग ... ८९

२३ जून

योगीका ज्ञान ... ९०
ज्ञान और अतिमानस ... ९२
शारीरिक अवस्थाको परिवर्तित करनेके उपाय ... ९४
ध्यान; अभीप्सा; सच्चाई ... ९६

३० जून

कुछ जन्तुओंसे नैसर्गिक हटाव ... ९८
बुराइयोंका मूल; आकार-निर्माता ... १००
हमारा भौतिक जगत् ... १००

२८ जुलाई

कला और योग ... १०१
कला और जीवन ... १०६
संगीत; नृत्य ... १०९
सामंजस्यका लोक ... ११०

४ अगस्त

समर्पण और बलिदान ... ११२
व्यक्तित्व और समर्पण ... ११४
कामना और आवेग ... ११५
आध्यात्मिकता और नैतिकता ... ११६

प्रश्न और उत्तर १९३०-३१

सामान्य जीवन और सच्ची अन्तरात्मा ... १२३
समर्पण, स्वार्पण और आत्म-निवेदन ... १२५
त्याग ... १२७
भौतिकमें भागवत प्रेमके लिये अभीप्सा ... १२८
पौधोंमें अभीप्सा ... १३०
भागवत चेतना और इच्छाके साथ ऐक्य ... १३१
सहनशीलता — प्रशंसाके लिये प्राणकी भूख — परिवर्तित प्राणके चिह्न ... १३३
असत्यपर विजय ... १३७
योगमें कठिनाइयां ... १३९
प्राणका परिवर्तन — पुनर्जन्म और व्यक्तिगत उत्तरजीविता ... १४०
पुनरुज्जीवन ... १४२
पुनर्जन्म — पिछले जीवनोंकी याद ... १४३
चैत्य उपस्थिति और चैत्य सत्ता — जातीय श्रेष्ठताका वास्तविक मूल ... १४४
श्रद्धा ... १४६
उचित अभिवृत्तिकी शक्ति ... १४८
कल्पनाकी शक्ति ... १४९
निष्काम प्रशंसा ... १५१
पीछे हटना ... १५२
वैज्ञानिक और योगीका ज्ञान ... १५३
संयोग ... १५५
देश और कालके कई प्रकार — प्राणिक जगत्पर निर्भयता ... १५७
भगवान्‌के साथ एकताके द्वारा ज्ञान — जगत्‌में भागवत संकल्प ... १५९
अतिमानस और अधिमानस ... १६४
सच्ची नम्रता — अतिमानसिक नमनीयता — आध्यात्मिक पुनर्जन्म ... १६५
अतिमानसिक उपलब्धि ... १६७
अतिमानसिक अवतरण ... १६९

धम्मपदं

१ यमकवग्गो (जुड़वां) ... १७३
२ अप्पमादवग्गो (जागरूकता) ... १९४
३ चित्तवग्गो (चित्त) ... २०३
४ पुप्फवग्गो (पुष्प) ... २०६
५ बालवग्गो (मूढ़) ... २१०
६ पण्डितवग्गो (पण्डित) ... २१४
७ अर्हन्तवग्गो (निपुण) ... २१८
८ सहस्सवग्गो (सहस्र) ... २२१
९ पापवग्गो (पाप) ... २२५
१० दण्डवग्गो (दण्ड) ... २२९
११ जरावग्गो (बुढ़ापा) ... २३३
१२ अत्तवग्गो (अहम्) ... २३६
१३ लोकवग्गो (संसार) ... २४१
१४ बुद्धवग्गो (बुद्ध) ... २४४
१५ सुखवग्गो (सुख) ... २५१
१६ पियवग्गो (प्रिय) ... २५४
१७ कोधवग्गो (क्रोध) ... २५७
१८ मलवग्गो (मैल) ... २६०
१९ धम्मट्ठवग्गो (धर्मिष्ठ) ... २६५
२० मग्गवग्गो (मार्ग) ... २७०
२१ पकिण्णकवग्गो (प्रकीर्ण) ... २७५
२२ निरयवग्गो (नरक) ... २७९
२३ नागवग्गो (हाथी) ... २८३
२४ तण्हावग्गो (तृष्णा) ... २८७
२५ भिक्खुवग्गो (भिक्षु) ... २९३
२६ ब्राह्मणवग्गो (ब्राह्मण) ... २९८

'प्रश्न और उत्तर १९२९' का परिशिष्ट
(श्रीअरविंदके उत्तर) ... ३०७

अनुक्रमणिका ... ३२३

सूची ... ३६१